मेरी टाइलर

भारतीय जेलों में पाँच साल

भारतीय जेलों में पाँच साल

भारतीय जेलों में पाँच साल

मेरी टाइलर

रूपान्तर : आनन्दस्वरूप वर्मा

रेखांकन : दिलीप राय

राधाकृष्ण

Trarslation of 'My Years In An Indian Prison' by
Mary Tyler (Victor Gollancz Ltd., London, 1977)

प्रथम संस्करण

जुलाई, १९७७
द्वितीय आवृत्ति
सितम्बर, १९७७

मूल्य

पेपरबैक संस्करण : १४ रुपये
पुस्तकालय संस्करण : २० रुपये

आवरण सज्जा

सुकुमार शंकर

प्रकाशक

राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

मुद्रक
प्रिंस आफ़सेट प्रिंटर्स,
नई दिल्ली-११०००२

धर्तिगना, प्रकाश तथा जेल के उन तमाम प्यारे बच्चों के लिए जो, आशा है कि, एक उज्ज्वल भविष्य देखने के लिए जीवित रहेंगे। भारत तथा अन्य देशों के उन तमाम लोगों के लिए जो एक महान उद्देश्य की खातिर जेलों में बंद हैं। अंत में, उन प्रियजनों के लिए जिन्होंने मेरे जेल-जीवन के लम्बे वर्षों के दौरान मुझ पर विश्वास किया और मेरी मदद की और जिनकी संख्या इतनी ज्यादा है कि उन सबके नामों का उल्लेख यहाँ संभव नहीं हो सका।

लन्दन, मार्च १९७७ मेरी टाइलर

अनुक्रम

रेखांकनों का अनुक्रम

हिन्दी संस्करण के लिए लेखिका का विशेष संदेश

यह सोचकर मैं गर्व का अनुभव कर रही हूँ कि राधाकृष्ण ने मेरी इस पुस्तक को हिन्दी में प्रकाशित करने और इस प्रकार भारत के व्यापकतर जनसमुदाय तक पहुँचाने के योग्य समझा। इस पुस्तक में मैंने जो कुछ लिखा है वह भारतीय पाठकों को काफ़ी हद तक जाना-पहचाना लगेगा क्योंकि इसमें मैंने महज़ अपने अनुभवों का लेखा-जोखा पेश किया है और वह भी ख़ासतौर से ब्रिटिश पाठकों के लिए जिन्हें भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप की जो भी जानकारी है, वह ना के बराबर है।

मेरी इस पुस्तक का उद्देश्य न तो कोई राजनीतिक या सामाजिक शोध प्रस्तुत करना है और न मैं इसे अपना अधिकार या कर्तव्य समझती हूँ कि भारतीय जनता के लिए कोई ऐसे क़ानून अथवा विधि-उल्लेखों द्वारा मार्ग-प्रदर्शन करूँ जिसके आधार पर वे अपने देश की समस्याएँ हल करें। मैं किसी तरह की विशेषज्ञ होने का दावा नहीं करती और खुद को इस लायक़ नहीं समझती कि भारतीय समाज का गहराई से विश्लेषण प्रस्तुत करूँ। मैंने जो कुछ लिखा है वह आपबीती घटनाओं का ब्यौरा है तथा उन लोगों द्वारा बतायी गयी बातें हैं जिनके साथ भारत में मुझे रहने का तथा जिनसे मिलने का अवसर मिला।

फिर भी मुझे आशा है कि मेरी पुस्तक से यह समझने में थोड़ी मदद ज़रूर मिलेगी कि पिछली सरकार के दमन के शिकार लोगों के साथ सातवें दशक के पूर्वार्द्ध में दरअसल कैसा सुलूक किया जा रहा था। सरकारी दमन के शिकार इन लोगों में केवल उन्हें ही नहीं जिन्हें 'नक्सलवादी' कहा जाता है, बल्कि भारत के ग़रीब किसानों और मज़दूरों को भी शामिल किया जाना चाहिए जिन्हें मैं बिहार की जेलों में जान सकी, जहाँ मैंने पाँच साल बिताये। इस स्थिति की विज्ञता को बढ़ा करके यदि मैं एक बेहतर, न्याय पर आधारित तथा सही अर्थों में स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिए जारी संघर्ष में किसी भी तरह की मदद पहुँचा सकी तो यह मेरे लिए संतोष की बात होगी।

व्यक्तिगत तौर पर मेरे तथा पिछली सरकार द्वारा 'नक्सलवादी' कहे जाने वाले लोगों पर थोपे गये तमाम झूठे आरोपों और गाली-गलौज के बावजूद, मैंने भारत की शोषित-पीड़ित जनता की खुशहाली के सिवाय और कुछ भी नहीं चाहा और न तो कभी उनके हितों के ख़िलाफ़ काम किया। उन्होंने खुद भी इसे महसूस किया; जेल के अंदर और जेल के बाहर भारत की साधारण जनता ने मुझे जो प्यार दिया और मेरी जितनी देखभाल की वह इस बात का सबूत है। जिनके

व्यक्तिगत स्वार्थ भारत के व्यापक बहुमत के हितों के विपरीत हैं, केवल वही इसे नहीं महसूस करते थे और वे आज भी इसे नहीं महसूस करना चाहते।

मैं चाहूँगी कि मेरी यह पुस्तक, और खास तौर से इसका हिन्दी संस्करण, बिहार की उन बहादुर और दृढ़-संकल्प स्त्रियों के प्रति एक श्रद्धांजलि, सम्मान और प्यार की अभिव्यक्ति हो जिनसे मेरा परिचय हुआ और जिन्होंने मेरे जेल-जीवन के दौरान मुझे बहुत-कुछ सिखलाया। साथ ही यह उन सभी वीर और साहसी लोगों के प्रति एक श्रद्धांजलि है जिन्होंने अपने निजी स्वार्थों को तिलांजलि देकर भारत की सही मुक्ति के लिए अपने को बलिदान कर दिया।

मैं अपने प्रकाशक राधाकृष्ण को धन्यवाद देती हूँ और उन सभी लोगों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे प्रति सहानुभूति दिखलायी, मेरी सराहना की अथवा मेरी मदद करने की इच्छा व्यक्त की। उन सभी साथियों को मैं अपनी शुभकामनाएँ और संदेश भेजती हूँ जिन्होंने अत्यन्त कठिन दिनों में मेरी सहायता की। इसके साथ ही हर तरह के अत्याचार के खिलाफ़ संघर्ष कर रही भारतीय जनता का अभिवादन करती हूँ। अन्त में, मैं उत्पीड़न और अन्याय से मुक्ति पाने के संघर्ष में रत भारतीय जनता को अपना अनवरत समर्थन प्रस्तुत करती हूँ।

ब्रिटेन के अपने उन साथियों की ओर से, जो भारत में सभी राजनीतिक बंदियों की रिहाई के, सही अर्थों में जनतांत्रिक अधिकारों की स्थापना के तथा आपात्कालीन अधिकारों और निरोधक नज़रबंदी क़ानूनों को पूरी तरह समाप्त करने के अभियान में सक्रिय हैं। मैं एक बार फिर उन सब भारतीयों को अपना समर्थन भेजती हूँ जो इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हमारी तरह ही क्षुब्ध हैं।

मेरी टाइलर

लेखिका के दो शब्द

नक्सलवादी आंदोलन

'नक्सलवादी' शब्द की उत्पत्ति उत्तरी बंगाल के सिलीगुड़ी जिले में स्थित नक्सलबाड़ी नामक गाँव से हुई है जहाँ १९६७ के बसंत में वहाँ के बड़े जमींदारों और सूदखोरों के खिलाफ़ किसानों ने सशस्त्र विद्रोह कर दिया था। इस विद्रोह का नेतृत्व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की जिला समिति के सदस्यों ने किया था। उन दिनों यह पार्टी पश्चिम बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार में प्रमुख साझेदार थी। इस विद्रोह का अंतिम लक्ष्य राजसत्ता पर कब्ज़ा करना था। इस बात की कोशिशें की गयीं कि गाँवों में सत्ता के समूचे ढाँचे को नष्ट करके उसके स्थान पर किसान समितियाँ क़ायम की जायें। जमींदारों तथा सूदखोरों के साथ अनुचित कर्ज़ और गिरवी से संबंधित समझौतों के कागज़ात नष्ट कर दिये गये और इलाके के ७० प्रतिशत गरीब तथा भूमिहीन किसानों के बीच उस ज़मीन को फिर से बाँटने की दिशा में कदम उठाये गये जिस पर जोतने वालों की कोई मिल्कियत नहीं थी।

इस पुस्तक का उद्देश्य 'नक्सलवादी' आंदोलन के बारे में विस्तार से बताने या बाद के वर्षों में हुए विकास के विश्लेषण का प्रयास करना नहीं है। नक्सलबाड़ी विद्रोह के सबसे महत्त्वपूर्ण नतीजे थे—भारत के अन्य भागों में इसी तरह के किसान संघर्षों का तेज़ी से प्रसार, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) में फूट जिसके नेतृत्व वर्ग ने नक्सलबाड़ी तरीके का ज़बर्दस्त विरोध किया था और १९६९ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की स्थापना जिसने आंदोलन को आगे बढ़ाया हालाँकि 'नक्सलवादी' के नाम से जाने जा रहे लोगों में से अधिकांश कभी पार्टी में नहीं थे। १९७०-७१ में 'नक्सलवादियों' को भारी नुकसान उठाने पड़े जिसका कारण—मेरे खयाल से—कुछ हद तक तो विभिन्न राजनीतिक गलतियाँ हैं और कुछ हद तक वह क्रूर और ज़बर्दस्त अभियान है जिसे भारत सरकार ने इनके विरुद्ध निरंतर जारी रखा।

भारत में, लोगों का ऐसा कोई भी गुट नहीं है जो अपने आपको 'नक्सलवादी' कहता हो। इस शब्द का इस्तेमाल आंदोलन के समर्थकों को अपमानजनक ढंग से चित्रित करने के लिए विरोधियों द्वारा किया जाता था। बाद में इसका इस्तेमाल और लोग भी उसी तरह करने लगे जिस तरह मैंने इस पुस्तक में किया है। अर्थात् इसका इस्तेमाल एक खास राजनीतिक धारा का समर्थन करने और उससे

हमदर्दी रखने वालों का वर्णन करने के लिए किया जाने लगा जो फिलहाल किसी एक संगठित गुट के रूप में नहीं हैं। मोटे तौर पर नक्सलवादी लोग १९४७ की आजादी को झूठी आजादी मानते हैं और सत्तारूढ़ कांग्रेस दल को जमींदारों और दलाल बुर्जुवा वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी मानते हैं। वे मानते हैं कि भारत एक अर्द्ध-औपनिवेशिक और अर्द्ध-सामंती देश है जिसे चीन और वियतनाम की तरह दीर्घकालिक सशस्त्र संघर्ष के ज़रिए ही सही आज़ादी मिल सकती है। उनका कहना है कि इस संघर्ष का उद्देश्य सही अर्थों में जनता की लोकशाही क़ायम करना है जिसका सारतत्व कृषि-क्रांति है और इसलिए संघर्ष का पहला चरण सामंतवाद का सफ़ाया करना है।

जहाँ तक मेरी बात है, मैं नक्सलवादी आंदोलन के बारे में किसी व्यापक जानकारी का दावा नहीं कर सकती; मैं जो कुछ जान सकी हूँ, उसका एक काफ़ी बड़ा हिस्सा मैंने जेल में रहकर ही जाना है। जिन नक्सलवादियों के संपर्क में मैं आयी उनकी निष्ठा और ईमानदारी ने, भारतीय जनता की खुशहाली के लिए उनकी सच्ची चिंता ने, उनकी देशभक्ति ने और आत्मबलिदान के लिए हमेशा तैयार रहने वाली प्रवृत्ति ने मुझे बेहद प्रभावित किया। मैंने जेल के कर्मचारियों और क़ैदियों को समान रूप से उनकी प्रशंसा करते सुना—वे उनके साहस, व्यापक भ्रष्टाचार के प्रति उनके प्रतिरोध, निःस्वार्थता और बेहद दलित, पीड़ित तबके के साथ भी पूरी तरह घुल-मिल जाने की उनकी क्षमता की प्रशंसा करते थे। सरकार के ज़बर्दस्त दमन के बावजूद नक्सलवादी आंदोलन का बने रहना ही इस बात का संकेत है कि भारतीय जनता की आवश्यकताओं के संदर्भ में इस राजनीति का कितना ज़्यादा औचित्य है। भारत के संसदीय जनतंत्र को उन्होंने एक धोखा कहकर नामंजूर किया, और २६ जून १९७५ की घटनाओं ने तथा अब संसदीय प्रणाली द्वारा किसी कारगर रूप में काम कर सकने में विपक्षी दलों की पूर्ण असमर्थता ने इसे साबित कर दिखाया है। 'आंतरिक आपात स्थिति' की घोषणा के कुछ ही दिनों बाद कांग्रेस सरकार ने सभी नक्सलवादी गुटों पर आधिकारिक रूप से प्रतिबंध लगा दिया। लेकिन वे काफ़ी पहले से गुप्त संगठन के रूप में कार्य करने के आदी थे इसलिए वे पहले की तरह काम करते रहे। अंततः समय ही बता पायेगा कि भारत की समस्याओं के समाधान के लिए नक्सलवादी कोई राजनीतिक नेतृत्व दे सकेंगे या नहीं।

मैं इस बात पर फिर ज़ोर देना चाहूँगी कि इस पुस्तक में प्रयुक्त 'नक्सलवादी' शब्द को किसी भी रूप में अपमानजनक अर्थ से न जोड़ा जाय।

भारत में अभी भी जो नक्सलवादी लोग सरकार की गिरफ़्त में नहीं हैं उनके बचाव को ध्यान में रखकर फिलहाल कई बातें अनकही रहने दे रही हूँ। इन्हीं कारणों से मैंने कुछ नामों को बदल दिया है और घटनाओं के स्थान आदि में तबदीली कर दी है। मुझे उम्मीद है कि एक दिन, जब भारत आज की अपेक्षा एक बेहतर देश हो गया होगा तब समूची कहानी बतायी जा सकेगी। जिन लोगों ने मेरी मदद की और जिनका मैंने यहाँ उल्लेख नहीं किया वे जानते हैं कि ऐसा क्यों हुआ, इसलिए वे मुझे क्षमा कर देंगे। मुझे आशा है कि मेरे पाठक भी मुझे क्षमा करेंगे।

भारतीय जेलों में पाँच साल
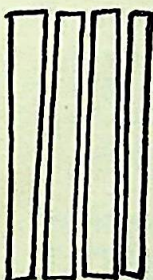
नक्सलवादी

जून १९७०। बिहार के हज़ारीबाग सेंट्रल जेल की मेरी कोठरी में एक मेज़ लाकर रख दी गयी है। मेज़ के एक तरफ़ मैं बैठी हूँ और दूसरी तरफ़ ठीक मेरे सामने पुलिस के छः या सात अधिकारी सादी वर्दी में बैठे हैं। उनमें से कुछ मेरी ओर झुकते हैं और हठपूर्वक आरोप लगाना आरंभ करते हैं। उनके और मेरे चेहरे के बीच मुश्किल से एक फ़ुट का फ़ासला है। शेष आराम से पीठ टिकाये बैठे हैं। वे ऊपर से काफ़ी निश्चित और सदय दिख रहे हैं और ऐसा लगता है जैसे अपने शिकार से संतुष्ट होकर धूप खा रहे हों; लेकिन उनकी आँखें मुझ पर लगातार टिकी हैं। इनमें जो सबसे छोटा है वह मुझसे सवाल किये जा रहा है। उसकी छोटी लाल आँखें उसके ऐयाश मांसल चेहरे में धँसी हुई हैं। चेहरे पर रूखेपन और कड़वाहट की झलक है, पर पूछताछ की प्रक्रिया में नियमित रूप से लगे होने के कारण उसके चेहरे पर कोई भाव नहीं उभर रहे हैं।

"तुम चीनी हो।"
"नहीं, मैं ब्रिटिश हूँ।"
"मैं कहता हूँ तुम चीनी हो। तुम्हारा पासपोर्ट कहाँ है?"
"कलकत्ता।"
"तुम झूठ बोल रही हो। मेरे पास तुम्हारा पासपोर्ट है। देखोगी?"

उन लोगों ने कलकत्ता में मेरे श्वसुर के घर से मेरे रुपयों-पैसों तथा अन्य सामान के साथ पासपोर्ट भी अपने कब्ज़े में ले लिया है। स्थल-मार्गसे आते समय मैं जिन देशों से गुज़री थी, पासपोर्ट पर उन देशों की मुहरें देखकर वे चक्कर में पड़ गये हैं।

"तुम चीन गयी थीं?"

"नहीं !"
"अफ्रीका ?"
"नहीं !"

कुछ ही दिनों बाद भारत और ब्रिटेन के अखबारों में छपा कि मैं चीन, जापान तथा अनेक अफ्रीकी देशों की यात्रा कर चुकी हूँ। खासतौर से नेपाल और पाकिस्तान की मुहरों ने पूछताछ करने वालों को घबरा दिया।

"तुम चीन से हथियारों की तस्करी करती रही हो ?"
"तुम्हें यहाँ क्रांति को संगठित करने के लिए भेजा गया है।"

एक तथाकथित राष्ट्रवादी ने तो और भी दूर की सोच ली !

"हमने ब्रिटिश राज से छुटकारा पाया। अब तुम हमारे ऊपर फिर से वही शासन लादना चाहती हो !"

बार-बार मैं उनसे अपने पिछले जीवन की एक-एक बात बताती हूँ : अपने पिता का नाम, अपना पता, जिसके यहाँ नौकरी करती थी उसका नाम-पता, अपनी यात्रा का विवरण, छः महीने पहले इंग्लैण्ड से रवाना होने के बाद रास्ते में पड़े उन सारे होटलों का नाम जहाँ मैं ठहरी थी। इसके बाद फिर राजनीतिक पूछताछ का सिलसिला शुरू होता है।

"तुम चीन के बारे में क्या सोचती हो ?"
"मैं उसकी तारीफ़ करती हूँ।"
"चीन हमारा दुश्मन है। क्या तुम उत्तर वियतनाम का समर्थन करती हो ?"
"वियतनामी जनता को बिना किसी विदेशी हस्तक्षेप के अपने भाग्य का निर्णय करने का पूरा अधिकार है।"
"उत्तर कोरिया के बारे में क्या विचार हैं ?"
"इसके बारे में मैं बहुत कम जानती हूँ।"

समाचारपत्रों को उन्होंने बताया कि मैं माओवादी हूँ—एक खतरनाक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी हूँ।

"अमलेन्दु के पास कैसी बन्दूक थी ?"
"उसके पास कोई हथियार नहीं था।"
"तुम फिर झूठ बोल रही हो। उसे फाँसी पर लटकाने के लिए हमारे पास काफ़ी सबूत हैं।"
"शायद हम लोगों को इससे ज़ोर-ज़बर्दस्ती करनी पड़ेगी और तब हम सब सही-सही उगलवा लेंगे।"
"क्या मैं अपने पति से मिल सकती हूँ ? मैं एक वकील बुलाने का इंतज़ाम करना चाहती हूँ।"

"तुम्हारा पति कौन है ? तुम्हारी शादी नहीं हुई है। तुम तो सारे नक्सलवादियों की रखैल हो।"

"और तुम निहायत घिनौने हो, जो ऐसा कह सकते हो।"

"मैं उसकी बदसलूकी के लिए माफ़ी माँगता हूँ। बेशक तुम अपने पति से मिल सकती हो। बस, एक अर्ज़ी लिखकर दे दो।"

दूसरे दिन अखबारों में खबर छपी कि मैंने जेल में अपने 'फ़र्ज़ी' पति के साथ रहने की माँग की है। पांच वर्ष बाद भारत से रवाना होने के समय तक मैंने फिर कभी अमलेन्दु को नहीं देखा।

वे हर ब्यौरे की बार-बार जाँच करते हैं।

"तुम भारत क्यों आयीं ?"

"इस देश को, यहाँ के लोगों को, देखने-समझने।"

"तुम यहाँ रह क्यों गयीं ?"

मैं उन कारणों को कैसे उन्हें समझाती जिनकी वजह से मैं भारत में रह गयी थी ? मानो ये लोग, जो असमर्थनीय के समर्थन में तत्पर हैं, कुछ भी समझने की क्षमता रखते हों !

दिसम्बर १९६९ के प्रारम्भ में मैंने लंदन में अनुवाद-कार्य की नौकरी छोड़ दी थी ताकि स्थल-मार्ग से भारत की छः महीने की यात्रा पर मैं रवाना हो सकूं। मैं इस यात्रा की योजना पहले से बना रही थी और इसके लिए पैसे बचा रही थी। मेरा घर टिलबरी डॉक्स के एसेक्स नामक स्थान में था जहाँ मेरे पिता काम करते थे और जहाँ विभिन्न देशों के जहाज हमेशा आते रहते थे। शायद यही वजह थी कि अपने स्कूल के दिनों से ही मैं दूसरे देशों और वहाँ के लोगों के प्रति काफ़ी आकर्षित थी। अपनी किशोर अवस्था के शुरू के दिनों से मैं अपना जेब-खर्च बचाने लगी थी ताकि गर्मी की छुट्टियाँ किसी दूसरे देश में बिताऊँ। वयस्क होने पर लंदन और जर्मनी के विश्वविद्यालयों में पढ़ते समय मैं पाँचों महाद्वीपों के छात्रों के सम्पर्क में आयी और मुझे यह बोध होने लगा कि दूसरे देशों के लोग हमारे बारे में, हम ब्रिटिश लोगों के बारे में क्या सोचते हैं। मैं यह समझने लगी कि स्कूल के दिनों में हमें जिस 'यशस्वी' साम्राज्यवादी इतिहास के बारे में बताया जाता रहा है वह कुल मिलाकर गौरव की बात नहीं है। मैं यह समझने लगी थी कि ब्रिटेन तथा अन्य औपनिवेशिक देशों द्वारा विदेशों पर प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए जो नीतियाँ अपनायी जाती रही हैं, उन नीतियों का वस्तुतः भारत-जैसे तमाम देशों की वर्तमान गरीबी में बहुत बड़ा योगदान है।

दो वर्षों तक मैंने उत्तरी लंदन के विलसडेन नाम के उपनगर में एक स्कूल में पढ़ाया। इस स्कूल में विभिन्न देशों के छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इन्हीं दिनों जातिगत संबंधों के बारे में मेरी दिलचस्पी पैदा हुई और मैंने अपना खाली समय 'जातिगत भेदभाव के विरुद्ध अभियान' (कम्पेन अगेंस्ट रेशल डिस्क्रिमिनेशन) में बिताया। लगभग इन्हीं दिनों जब मैं एक बार अपनी छुट्टियाँ बिताकर जर्मनी से लौट रही थी, मेरी मुलाक़ात अमलेन्दु सेन से हुई। वह पश्चिम जर्मनी में प्रशिक्षणार्थी इंजीनियर था। ट्रेन में सामान्य बातचीत से शुरू हुआ परिचय धीरे-

धीरे गाढ़ी दोस्ती में बदल गया। इसकी वजह बहुत साफ़ थी—राजनीतिक और सामाजिक मसलों पर हमारा नज़रिया एक था। १९६७ के अंतिम दिनों अमलेन्दु ने अपने घर बंगाल वापस लौटने का फैसला किया। मैंने उसके इस फैसले का सम्मान किया क्योंकि वह योरुप की आरामतलब 'ज़िन्दगी को छोड़कर अपने देश की मदद में हाथ बँटाने के लिए लौट रहा था।

कलकत्ता से वह बराबर मुझे पत्र लिखता रहा और कुछ समय बाद उसने सुझाव दिया कि मैं कुछ दिनों की छुट्टी लेकर भारत आऊँ और स्वयं वहाँ की हालत का जायज़ा लूँ। रहने की कोई दिक्कत नहीं होगी; उसके परिवार के लोग मुझसे मिलकर खुश होंगे। मैंने सोचा कि इस तरह के अवसर को नहीं खोना चाहिए और मैंने बड़े उत्साह से उसके निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। छः महीनों के अन्दर मैंने अपनी यात्रा के लिए पर्याप्त पैसे जुटा लिये।

मेरे माता-पिता अमलेन्दु से एक बार मिल चुके थे, फिर भी इंग्लैण्ड से इतनी दूर किसी देश की लम्बी यात्रा पर जाने के मेरे इरादे से वे उद्विग्न हो उठे। परिवार वालों के साथ हफ़्ते की आखिरी छुट्टियाँ बिताने के बाद जब मैं उनसे विदा होने लगी तो हर बार की तरह हिदायतें देने की बजाय मेरे पिता ने कहा :

"तुम्हें पता है, मेरी, कि तुम्हें शायद वहाँ अनेक भयावह दृश्य देखने को मिलेंगे लेकिन तुम्हें ध्यान रखना है कि, वे तुम्हें ज्यादा प्रभावित न कर पायें; तुम अपने को निरासक्त रखने की कोशिश करना।"

शायद पिता-सुलभ सहज बोध ने उन्हें बता दिया था कि भारत में जिस गरीबी, दुख-दर्द और अमानवीय स्थितियों से मेरा साक्षात्कार होने की आशंका है उससे शायद मैं हमेशा के लिए बदल जाऊँ।

छः सप्ताह बाद, १८ जनवरी, १९७० को टर्की, ईरान, अफगानिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान के स्थल-मार्ग से की गयी दिलचस्प किन्तु साधारण यात्रा के बाद मैं कालका मेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठी थी, जो दिल्ली से कलकत्ता के बीच की हज़ारों मील की दूरी को अपनी तेज़ गति से नाप रही थी। मैं अमलेन्दु से फिर मिलने की घड़ी का इंतज़ार कर रही थी—उससे मिले दो वर्ष बीत गये हैं। मैं सोच रही थी कि वह मेरे साथ दार्जिलिंग और शायद श्रीलंका तक चल सकेगा या नहीं। इस रेल-यात्रा में ही मुझे संकेत मिलने लगा था कि सारा कुछ शायद वैसा नहीं होगा जैसा मैंने सोचा था। नौसेना के एक युवा अफ़सर ने सीट तलाशने में मेरी मदद की थी—वह बीच-बीच में गपशप करने मेरे डिब्बे में आ जाता था। उसने मुझे आगाह किया कि कलकत्ता मारकाट और उथल-पुथल से भरा एक भयानक शहर है—समूचा बंगाल अनियंत्रित हो गया है। जमींदारों के खेतों से किसान लोग फसलें लूट रहे हैं और शहरों में परस्पर विरोधी राजनीतिक दलों ने क़ानून-व्यवस्था अपने हाथ में ले ली है। उसने मुझे सलाह दी कि कलकत्ता में मैं कम-से-कम समय तक रुकूँ।

मैंने लंदन के अखबारों में उत्तरी बंगाल के १९६७ के नक्सलबाड़ी किसान-विद्रोह तथा इसके फलस्वरूप पैदा आंदोलन की खबरें पढ़ी थीं और भारत में क्रांति की संभावनाओं को सोचकर मैं उत्तेजनापूर्ण रोमांच का अनुभव कर रही थी। मैं समझ रही थी कि भारत-जैसे विशाल और घनी आबादी वाले देश में हुआ कोई भी आमूल परिवर्तन विश्व-राजनीति के समूचे ढाँचे को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। युवा अफ़सर की बातों को मैं बिना कोई टिप्पणी किये

पूरी दिलचस्पी के साथ सुन रही थी। मैं उसके समान जमींदारों और उन्हें हो रहे नुकसान के बारे में चिंतित नहीं थी। मैं निराश किसानों और उन असह्य स्थितियों के बारे में सोच रही थी, जिन्होंने उन्हें फसल लूटने के लिए विवश किया होगा।

गंभीर चेतावनी पाने तथा भारत की स्थिति से अपेक्षाकृत परिचित होने के बावजूद मैं कलकत्ता के लिए एक तरह से अप्रस्तुत थी। जर्जर और कोढ़ग्रस्त मानवता से भरे पड़े स्टेशन से पहली बार टैक्सी पर जाते समय राह में मिली हर दीवार पर मैंने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे बेशुमार नारे देखे : राजनीतिक सत्ता का जन्म बन्दूक की नली से होता है। नक्सलबाड़ी-लाल सलाम। चीन का रास्ता — हमारा रास्ता। बिजली के खंभों पर बड़े-बड़े नक्शे टँगे हुए थे जिनमें बंगाल के लगभग हर जिले में चल रही हथियारबंद लड़ाई के विकास को दिखाया गया था।

अमलेन्दु का मकान जिस इलाके में था, वह पूर्वी बंगाल से आये शरणार्थियों की आबादी वाला इलाका था। अमलेन्दु का परिवार भी मूलतः पूर्वी बंगाल का ही रहने वाला था। अपने पड़ोसियों की तरह उन लोगों ने भी १९४७ में भारत और पाकिस्तान के बँटवारे के समय पूर्वी बंगाल छोड़ा था। मैंने शुरू के कुछ दिन बंगाली परिवार की दिनचर्या से परिचित होने में बिताये, मैं असंख्य मित्रों और रिश्तेदारों से मिलती रही और तरह-तरह के स्वादिष्ट व्यंजनों का स्वाद लेती रही। लेकिन अभी ज्यादा समय नहीं बीता था कि मुझे दुकानों के सामने स्पेशल ब्रांच पुलिस के लोग बहुधा घूमते हुए दिखायी पड़ने लगे। अमलेन्दु के मकान के सामने एक छोटा तालाब था, जिसके चारों तरफ़ खजूर के पेड़ थे। स्पेशल ब्रांच पुलिस के लोग इन पेड़ों के आसपास भी घूमते हुए दिखायी देते थे। अमलेन्दु के बड़े भाई ने मेरी किताबों की जांच करके इस बात की तसल्ली कर ली कि कोई भी किताब पीकिंग की छपी हुई नहीं है। चीन के प्रकाशनों को ज़ब्त कर लिया

गया था और अगल-बगल के मकानों में, जिनके यहाँ भी चीन से छपी पुस्तकें मिली थीं, उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया था। बाद में एक पड़ोसी ने मुझे बताया कि उसने अपनी पुश्तैनी तलवार को मकान के पीछे वाले पोखर में फेंक दिया ताकि अगर कभी पुलिस छापा मारे तो उसे खतरनाक हथियार रखने के जुर्म में गिरफ़्तार न कर ले।

जनवरी का महीना चल रहा था लेकिन मौसम में गर्मी आ गयी थी और मैंने महसूस किया कि गर्मी तेज़ होने से पहले ही मुझे दक्षिण की तरफ़ अपनी यात्रा पर निकल जाना चाहिए। मैंने पुरी जाने का फैसला किया जो उड़ीसा में सागर तट पर बसा एक शहर है। कलकत्ता के दर्शनीय स्थलों को कुछ दिनों तक देखने के बाद मैं एक या दो महीने में लौटने का वायदा करके पुरी के लिए रवाना हो गयी। जैसी कि मैंने आशा की थी अमलेन्दु मेरे साथ नहीं चल सका, इसलिए २५ जनवरी को पुरी एक्सप्रेस से मैं अकेले ही अपनी यात्रा पर निकल पड़ी।

अगले दो महीनों के दौरान मैं पुरी से मद्रास, श्रीलंका, बम्बई और काठमाण्डू के चक्कर लगाती रही, आम दिलचस्पी की जगहों को देखती रही, मंदिरों की प्रशंसा करती रही, प्राचीन चट्टानों पर की गयी नक्काशी से आश्चर्यचकित होती रही और समुद्र के किनारे रेत में लेटकर धूप खाती रही। प्राय: मैं दूसरे पर्यटकों के साथ जब बस या कार में भ्रमण के लिए जाती तो हर बार उनसे अपने को असंपृक्त महसूस करती थी। मैं जानती थी कि मैं भारत को उस तरह नहीं देख पा रही हूँ जिस तरह वे लोग देख रहे हैं। कुछ ऐसे दृश्य थे जो किसी भी ऐतिहासिक स्मारक, प्राकृतिक दृश्यावली या प्राद्योगिकीय उपलब्धि की तुलना में कहीं बहुत गहराई तक मुझे प्रभावित कर जाते थे। बनारस में जिस समय मेरे साथ के पर्यटक महाराजा बनारस के महल और स्वर्णमंदिर देखकर हैरान हो रहे थे, मैं उस नोटिस के बारे में सोच रही थी जिसे मैंने सुबह गंगा नदी के किनारे लिखा देखा था : **भिखमंगों, स्नानार्थियों, कोढ़ियों, लाशों आदि की तस्वीर खींचना सख्त मना है।**

आगरा में मैंने ताजमहल की फोटो वैसे ही ली जैसे कोई पर्यटक अपना कर्तव्य निभा रहा हो लेकिन बाद में शहर के बारे में जो चीज़ मुझे सबसे ज़्यादा याद आती रही वह थी, रिक्शा चलाने वाले की दयनीय स्थिति जो गरीबी से मजबूर होकर घंटों मेरे पीछे इस आशा में चक्कर लगाता रहा कि शायद मैं उसे किराये पर ले लूँ जिससे वह अपने परिवार के लिए नमक और रोटी का इंतज़ाम कर सके। पुरी में मैं भगवान जगन्नाथ के पवित्र मंदिर के बाहर खड़ी थी और मंदिर की भव्यता की बजाय सड़क पर दूर तक क़तार में बैठे कोढ़ियों को देखकर हैरान थी। दूसरे शहरों के भी आकर्षण मेरे लिए इस दृश्य के सामने निरर्थक हो गये जब मैंने एक गर्भवती महिला को सड़क पर उपेक्षित पड़ा देखा। एक जगह मैंने देखा कि नाबदान में बह रहे पानी से एक औरत अपने बर्तन धो रही थी। कलकत्ता में मनुष्य की ज़िन्दगी जितनी नारकीय है उतनी शायद ही दुनिया के किसी देश में हो। यहाँ आपको रिक्शा खींचते हुए अधनंगे कंकाल देखने को मिलेंगे जो कीचड़ और मिट्टी में सने नंगे पैर दौड़ते चले जाते हैं।

यह समझना मुश्किल नहीं था कि भारत अब क्यों अधिक दिनों तक यह स्थिति बर्दाश्त नहीं कर सकता और मैं महसूस करने लगी थी कि कलकत्ता में उन शुरू के दिनों में मैंने जो कुछ सुना, वह शीघ्र ही फूट पड़नेवाले ज्वालामुखी की प्रारंभिक गड़गड़ाहट हो सकता था। जैसे-जैसे महीने गुज़रते गये मेरी हैसियत पर्यटक की नहीं रह गयी क्योंकि मेरी दिलचस्पी भिखमंगों, कोढ़ियों, गरीबों और समाज के

दलित पीड़ित लोगों में बढ़ती चली गयी। अंततः भारत का प्राचीन इतिहास और भारत की प्राचीन संस्कृति का मेरे लिए वह अर्थ नहीं रह गया, जो अन्य पर्यटकों के लिए था।

कलकत्ता वापस पहुँचने पर मैंने इस शहर को पहले की तुलना में और भी ज्यादा उथल-पुथल से भरा पाया। संयुक्त मोर्चा सरकार ने इस्तीफ़ा दे दिया था और समूचे बंगाल में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया था। मैं बैंक में अपनी मुद्रा बदलने गयी और वहाँ मैंने देखा कि बैंक के क्लर्क लोग गाँव में सशस्त्र संघर्ष की सही रण-नीति के बारे में बहस कर रहे हैं। शहर के कॉफ़ी हाउसों में छात्रों और बुद्धिजीवियों का जमघट लगा रहता था और वे बड़े जोश में आंध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम के गाँवों में नक्सलवादियों द्वारा स्थापित तीन सौ मुक्त अंचलों के बारे में बातचीत करते थे। इस बात की चर्चा चल रही थी कि जल्दी ही पश्चिम बंगाल में मेदिनीपुर में एक और मुक्त इलाका क़ायम हो जायेगा। स्वयं कलकत्ता में उस समय भी बड़े पैमाने पर संदिग्ध नक्सलवादियों की गिरफ़्तारी हो रही थी।

नक्सलवादी आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखने वाले जिन लोगों से मेरी बातचीत हुई उनमें इस मुद्दे पर सामान्य सहमति थी कि भारत में संघर्ष का बुनियादी उद्देश्य गाँवों में तक़रीबन सामंती स्थितियों में रह रही ७० प्रतिशत से भी अधिक जनता के लिए सामाजिक और भूमि-सम्बन्धी सुधार करने का ही होना चाहिए। फलस्वरूप भारी संख्या में शिक्षित नौजवान गाँव में चले गये ताकि वे कृषि-क्रांति की राजनीति का प्रचार कर सकें और किसानों के संघर्ष में हिस्सा ले सकें। अमलेन्दु के भाई के साथ मैं एक विश्वविद्यालय देखने गयी। मुझे विश्वविद्यालय की दीवारें नारों से भरी दिखायी दीं और विश्वविद्यालय एक भुतहे इमारत-जैसा सुनसान खड़ा था। पूरा जीवन शहरों में बिताने वाले नौजवान अपने घरों, सुख-सुविधाओं और पढ़ाई-लिखाई छोड़कर किसानों के साथ संघर्षपूर्ण जीवन में हिस्सा बँटाने चले गये थे और भारत को एक बेहतर भारत बनाने की ज़बर्दस्त इच्छा के आगे अपनी सारी आरामतलबी को उन्होंने कुर्बान कर दिया था। मैंने देखा कि लोगों के बीच नक्सलवादियों के प्रति बेहद हमदर्दी है और इस हमदर्दी का कारण उनके अंदर परिवर्तन की जबर्दस्त इच्छा का होना तथा मौजूदा सभी संसदीय पार्टियों के प्रति उनका मोह-भंग होना है।

जैसे-जैसे ब्रिटेन लौटने का मेरा समय नज़दीक आता गया मैं अमलेन्दु तथा अन्य लोगों से इस विषय पर विचार-विमर्श करने लगी कि मेरे जैसे लोग जो भारत के बारे में चिंता महसूस करते हैं यहाँ की जनता को किस तरह किसी प्रकार की मदद पहुँचा सकते हैं। एक दिन उसके एक दोस्त ने कहा, "यदि तुम सचमुच किसी तरह की मदद करना चाहती हो तो यहाँ रुक क्यों नहीं जातीं?" यह प्रस्ताव काफ़ी गंभीरता से रखा गया था लेकिन पहले-पहल अव्यावहारिक लगा। इंग्लैण्ड में मेरी नौकरी थी, मेरा मकान था और मेरी प्रतीक्षा कर रहा मेरा परिवार था। लेकिन इसके साथ ही लोगों के उत्पीड़न की चरम-सीमा को देखकर मैं जितना प्रभावित हुई थी उसके बावजूद यदि मैं लंदन की ऐशो-आराम की ज़िन्दगी में वापस लौट जाती हूँ तो यह एक तरह का विश्वासघात होगा। यह एक ऐसी बात होगी गोया मैंने हिन्दुस्तान में कुछ देखा ही नहीं। कई दिनों तक सोचने के बाद मैंने फिलहाल रुकने का फैसला किया। मैंने सोचा कि कम-से-कम तब तक तो मैं रुक ही जाऊँ जब तक भारतीय स्थिति के बारे में मैं थोड़ा और अध्ययन तथा अनुसंधान न कर लूँ।

योरुप में कुछ वर्षों के प्रशिक्षण के बाद अमलेन्दु को एक अच्छी नौकरी मिल रही थी, जिसमें वह काफ़ी अच्छी तनख्वाह पाता और अपेक्षाकृत ठाठ-बाट की ज़िन्दगी बसर करता। लेकिन उसने बहुत साधारण ढंग से जीवन बिताने का फ़ैसला किया और समाज के सबसे ज़्यादा गरीब तबके के लोगों के साथ समय गुज़ारने लगा। विदेश में उसने जो विलासिता और फ़िज़ूलखर्ची देखी थी, उससे अपने देश के लोगों की दुर्दशा के प्रति उसकी चिंता बढ़ गयी थी। वह हमेशा कहा करता था कि जब तक भारत की समूची जनता को पर्याप्त खाना, कपड़ा, रहने के लिए मकान, शिक्षा और चिकित्सा की सुविधा नहीं मिलती तब तक भारत सही अर्थों में आज़ाद नहीं होगा।

कलकत्ता में कुछ सप्ताह एक साथ रहने के बाद उसने अपनी इस सामान्य-सी ज़िन्दगी में साझीदार होने के लिए मुझसे कहा। हम लोगों के बीच पहले से ही जो स्नेह का बंधन था, वह भारतीय जनता के प्रति हमारी परस्पर चिंता से और भी मज़बूत होता गया। हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे; हमारे सिद्धांत और आदर्श एक थे और अमलेन्दु का परिवार मुझे पसंद करता ही था। पहले ही दिन से मैं उसके परिवार में अच्छी तरह घुल-मिल गयी थी और अपने घर-जैसा महसूस कर रही थी। इसके बावजूद इतना बड़ा फैसला लेना बहुत कठिन था। कई दिनों तक मानसिक संघर्ष चलता रहा लेकिन अंत में मैंने महसूस किया कि ब्रिटेन वापस जाने और फिर अमलेन्दु को कभी देख न पाने का खयाल भी कम कष्टप्रद नहीं है। भारत की स्थितियों के संदर्भ में मैंने जब भी उसे देखा यही पाया कि वह आराम और ऐश्वर्य के लोभ के सामने न झुकने के लिए कृतसंकल्प है और उसके इस गुण की मैं हमेशा तारीफ़ करती रही। अंततः मैंने अपना जवाब बता ही दिया और १० अप्रैल १९७० को एक अत्यंत साधारण हिन्दू पद्धति से हम विवाह के सूत्र में बँध गये। हमारे लिए इसका कोई धार्मिक महत्त्व नहीं था, यह अपने इरादों को मूर्त रूप देने का सबसे कम जटिल तरीक़ा था।

इससे कुछ दिन पहले मैं अपने जीवन का सबसे कठोर पत्र लिखने बैठी—मैं अपने माता-पिता को, जो मेरी वापसी की उम्मीद लगाये बैठे थे, सारी स्थिति समझाना चाहती थी। उनका दुखी और निराश होना स्वाभाविक ही था, पर माँ ने लिखा कि वे लोग यही चाहते हैं कि मैं खुश रहूँ और मुझे जो उचित लगे, मैं वही करूँ।

मैंने सोचा कि यदि मुझे भारत में ही बसना है तो मुझे सबसे पहले गाँवों के बारे में और अधिक जानना चाहिए क्योंकि वर्तमान उथल-पुथल के केन्द्र गाँव ही हैं। पत्र-पत्रिकाओं में मैंने देहातों में जारी सामंतवादी प्रभुत्व के बारे में, गरीब किसानों पर जमींदारों और सूदख़ोरों के कभी खत्म न होने वाले कर्ज़ के बारे में, बँधुआ मज़दूरों के बारे में और बड़ी-बड़ी जोतों के मालिक जमींदारों के बारे में जो कभी गाँव में नहीं रहे और जिनके खेत हमेशा बटाईदारों द्वारा जोते गये—पढ़ा था। मैंने महसूस किया कि ग्रामीण भारत के बारे में मुझे बहुत कम जानकारी है। मैंने ऐतिहासिक स्मारकों और महलों को देखा था, विदेशी आगंतुकों को अर्पित शहरों और सागर-तटों को देखा था अत्यधिक आबादी के कारण बनी गंदी बस्तियों और शहरी घनी आबादी वाले इलाकों को देखा था। लेकिन जब तक मैं भारत के ग्रामीण इलाकों से परिचित नहीं होती— जहाँ देश की अधिकांश आबादी रहती है, तब तक मैं भारत को पूरी तरह देखने का दावा नहीं कर सकती। मैंने अमलेन्दु से आग्रह किया कि वह मुझे ऐसे इलाके में ले चले जहाँ मैं खुद गाँव की

हालत को देख सकूं। मई के अंतिम दिनों में हम कलकत्ता से ट्रेन द्वारा रवाना हो चुके थे।

मैं बंगाल और बिहार की सीमा के पास तथा जमशेदपुर से थोड़ी दूर सिंहभूम जिले में अभी कुछ ही दिन रह पायी थी कि मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया। हम लोग मिट्टी और फूस की छाजन से बनी एक छोटी झोंपड़ी में ठहरे थे। यह झोंपड़ी एक गरीब किसान की थी जिससे हमारी मुलाक़ात सबसे नज़दीक वाले बस-स्टाप के रास्ते में हुई थी। यह सबसे नज़दीक वाला बस-स्टाप भी कई मील दूर था। भारत के अधिकांश गाँव काफी दूर-दूर और अलग-अलग हैं। वहाँ न तो कोई होटल है और न गेस्ट-हाउस, लेकिन इन गाँवों के लोग किसी भी अपरिचित का स्वागत करते हैं और उनके पास जो कुछ भी खाने को है उसी को खुशी-खुशी बाँटकर खा लेते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार अतिथि देवता के समान है। इस गाँव में मुख्यतया आदिवासी रहते थे जो खेती के ज़रिए अपना भरण-पोषण करते हैं। गाँव में सूखा पड़ा था और जोती गयी तथा परती पड़ी ज़मीन में फ़र्क कर पाना मुश्किल था सारी ज़मीन सूखी और लगभग बंजर पड़ी थी। हरियाली के नाम पर केवल पुदीना, घासपात तथा जंगली झाड़ियाँ दिखायी देती थीं। गाँव के चारों तरफ़ पेड़ों से ढँकी छोटी पहाड़ियाँ थीं। राज्य की सीमा के एकदम उस पार कुछ ही मील की दूरी पर मेदिनीपुर था जहाँ नक्सलवादियों ने इसी तरह की आबादी के बीच अपनी मोर्चेबंदी कर ली थी। वे सिंहभूम के कुछ हिस्से में भी प्रवेश कर गये थे पर उस गाँव में किसी ने उनके बारे में सुना नहीं था। फिर भी ऊपरी तौर पर गाँव के एकमात्र उस आदमी से, जिसके पास कुछ ज़मीन थी, कहा गया था कि वह गाँव में आने वाले हर नये व्यक्ति के बारे में पुलिस को खबर करे। मेरी मौजूदगी की जानकारी उन्हें हो गयी थी हालाँकि मुझे इसका पता नहीं था।

उस दिन सवेरे अमलेन्दु अपने छोटे भाई के साथ तड़के ही सबसे नज़दीक के कस्बे के लिए रवाना हो गया था। यह कस्बा छः मील की दूरी पर था जहाँ से उन्हें जमशेदपुर के लिए बस पकड़नी थी। चूंकि शाम तक उनका लौट आने का इरादा था इसलिए मैंने गाँव में ही रुके रहने का फैसला किया।

मैं मकान के सामने फूस की छाजन वाले सायबान में बैठी एक बर्तन में हाथ डालकर चावल निकाल रही थी जिसे पकाने के बाद रात भर पानी में डुबो दिया गया था। इसके खट्टे स्वाद के साथ छोटे-छोटे कच्चे प्याज़ का तीखापन भी शामिल था। मेरे चारों ओर औरतें और बच्चे बैठे थे। वे मुझे हैरानी से देख रहे थे। जब भी मैं खाना खाने बैठती थी वे ऐसा ही करते। छुरी-काँटे से खाने का अभ्यस्त होने के नाते हाथ से खाने में जो अनाड़ीपन दिखायी देता था, उसे वे हैरान-से देखते रहते थे। मुंह में चावल को लेकर चबाने में जो मेहनत करनी पड़ी उतने से ही मेरा पेट भर गया और मैंने बर्तन को परे खिसका दिया जबकि उसमें अभी भी तीन-चौथाई चावल बचा था। चावल खाने से मुझे नींद आने लगी और मैं सायबान में पड़े तख्त पर जाकर लेट गयी। अचानक मैंने महसूस किया कि कोई मुझे पकड़कर हिला रहा है और मुझे फ़ौरन मकान छोड़ देने का इशारा कर रहा है। नींद से अलसायी मैं उस दरवाजे की ओर बढ़ी जिधर वह महिला इशारा कर रही थी। जैसे ही मैंने बाहर क़दम रखा, हथियारों से लैस पुलिस के पाँच जवानों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया, रस्सियों से उन्होंने मेरी गर्दन, कलाई और कमर बाँध दी और धकेलते हुए ले जाने लगे। गर्दन पर रस्सी के कस जाने

से साँस लेने में दिक्कत के कारण मैं तेज़ी से उनके पीछे-पीछे बढ़ती जाती ताकि रस्सी ढीली रहे। गाँव से बाहर एक खुली जगह में ले जाकर उन्होंने मुझे एक पेड़ के नीचे बैठा दिया। मैंने अपनी जाँघों और नितम्ब पर लाल चींटियों के काटने से जलन महसूस की। सिर के ऊपर तपता हुआ सूरज था। गर्मी से मुझे चक्कर आ गया। वे अपने अफ़सर का इंतज़ार कर रहे थे जिसे जंगल में स्थित कैम्प से आना था। उन्होंने मुझे खड़ा किया और मेरी तलाशी ली तथा रुपये-पैसे, कलाई-घड़ी, रूमाल, हेयरक्लिप आदि सारी चीज़ें अपने कब्ज़े में ले लीं। जब उनके हाथ मेरे सीने को टटोलने लगे तब गुस्से में मैंने उन्हें झटक दिया और पहली बार उन्हें महसूस हुआ कि सिर पर छोटे बालों और पाँवों में स्लैक्स के बावजूद मैं एक लड़की हूँ। मैं फिर बैठ गयी। उनमें से एक को मेरे ऊपर दया आयी और उसने अपनी बोतल में से मुझे एक घूँट पानी पिलाया तथा मेरे सिर पर कपड़े की एक पट्टी बाँध दी। थोड़ी देर बाद उनका अफ़सर आ गया जो निहायत ही उद्दण्ड था। वह अंग्रेज़ी जानता था। जंगल के बीच चट्टानों और पत्थरों से भरे ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी रास्ते पर हम तक़रीबन घंटे भर तक चलते रहे। मैंने पैर में केवल रबर की सैंडिलें पहन रखी थीं। जल्दी ही मेरे पैर कट गये और खून बहने लगा। धूप की वजह से मुझे चक्कर आ रहा था और चूँकि मेरे हाथ पीछे की तरफ़ बँधे थे इसलिए ऊँची-नीची ज़मीन पर चलते समय हाथ से अपने को संतुलित नहीं कर सकती थी। जब हम गाँव से काफ़ी दूर निकल आये तो उस अफ़सर ने मुझे रुकने को कहा। वह मेरी तलाशी लेना चाहता था। मैंने उसे बताया कि उसके आदमियों ने पहले ही तलाशी ले ली है लेकिन वह अड़ा रहा। उसने ज़ोर देकर कहा कि इस बार वह मेरे सारे कपड़े उतारकर ठीक से तलाशी लेगा। मैंने उसे चेतावनी देते हुए कहा कि मैं एक विदेशी नागरिक हूँ और यदि उसने मुझे छूने की कोशिश की तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ेगा। मेरे इस कथन के पीछे विश्वास की बजाय निराशा का हाथ ज़्यादा था, पर तरकीब काम कर गयी और उसने मुझे अकेला छोड़ दिया।

कैम्प में पुलिस के बड़े अफ़सर कोकाकोला पीते हुए और बिस्कुट खाते हुए इंतज़ार कर रहे थे। उन्होंने मुझसे मेरे साथियों के बारे में पूछा। मेरे यह कहने पर कि मैं कुछ भी नहीं जानती, उन्होंने मुझे जीप में बैठाकर कई मील दूर जादूगोडा नामक गाँव में स्थित पुलिस-स्टेशन भेज दिया। जीप में मेरे लिए तैनात हथियारों से लैस कांस्टेबलों में से एक ने रास्ते में मुझे बताया कि दो दिनों से उसे कुछ भी खाने को नहीं मिला। वे इस इलाके में नक्सलवादियों की धर-पकड़ के लिए तैनात किये गये हैं पर उनके अफ़सरों ने इन लोगों के खाने-पीने का कोई इंतज़ाम नहीं किया है।

पुलिस-स्टेशन के पीछे के कमरे में मुझे ले जाया गया जहाँ अर्ध-सैनिक सेंट्रल रिज़र्व पुलिस के सशस्त्र सिपाही बदनीयती से मुझे घूरते हुए मेरे आसपास मटरगश्ती करने लगे। मैं लकड़ी के एक तख्त पर बैठ गयी। कई वर्दीधारी और सादी पोशाक वाले अफ़सर आये और चले गये— वे सब एक ही सवाल पूछ रहे थे और अपनी डायरी में मेरा जवाब नोट कर रहे थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मैं स्नान करना चाहती हूँ। बाद में मैंने ग़ौर किया कि स्नान करते समय वे दरवाज़े की एक दरार से अन्दर झाँक रहे थे। मुझे बाहर ले जाकर उन्होंने मेरी तस्वीर खींची। लगातार हो रही पूछताछ से मैं थक गयी थी पर डर के मारे सोने की हिम्मत नहीं हो रही थी। कमरे के खुले दरवाज़े से बाहर का दृश्य दिखायी पड़ रहा था—मैंने फ़र्श

पर एक लड़के को बैठे देखा जिसके हाथों में हथकड़ी लगी थी और कमर में रस्सी बँधी थी। उसकी एक आँख सूज कर लाल हो रही थी, जिससे खून टपक कर उसके गाल पर बह रहा था। वह केवल एक जाँघिया पहने हुए था और बुखार से काँप रहा था।

पुलिस के अधिकारी ज़ब्त किये गये समानों की सूची तैयार करने में लगे थे।

"अमलेन्दु सेन—चार सौ रुपये।"

मुझे एक झटका लगा और फ़ौरन मैं समझ गयी कि उन्होंने अमलेन्दु को गिरफ़्तार कर लिया है। ज्यों ही एक अफ़सर मेरे पास आया मैंने उससे कहा कि वह मुझे इन घूरते पुलिस वालों से दूर अमलेन्दु के साथ रख दे। उसने मेरे अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया, लेकिन अचानक उस शाम उन्होंने मुझे दूसरे कमरे में रहने का आदेश दिया जहाँ अमलेन्दु उसका भाई तथा लगभग १५ लोग एक-दूसरे से रस्सी में बँधे फ़र्श पर बैठे थे। हमें खाना दिया गया और पुरुषों का एक हाथ खोल दिया गया ताकि वे खा सकें। इसके बाद वे कई लोगों के साथ अमलेन्दु को अलग-अलग कोठरियों में ले गये। शेष लोगों को रात भर के लिए उसी कमरे में रहने दिया गया। मैं सोने का उपक्रम करने लगी। सूजी आँखों वाला लड़का फिर बुखार से काँपने लगा। उसने सम्बद्ध अधिकारी से अपने कपड़े माँगे पर वह अफ़सर तिरस्कारपूर्ण मुद्रा में हँस कर रह गया। मैंने उस लड़के के कंधे पर वह कपड़ा रख दिया जो पुलिस के सिपाही ने मुझे दिया था। उन्होंने उसे राइफ़ल के कुंदे से काफ़ी मारा था।

दूसरे दिन सवेरे वे हमें चाइबासा ले गये। उन्होंने मेरी सैंडिल और पुरुषों के जाँघिया-बनयान छोड़कर सभी कपड़े ले लिये। सारे दिन हम बिना कुछ खाये-पीये पुलिस की दमघोंट गाड़ी में बैठे रहे। कुछ नौजवान लड़के गा रहे थे और हँसी-मज़ाक से समय काट रहे थे। मैं धीरे-धीरे अमलेन्दु से बातचीत कर रही थी। इस विश्वास के साथ कि मैं जल्दी ही रिहा कर दी जाऊँगी उसने थोड़ी चुटकी लेते हुए कहा कि मैं उससे जेल में मिलने तो आती ही रहूँगी।

चाइबासा जेल में तीन दिन बीत गये। जेलर ने पूछा कि मैं औरत हूँ या मर्द और मेरे बताने पर उसने महिला वॉर्डर को इसकी पुष्टि के लिए जाँच करने को कहा। मुझे महिला वॉर्ड में रखा गया। रात में हमें एक डार्मिटरी में ठूँस दिया गया। पाख़ाने की बदबू उस गर्म डार्मिटरी में इस क़दर भर गयी थी कि उबकाई आने लगी। महिला वॉर्डर. जो हम लोगों के साथ ही बन्द थी, पाख़ाने के पास डार्मिटरी के कोने में सो रही क़ैदियों पर चीख रही थी और उनकी ओर अपना डंडा हिला रही थी। सवेरे ड्यूटी खत्म हो गयी और उसकी जगह पर दूसरी वॉर्डर आ कर उस बिस्तर पर सो गयी। कुछ औरतों ने उसे सहलाया-दुलराया और उसकी बेल्ट खोलकर उसकी चाबियाँ छिपा दीं। मैं अभी भी स्तब्ध थी और इतनी थक गयी थी कि इन शरारतों पर ध्यान नहीं दे पा रही थी। कुछ औरतें साबुन और तेल लेकर आयीं, उन्होंने मुझे नहलाया और पैर में मालिश की। मेरे पाँव अभी भी जंगल में जबरन चलने की वजह से दर्द कर रहे थे।

तीसरी रात कल्पना नाम की एक बंगाली लड़की आयी। वह मध्यवर्गीय परिवार की थी और अँग्रेज़ी बोलती थी। मेरी गिरफ़्तारी के दूसरे दिन वह पकड़ी गयी थी—उसे भी पुलिस ने नक्सलवादियों के तलाश-अभियान में पकड़ा था और मेरे तथा अन्य लोगों की तरह उसे भी नक्सलवादी कहा गया था। वह बेहद थकी हुई थी और दो दिनों तक पुलिस-स्टेशन में उसने जो मार और यातना

देखी थी केवल उसके बारे में ही कुछ बता पाती थी। उसने मुझे बताया कि थाने में पाँच आदमियों को कलाई से बाँध कर दीवार से लटका दिया गया था और उन पर राइफल के कुन्दे से प्रहार किया जाता था। इसके बाद भी अगर वे कुछ नहीं 'क़बूलते' थे तो उनके मलद्वार में लोहे की छड़ तब तक अन्दर धकेली जाती थी जब तक वे बुरी तरह चीखने न लगें। पूछताछ वाले समय के अलावा शेष समय उसे लगभग १८ आदमियों सहित एक छोटी कोठरी में बन्द रखा जाता था।

चाइबासा जेल के दफ़्तर में पुलिस की पूछताछ का सिलसिला जारी रहा। पुलिस के खुफ़िया अफ़सर इस बात पर नाराज़ थे कि दूसरी महिला क़ैदियों ने मुझे पहनने के लिए कपड़े दे दिये थे। उन्हें चिढ़ हो रही थी कि मैं उन औरतों के साथ सम्बन्ध बना रही हूँ जबकि उन्होंने सोचा था कि उनके साथ मेरी बातचीत ही सम्भव नहीं हो पायेगी। चूँकि वे खुद जनता से कटे हुए थे, इसलिए वे यह समझ ही नहीं सकते थे कि समान भाषा और संस्कृति न होने के बावजूद एक-दूसरे के साथ हमदर्दी क़ायम की जा सकती है। जेलर ने इस भय से कि उसके प्रशासन पर कोई कलंक न लगे, मेरी कलाई में पड़ी काँच की उन चूड़ियों को फोड़ दिया जो कुछ महिला क़ैदियों ने मुझे पहनायी थीं। उसने मुझे इन 'चोरों तथा हत्यारिनों' से मेलजोल न बढ़ाने की चेतावनी दी।

सोमवार, १ जून १९७० को चाइबासा जेल से हमारा तबादला कर दिया गया। दर्जनों सशस्त्र पहरेदारों की मौजूदगी से घबड़ाये बग़ैर मैं बैठी अमलेन्दु से बात करती रही। उसने मुझे बताया कि हम लोग यहाँ से १४२ मील दूर हज़ारीबाग ले जाये जा रहे हैं। मैंने पहले कभी इस जगह का नाम नहीं सुना था। हम लोगों के साथ बैठा एक व्यक्ति, जो पिछले दो महीनों से निवारक नज़रबन्दी क़ानून के तहत जेल में था, हमें जेल-जीवन के बारे में बता रहा था और जेल में मिलने वाले खाने और कपड़े की जानकारी दे रहा था। लेकिन हममें से किसी ने भी यह नहीं सोचा था कि हम लोग अधिक दिनों तक जेल में रहेंगे। जेल में कुछ वर्ष बीत जाने के बाद मुझे महसूस हुआ कि हम कितने भोले थे जो ऐसा सोच रहे थे!

हज़ारीबाग जेल के दफ़्तर में एक चश्माधारी क्लर्क मुझ पर इसलिए गुस्से से उबल पड़ा कि मैं कल्पना के पीछे-पीछे महिला-कक्ष की ओर जा रही थी। उसने मुझे पुरुष क़ैदियों के साथ ज़मीन पर बैठने का आदेश दिया। इस पर साथ के लोग हँस पड़े और वह हक्का-बक्का होकर मुझसे फिर वही सवाल करने लगा— नाम, जाति, पिता का नाम आदि-आदि। इसके बाद मैंने आखिरी बार अमलेन्दु से बिदा ली। मुझे उससे बात करने की इजाज़त नहीं दी गयी—हाँ, जेल के अन्दरूनी हिस्से में जाने के लिए लकड़ी के विशालकाय फाटक में बने छोटे दरवाज़े से अपने वॉर्डर के पीछे-पीछे कल्पना के साथ चलते समय मैंने पथरीले फ़र्श पर झुके अमलेन्दु के सर को सहला दिया था और उसके भाई की ओर देखकर मुस्करा पड़ी थी। काफ़ी अँधेरा छा गया था। आगे-आगे हाथ में लालटेन लेकर वॉर्डर चल रही थी और उसके पीछे हम पथरीले रास्ते पर नंगे पाँव चलते जा रहे थे। ऊँची दीवारों के सहारे हम एक और फाटक तक पहुँचे जिसके ऊपरी हिस्से में लोहे के नुकीले छड़ लगे थे। हमने अन्दर प्रवेश किया और फाटक ज़ोर से बन्द हो गया।
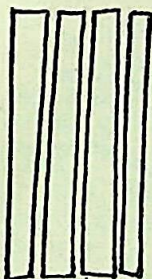
क़ैद-तनहाई

अगले दिन सवेरे साढ़े पाँच बजे यानी गिरफ़्तारी के पाँचवे दिन मेटिन ('मेट' का स्त्रीलिंग) ने—जो महिला वॉर्ड की इंचार्ज थी और जेल-अधिकारियों के लिए एक भरोसेमंद क़ैदी थी—मुझे गहरी नींद से जगाया। डार्मिटरी के बाहर क़तार में झुकी खड़ी लगभग दर्जन भर औरतों के साथ शामिल होने के लिए उसने मुझे और कल्पना को भेज दिया। चीफ़-हैड वॉर्डर को इन सबकी गिनती करनी थी। सिर को आँचल से ढँकी उन औरतों में से कुछ की गोद से सोये हुए बच्चे चिपटे थे। वे दीनहीन असहाय औरतें चुपचाप, जड़वत, झुकी खड़ी वॉर्डर का इन्तज़ार कर रही थीं जो थोड़ी ही देर बाद हाथ में एक मुडा-तुड़ा कागज़ लिये अकड़ता हुआ आया और क़तार में खड़ी महिलाओं को अपनी छड़ी से थपथपाता हुआ कागज़ में दर्ज संख्या से अपनी गिनती मिलाने लगा। अन्य औरतों के पीछे झुक-कर खड़ी होने के मेटिन के निर्देशों पर कुढ़ते हुए हम खड़े रहे। वॉर्डर के चले जाने के बाद हमें अपने इस नये परिवेश और आसपास के वातावरण को जानने-समझने का समय मिला। पहली नज़र में हज़ारीबाग सेंट्रल जेल का यह महिला वॉर्ड काफ़ी रमणीय लगा; पीले-गेरुए रंग से पुती केन्द्रीय डार्मिटरी के चारों ओर की ज़मीन लाली लिये हुए थी जिसके दोनों तरफ़ सब्ज़ियों की क्यारियाँ थीं। फाटक से डार्मिटरी तक के रास्ते के दोनों तरफ़ और दाहिने हाथ की तरफ़ पड़ने वाली दीवार के साथ चमेली के पौधे लगे थे जिनमें फूल खिल रहे थे। अमरूद, आम, नींबू, नीम और बगनवेलिया के कुछ पेड़-पौधे भी थे जिनके चारों ओर ऊबड़-खाबड़ ढंग से काटे हुए पत्थरों से बनी भूरे चितकबरे रंग की बारह फ़ीट ऊँची दीवार थी।

जेल के इस नये वातावरण का अभी हम निरीक्षण कर ही रहे थे कि तभी एक बार फिर फाटक खुला और नीली धारियों वाली बनयान तथा मोटे कपड़े के सफेद जाँघिये पहने दो पुरुष क़ैदियों ने एक वॉर्डर के साथ तेज़ क़दमों से प्रवेश

नक्सलवादियों के वार्ड और जेल अस्पताल का रास्ता
भंडारघर का रास्ता
मुख्य वाच टावर का रास्ता
कैदियों के क्वार्टर का रास्ता
कैद तनहाई के लिए बनी कोठरियों का रास्ता
काल कोठरियाँ
फांसी के तख्ते
पुरुषों का विभाग (रसोईघर और कार्यशालाएँ) नं० ६ वार्ड
जेल के स्कूल और मुख्य वाच टावर का रास्ता
सड़क
महिला वार्ड का दरवाजा
कैदियों को यही खाना दिया जाता था
वाच टावर
आँगन
आँगन
बगीचा
वाच टावर
मेटिन का विस्तर
पुरुषों का विभाग (नं० १ वार्ड)
पुरुषों का विभाग 'स्टेट वार्ड'
शौचालय
मेरी कोठरी
कल्पना की कोठरी
शौचालय
नीम का पेड़
दीवार
आँगन
मोती की कोठरी
पानी का नल
वार्डरों के विस्तर
दीवार
हजारी बाग सेन्ट्रल जेल महिला वार्ड
कोठरी
खुली नालियाँ
बगीचा
शौचालय
कर्मचारियों के क्वार्टर
कुआँ (ऊपर से ढका हुआ)
जेल की बाहरी दीवार
पुरुषों का विभाग
पेड़
पेड़ जो बाद मे काट दिए गए
मिलिट्री पुलिस कैंप
वाच टावर

किया। उनके हाथ में गंदी दिख रही दो बाल्टियाँ थीं जिनमें से वे औरतों के लिए नाश्ता बाँट रहे थे। कांक्रीट की बनी एक नीची दीवार के पास क़तार में बैठी महिलाओं के बर्तनों में खाना फेंकते हुए वे उसी तेज़ रफ़्तार से फाटक के बाहर निकल गये। मेटिन मैमून ने हमें बुलाया और दोनों को एक-एक मुट्ठी छिली हुई भुनी मटर तथा अल्यूमीनियम के आधा लीटर के पात्र में गन्ने के शीरे का एक काला कंकड़ीला और चिपचिपा लड्डू दिया। इसके साथ ही उसने हमें दाँत साफ़ करने के लिए लकड़ी (दातौन) का एक छः इंच लम्बा टुकड़ा दिया। भूख से व्याकुल होने के कारण मैं मटर के दानों से चिपकी मिट्टी का खयाल किये बिना उन्हें मुँह में लेकर चबाने लगी। मैं इस पर ध्यान ही न दे सकी कि मेरे साथ के क़ैदी मुझे बेहद हैरानी से देख रहे हैं---दरअसल बात यह थी कि वे अपने तौर-तरीक़ों के अनुसार यह सोच ही नहीं सकते थे कि सवेरे-सवेरे बिना दाँत-मुँह धोये कोई खा भी सकता है। महीनों बाद जब मैं उनसे काफ़ी घुल-मिल गयी तो वे पहले दिन के मेरे इस फूहड़ व्यवहार को याद दिलाना कभी नहीं भूलती थीं। कल्पना तो मुझसे भी ज़्यादा नाज़ुक थी। वह बेमन से मटर का एक-एक दाना चबाती रही। उसे चाय की तलब हो रही थी। उससे यह 'घोड़े का चारा' और अधिक नहीं खाया गया और उसने अपने बर्तन को डार्मिटरी में रखे पानी के पीपे के ढक्कन पर रख दिया। अचानक मेटिन दौड़ती हुई आयी, उसने कल्पना के बर्तन को पीपे पर से उठा फेंका और पानी गंदा करने के लिए बेतहाशा चीखने लगी। मैं समझ ही नहीं पायी कि आखिर किस बात पर मेटिन को इतना गुस्सा आ गया। बाद में कल्पना ने बताया कि हिन्दुओं की धारणा है कि आधा खाकर छोड़ी गयी चीज़ अशुद्ध होती है। बाद में मुझे पता चला कि मेटिन मुसलमान थी।

हमने अपने इस नये घर का फिर से निरीक्षण शुरू किया लेकिन कुछ ही क्षणों के अन्दर चारों ओर एक भगदड़ मच गयी और सारी औरतें डार्मिटरी में पहुँच-कर दीवार के सहारे एक क़तार में खड़ी हो गयीं। अपनी साड़ी के कोनों से उन्होंने सिर ढंक लिया और शान्त भाव से निगाहें नीची किये खड़ी हो गयीं। फ़र्श पर रखी ढेर सारी खाकी वर्दी के नीचे जल्दी से मेटिन ने अपनी प्लास्टिक की लाल चप्पलें छिपा दीं। महीनों बाद मुझे पता चला कि उसने ऐसा क्यों किया था—दरअसल जेल से मिले सामानों में सैंडिल नहीं था और एक वॉर्डर से इसे चुपके से खरीदा गया था।

फाटक के बाहर जेल का घंटा लगातार तेज़ी से बजता जा रहा था। जैसे ही फाटक खुला, चीफ़-हैड वॉर्डर तथा खाकी वर्दी-धारी अनेक संतरियों के साथ दो अफ़सरों ने प्रवेश किया। आने वाले महीनों में हम इस तरह के लोगों से खूब परि-चित हो गये; सुपरिंटेंडेंट और जेलर बिना सशस्त्र संतरियों के कभी क़ैदियों के बीच नहीं आते थे। महिला वॉर्डर ने एक अनाड़ी की तरह सावधान की मुद्रा में खड़ी होकर सैल्यूट किया—सैल्यूट के लिए हाथ उठाने में उसकी भारी खाकी साड़ी ने खासी अड़चन डाली। मुझे और कल्पना को मेटिन ने क़तार के एक सिरे पर खड़ा किया था। दोनों अफ़सर लम्बे-लम्बे डग भरते हुए इस तरह चल रहे थे गोया उन्हें क़तार में खड़ी महिलाओं की मौजूदगी का एहसास ही नहीं है। वे हमारे सामने आकर खड़े हो गये और हमारी उपस्थिति के प्रति लापरवाह दिखते हुए महिला वॉर्डर को हिन्दी में कुछ निर्देश देने लगे। काले चश्मे वाले नाटे मोटे जेल-सुपरिंटेंडेंट ने अंततः हम लोगों की ओर मुड़कर पूछा कि हमें कुछ कहना तो नहीं है। कल्पना ने अपनी त्वरित बुद्धि का परिचय दिया और पढ़ने के लिए कुछ

किताबें, साबुन तथा बदलने के लिए कपड़े की माँग की। अफ़सरों की ओर से कोई जवाब नहीं मिला। वे जिस तरह अचानक आये थे वैसे ही चले गये और इसके फ़ौरन बाद ही महिला वॉर्डर ने क़ैदियों को डार्मिटरी के सिरे पर स्थित दोनों कोठरियों में रखे कंबलों और बर्तनों को हटाने का आदेश दिया। कल्पना ने अफ़सरों की हिन्दी में की गयी बातचीत को थोड़ा समझ लिया था और उसने बताया कि हम लोगों को अब एकान्त में अर्थात क़ैद-तनहाई में रखा जायेगा।

दिन के १० बजते-बजते मैं १५ वर्ग फ़ीट के एक कमरे में बंद कर दी गयी थी। कमरे में मिट्टी के एक छोटे घड़े तथा कई पुश्तों से क़ैदियों के तेल-पसीने से सने, फटे-पुराने, मोटे और मटमैले रंग के तीन कम्बलों के अलावा कुछ भी नहीं था। मैंने कम्बलों को मोड़कर पथरीले फ़र्श पर गद्दे की तरह बिछा लिया। मेरी कोठरी डार्मिटरी के एक कोने पर थी जिधर से फाटक से काफ़ी दूर अहाते के सिरे पर स्थित आँगन दिखायी देता था। बाहरी दोनों दीवारें स्वाभाविक स्थिति में थीं और कोठरी में खिड़कियों की बजाय फ़र्श से आठ फुट की ऊँचाई पर चार-चार फुट चौड़े तीन जँगले थे। दरवाज़ा लोहे की लम्बी कुंडी और तालों से बंद था। दीवारों पर धब्बेदार पुताई हुई थी और काफ़ी पहले निकाली गयी कीलों के निशान से दीवार पर चेचक-जैसे अजीब दाग़ दिखायी दे रहे थे। कोठरी के एक कोने में कमर तक की ऊँचाई के लकड़ी के एक जीर्ण-शीर्ण फाटक के पीछे मेरा शौचालय था—यह फ़र्श का ही एक हिस्सा ऊँचा करके बैठने लायक़ बनाया गया था। इस ऊँचे आसन के बीचोंबीच एक पतली दरार थी जिसके ठीक नीचे मिट्टी का टूटा हुआ एक बर्तन रखा था। मेरे शौचालय से सटा हुआ शौचालय डार्मिटरी के अन्य लोगों के लिए था जहाँ शेष औरतें सोती थीं। इन दोनों तथा कल्पना के शौचालय की खुली नाली मेरी कोठरी की दोनों गहरी दीवारों से सटी
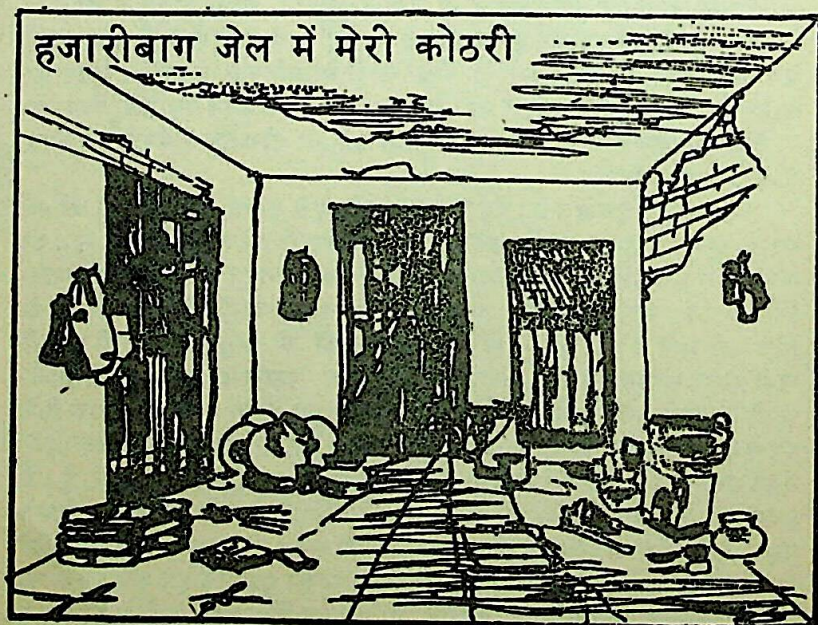
थी जिससे गर्मी से भरी उन रातों में मेरी कोठरी में इतनी बदबू फैल जाती थी कि उबकाई आने लगती थी। टूटे-फूटे कांक्रीट और जीर्ण-शीर्ण ईंटों से बनी नाली के अन्दर बने सूराखों में असंख्य मच्छर-मक्खियाँ पल रही थीं और ऐसा लगता था कि दोनों आपस में तय करके वारी-वारी रात और दिन की अपनी ड्यूटी पूरी करते थे जिससे न मैं रात में सो पाती थी और न दिन में आराम ही कर सकतीथी।

शुरू के 'तनहाई' के कुछ दिन इस तरह गुजरे जैसे यह कोई सपना चल रहा हो जिसमें व्यवधान तब पड़ता था जब ताले की जाँच करने के लिए सवेरे-शाम चीफ़-हैड वॉर्डर एक चक्कर लगा जाता था। खाना और पानी लेकर मेटिन हड़-बड़ाते हुए आती थी या मुझे मंजन कराने अथवा नहलाने के लिए महिला वॉर्डर चावियों के गुच्छे से टटोलते हुए मेरी कोठरी का ताला खोलती थी। पूछताछ का सिलसिला जब फिर शुरू हुआ तो सिर पर कुर्सी-मेज़ लादे क़ैदियों के साथ सादी वर्दी वाले पुलिस अफ़सरों के आने से मुझे खुशी ही हुई कि चलो किसी से बात करने का मौक़ा तो हाथ लगा। चूंकि मैं हिन्दी नहीं जानती थी इसलिए मेटिन, महिला वॉर्डर या पुरुष वॉर्डर से मैं अपनी बुनियादी ज़रूरतों के बारे में भी नहीं बता पाती थी। कोठरी के दमघोंट वातावरण में बाहरी दुनिया की साँस भी पुलिस वाले ही पहुँचा सके।

अब तक मैं पूछताछ के दाँव-पेच से निबटने में माहिर हो गयी थी। मैं अपने अतीत की एक-एक घटनाओं को स्वेच्छा और विस्तार से उन्हें बता देती थी। मैं जानती थी कि समूचे विश्व की गुप्तचर-सेवाओं द्वारा सँजोकर रखी गयी निरर्थक सूचनाओं की मोटी फ़ाइलों में मुझसे सम्बन्धित यह जानकारी भी जुड़ जायेगी। साथ ही मुझे यह भी निश्चित था कि उन्हें मैं जो कुछ बता रही हूँ उससे अंततः उन्हें कोई व्यावहारिक मदद नहीं मिल सकेगी। वे यह जानने के लिए बेहद उत्सुक थे कि मैं किसी नक्सलवादी नेता को जानती हूँ या नहीं और इस आन्दोलन के बारे में मैं कुल मिलाकर क्या सोचती हूँ। अखबारों की भाषा में 'उग्रवाद की चुनौती' को कुचल देने के काम में लगे इन अफ़सरों ने बिहार के एक गाँव में मेरी मौजूदगी को इस बात का सबूत माना था कि मैं हथियारों की तस्करी करने वाली किसी व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण कड़ी हूँ या किसी बदनाम संस्था की प्रतिनिधि हूँ जिसे भारत में क्रान्ति को उकसाने और दिशा देने के लिए भेजा गया है। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड के मेरे मित्रों ने मेरी सहायता करने के प्रस्ताव से सम्बन्धित जो तार दिया था वह भी इनकी निगाह में 'पर्दाफ़ाश करने वाले तथ्यों' से भरपूर एक 'रहस्यमय तार' था। रोज़ के छापे में पकड़े जाने वालों में से लगभग सबको वे जिस तरह बाद में 'नक्सलवादी नेता' कहकर अखबारों में प्रचारित करते थे उसी तरह उन्होंने मुझे भी नक्सलवादी नेता कहा। सरकार चाहती थी कि नक्सलवादी आन्दोलन का दमन हो और इस तरह की खबरें देकर वे निस्संदेह रूप से अपनी कामयाबी का प्रदर्शन करना चाहते थे।

मेरी बग़ल की कोठरी में कल्पना से भी इसी तरह की पूछताछ की जा रही थी। हम एक-दूसरे को देख नहीं सकते थे लेकिन रात में जब जेल की बाहरी दीवार पर चौकसी के लिए थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बनाये गये बुर्ज पर तैनात संतरियों को छोड़कर अन्य सभी लोग सो जाते थे तब हम अपनी कोठरी के सींखचों के पास खड़े होकर देर रात गये ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ देकर अपने दिन भर के अनुभवों और निरीक्षणों के बारे में एक-दूसरे को बताते। मैंने यह सोचा भी नहीं था कि पुलिस मुझे एक-दो हफ़्ते से ज्यादा समय तक हिरासत में रखेगी। उन्होंने

खुद भी स्वीकार किया था कि उनकी मुझे गिरफ़्तार रखने में कोई दिलचस्पी नहीं है। यहां तक कि उनमें जो सबसे अधिक निराशावादी था उसने भी अनुमान लगाया था कि मुझे तीन महीने के भीतर छोड़ दिया जाना चाहिए। उस समय तक मुझे यह नहीं पता था कि मेरी गिरफ़्तारी से बाहर कितनी अधिक हलचल मच गयी थी या अखबारों की तमाम सुर्खियों में मुझे 'छापामार लड़की' के रूप में वर्णित किया गया था और जंगल में नक्सलवादियों के किसी ठिकाने से मुझे गिरफ़्तार किये जाने के क़िस्से को खूब बढ़ा-चढ़ाकर लिखा गया था। मुझे यह भी नहीं पता था कि अखबारों में मुझ पर तरह-तरह के आरोप लगाये गये थे कि मैं यूरेनियम के किसी कारखाने को बारूद से उड़ाने की कोशिश में लगी थी, कि जंगल में पुलिस के साथ सशस्त्र मुठभेड़ में लगी थी और मैंने एक पुलिस-स्टेशन पर बमबारी की थी।

अंततः पूछताछ करने वाले चले गये ताकि वे दिल्ली, कलकत्ता, पटना और पंजाब जाकर अपनी बुद्धिमत्तापूर्ण खोजों के सहारे अन्य तथ्यों का पता लगा सकें। मैं फिर १५ वर्गफ़ीट के अपने संसार में अकेली रह गयी—एक ऐसे संसार में जो मेरी कोठरी में लगे सींखचों के बाहर के जेल के हिस्से से भी पूरी तरह कटा हुआ था। एकान्त के इन्हीं दिनों में पिछले १४ दिनों की घटनाओं का मेरे दिमाग़ पर पूरा-पूरा असर पड़ा। इससे पहले तक मैं अपने साथ घटित हो रही वारदातों के बारे में लगभग बेखबर-सी थी —ऐसा लगता था जैसे किसी भी धक्के को बर्दाश्त करने के लिए मेरे दिमाग़ ने कोई सुरक्षा-व्यवस्था तैयार कर ली है। अब मेरे साथ अकेलापन था और सोचने के लिए भरपूर समय। लेकिन आश्चर्य है कि मैं बिलकुल ही भयभीत नहीं थी। दरअसल मैं समझती थी कि मुझे किसी भी क्षण रिहा कर दिया जायेगा और इस विचार ने ही मुझे अपने बारे में हर तरह की चिंताओं से मुक्त रखा था। मेरी मुख्य चिंता अपने माता-पिता के बारे में थी। मैंने अनुमान लगाया कि उन्हें मेरी गिरफ्तारी के बारे में ज़रूर बता दिया गया होगा और मैं कल्पना कर सकती थी कि वे कितने दुःखी हुए होंगे। उनकी चिंताओं के बारे में सोचकर मैं बहुत उद्विग्न हो उठती थी। इसके अलावा मैं इस बात से भी आशंकित थी कि अमलेन्दु पर क्या गुज़र रही होगी। मुझसे पूछताछ करने वाले पुलिस अधिकारी ने बताया था कि अमलेन्दु मुझसे कहीं बुरी हालत में हैं। फिर भी मेरे सामने कोई चारा नहीं था—सिवाय इसके कि मैं अपने माता-पिता को एक पत्र लिखूं और जैसा कि पूछताछ करने वालों ने वायदा किया था, अमलेन्दु से मिलने के लिए अधिकारियों पर दबाव डालूं। काफ़ी पहले ही बिना किसी सचेतन प्रयास के मैंने स्थिति पर पूरी तरह क़ाबू पा लिया था और खुद को जेल के दैनिक क्रिया-कलापों तथा अपने जीवन को संचालित करने वाले पात्रों का अभ्यस्त बना लिया था।

सवेरे की ड्यूटी पर आने वाले वॉर्डरों को जगाने के लिए साढ़े चार बजे भोर में चौकसी के लिए बनाये गये मुख्य बुर्ज से बेसुरी आवाज़ में बिगुल बजता था। इसके कुछ ही देर बाद तीन बार घंटे बजते थे जिसकी आवाज़ पर क़ैदियों की लम्बी दिनचर्या शुरू हो जाती थी। दिन उगते ही चीफ़-हैड वॉर्डर के जूतों की चरमराहट इस बात की चेतावनी होती थी कि मेरे सोने का समय समाप्त हो गया। अपने थुलथुले शरीर को उछालता हुआ तीन सीढ़ियां चढ़कर वह मेरी कोठरी तक आता और दरवाज़े पर लगे ताले को खड़-खड़ाकर तथा सलाखों को ठोककर इस बात का इत्मीनान करता कि मैं अपने पिंजड़े में पूरी तरह क़ैद हूं और

कोई ख़तरा नहीं है। इतना करने के बाद वह मेरी ओर देखते हुए बस यही वाक्य दुहराता : "एक आदमी। ठीक है न ?" हफ़्तों तक रोज़ सवेरे-शाम मुझे उसका यह वाक्य सुनायी पड़ता रहा। कभी-कभी मैं अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में---जिसे कई रातों में ग़ैरक़ानूनी ढंग से बातचीत के ज़रिए मैंने कल्पना से सीख लिया था ---मैं उससे कहती कि वह थोड़ा व्यायाम करने के लिए मुझे बाहर निकलने दे, लिखने के लिए मुझे कलम-कागज़ ला दे या अमलेन्दु से मिलने का इंतज़ाम कर दे, लेकिन मूँछों से भरे शिकारी कुत्ते-जैसे चेहरे के ऊपर बेतुकी ऊनी टोपी लगाये और कलफ़ किये ख़ाकी हाफ़ पैंटों के बाहर निकली मोटी टाँगों पर खड़ा यह दैत्याकार व्यक्ति मेरी तरफ़ आश्चर्य और सन्देह से बस देखता रहता और अफ़सोस के साथ सिर हिला देता। मैं उसकी मुश्किल को समझ रही थी—अब तक जिस तरह के क़ैदियों से उसको निबटना पड़ता था, उसकी बजाय एक 'मेमसाहब' की मौजूदगी से वह चक्कर में पड़ गया था और तय नहीं कर पा रहा था कि मेरे साथ कैसा सुलूक करे। कभी-कभी वह अपने शाश्वत नुस्खे का इस्तेमाल करता और कल्पना को बार-बार दिलासा देता कि हम लोग जल्दी ही रिहा कर दिये जायेंगे। औरों के बारे में चाहे वह जो सोचता रहा हो लेकिन जहाँ तक हमारा ताल्लुक़ था वह सचमुच ऐसा ही सोच रहा था। संभवत: अपनी सरकारी नौकरी के इन सारे वर्षों में उसने 'पढ़ी-लिखी' औरतों को कभी ऐसी हालत में रखे जाते नहीं देखा था। अँधेरा होने से काफ़ी पहले मेरे फाटक के तालों की जाँच करने के बाद वह मेरी कोठरी के भीतर बड़ी एकाग्रता के साथ झाँककर कोने-कोने को देखता कि कहीं मैंने कोई ऐसी चीज़ न छुपाकर रख ली हो जिसकी मनाही हो। एक दिन मुझे बाहर नल के पास रस्सी का एक घिसा पुराना टुकड़ा मिल गया जिसे मैंने दरवाज़े के सींखचों से बाँधकर उसकी अरगनी बना ली ताकि कपड़े सुखाये जा सकें। वह कई क्षण तक चुपचाप रस्सी के इस टुकड़े की ओर घूरता रहा फिर मेरी तरफ़ मुड़ते हुए उसने रस्सी को हटाने का आदेश दिया। इस टुकड़े को ज़ब्त कर लेने के बाद उसने कल्पना को बताया कि जेल में सुतली या रस्सी ले जाना मना है। मुझे ऐसा महसूस हुआ गोया मैं स्कूल में पढ़ने वाली कोई लड़की हूँ जिसे अध्यापक ने झिड़क दिया हो।

शाम को जब चीफ़-हैड वॉर्डर चक्कर लगाने निकलता था तो उसके पीछे-पीछे मेटिन मैमून भी फुदकती हुई चलती थी। वह एक साथ ही चापलूस और अहंकारी दोनों थी—सर पर साड़ी का पल्ला डाले और होठों पर नखरेबाज़ मुस्कान लिये वह वॉर्डर के आदेशों का पालन करने के लिए स्थायी रूप से सर ऊपर की ओर उठाये रहती थी और हाथ ऐसे जोड़े रहती थी गोया प्रार्थना कर रही हो। ज़ाहिर तौर पर वह हमें यह जतलाना चाहती थी कि वह भी समूची व्यवस्था का ही एक अंग है। दरअसल वह अधिकारियों की अतिरिक्त आमद की प्रबंधक थी तथा उनकी सनक को अमल में लाने का काम करती थी। अन्य औरतों के विपरीत वह मोटी थी, उसका शरीर भी अपेक्षाकृत मुलायम था और वह साफ़-सुथरे कपड़े पहनती थी। जल्दी ही हम यह भी जान गये कि उसकी समृद्धि का रहस्य क्या है। दूसरे क़ैदियों के लिए उसके ज़िम्मे जो राशन दिया जाता था उसे चुराकर वह बेच देती थी—हम लोगों के हिस्से का भी राशन वह बेच दिया करती थी क्योंकि हमने ग़ौर किया कि हमारी राशन की मात्रा दिन-ब-दिन कम होती जा रही थी। हमें सारी चीज़ें उसी के ज़रिए मिलती थीं। उसकी इस धूर्तता से क्रोधित होकर मैंने सोचा कि इस बात की शिकायत जेलर से की जाये लेकिन

कल्पना ने मुझे रोक दिया—उसका कहना था कि आखिर मैमून भी एक क़ैदी ही है। उसकी बेईमानी को अपने साथी क़ैदियों के प्रति विश्वासघात से जोड़ना हमारे लिए उचित नहीं होगा। इसके अलावा मैमून तथा अन्य महिला वॉर्डरों से दुश्मनी मोल लेना भी हमारे लिए अच्छा नहीं होगा क्योंकि उनके साथ यदि अच्छा सम्बन्ध बना रहा तभी जेल के कड़े नियमों में हम कुछ छूट पा सकेंगे और अपनी दु:सह स्थिति को कुछ आरामदेह बना सकेंगे। इसलिए इस छोटी-मोटी चोरी से क्षुब्ध होने के बावजूद हमने इसके बारे में खामोश ही रहने का फैसला किया—जब बड़ी-बड़ी शार्कें मछलियाँ आपको निगल जाने को तैयार बैठी हों तो छोटी मछलियों से लड़ाई मोल लेने से क्या फ़ायदा ?

महिला वॉर्ड की अधिकांश ज़िम्मेदारी मेटिन को सौंप दी गयी थी और सारे फैसले चीफ़-हैड वॉर्डर द्वारा लिये जाते थे। इन दोनों के बीच तीन महिला वॉर्डर थीं जिनकी भूमिका अभिरक्षकों से कुछ ज़्यादा नहीं थी। उन्हें महिला वॉर्ड में अन्य बंदियों के साथ क़ैद रखा जाता था—यह वॉर्ड अपने-आप में जेल के भीतर बना एक जेल था—और जब तक कोई वॉर्डर बाहर से ताला नहीं खोलता था, वे निकल नहीं सकती थीं। उन्हें दिन-रात हमारे ऊपर निगाह रखने का निर्देश था और इसीलिए वे अपनी ड्यूटी के अधिकांश घंटे हमारी कोठरी से थोड़ी दूर बने एक झोंपड़े में बिताती थीं। यह काम बेहद उबाऊ था और ऊब तथा आलस्य के कारण वे बार-बार जम्हाई लेती थीं या अपनी दोस्त क़ैदियों से घिरी लकड़ी के तख्त पर लेटे-लेटे अपने बाल-बच्चों, दूसरी महिला वॉर्डरों, या जेल के कर्मचारियों और क़ैदियों के बारे में गप्प करती रहती थीं। ऐसा लगता था कि सरसों के तेल से मालिश कराना उनका प्रिय शौक था। हमसे बातचीत करने की उन्हें सख्त मनाही थी, फिर भी कभी उन्हें इतना कौतूहल होता था कि कल्पना के पास आकर वे दो-चार बातें कर ही जाती थीं। वे सब बहुत गरीब थीं और नौकरी की उनकी स्थितियाँ गुलामी से थोड़ी ही बेहतर थीं। शायद ही उन्हें किसी दिन छुट्टी मिलती थी और यदि किसी दिन यह लगता भी था कि उनकी आज छुट्टी है तो भी उन्हें जेल के अहाते में किसी-न-किसी आदेश का पालन करने के लिए हाज़िर रहना पड़ता था। खरीदारी करने के लिए भी उन्हें चीफ़-हैड वॉर्डर से अनुमति लेनी पड़ती थी। हमने देखा था कि प्राय: उन पर जेल के अफ़सर ही नहीं बल्कि पुरुष वॉर्डर भी धौंस जमाते थे। हमें दिन-रात सींखचों में बंद देखकर वे दुखी लगती थीं और कभी-कभी उनमें से कोई साहसी वॉर्डर हमारे ताले खोल देती थी और हमें आपस में एकाध घंटे बातचीत का मौक़ा मिल जाता था।

दिन के समय महिला वॉर्ड के फाटक की चाबी एक 'ड्यूटी वॉर्डर' के पास होती थी जो डेढ़ सौ वॉर्डरों में से कोई एक होता था। खाना लेकर आते क़ैदियों या ज़रूरी काम के लिए डॉक्टर तथा अन्य व्यक्तियों के अन्दर जाने के लिए फाटक का ताला वही खोलता था। जेल के दैनिक परिचालन की सारी ज़िम्मे-दारी जेलर पर होती थी। जेलर के अधीन सहायक जेलरों और क्लर्कों का एक स्टाफ़ था जिसके हाथों में जेल का प्रशासन था। जेलर जेल के अफ़सरों के क्रम में सबसे बड़े अफ़सर यानी जेल-सुपरिंटेंडेंट के प्रति जवाबदेह था और हज़ारीबाग जेल का यह सुपरिंटेंडेंट काला धूप का चश्मा, लाल बड़े-बड़े चैक का जैकेट और सर पर टोपी लगाये जेल की बजाय यदि किसी फ़िल्म के सेट पर होता तो ज़्यादा फबता। उसे देखकर मुझे पुराने ज़माने के किसी फ़िल्म निर्माता और किसी बड़े शिकारी के मिले-जुले व्यक्तित्व का आभास होता था। वह पश्चिमी रंग से डूबे

उच्च-वर्गीय परिवार का सदस्य था और उसने कुछ वर्ष कनाडा में बिताये थे। वहीं से उसने अमरीकी तर्ज़ पर अँग्रेज़ी बोलना सीखा था लेकिन अकसर बात करते-करते बीच-बीच में वह अपना अमरीकी उच्चारण भूल जाता। वह कब किसी पर बरस पड़े या किसी के साथ कैसा सलूक कर दे —इसका कोई भरोसा नहीं था और इस बात से उसके मातहत भी उतना ही क्षुब्ध रहते थे जितना हम। अपना अधिकार जतलाने के लिए वह पहले जारी किये गये अपने निर्देशों को इतनी बार उलट-पुलट देता था कि अंत में कोई ठीक-ठीक जान ही नहीं पाता था कि वह चाहता क्या है। जेल के कर्मचारी भरसक उससे कतराकर ही काम करने की कोशिश करते थे। वे डरते थे कि कहीं उसने अपना विचार बदल न दिया हो और वे उसकी दबोच में न आ जायें।

शुरू के उन दिनों की एकरसता बहुधा उसके अचानक और बिना किसी पूर्व सूचना के आने से टूटती थी—नये क़ैदियों का निरीक्षण करने के लिए कभी-कभी वह पुलिस के अफ़सरों के साथ और कभी-कभी शहर के बड़े लोगों के साथ आ जाया करता था। महिला वॉर्डर हमेशा भय से त्रस्त रहती थीं कि कहीं 'साहब' अचानक आ न जायें और अपने निर्देशों का अनजाने में हो रहा उल्लंघन न देख लें। एक दिन एक क़ैदी की छोटी बच्ची मेरे पास आयी और उसने मुझे गुलाब के दो लाल फूल दिये जिसने उसे फाटक के अन्दर की झाड़ियों से तोड़े थे। उसके इस दोस्ताना भाव से और अपनी सुनसान उदास कोठरी में खुशबू और रंग की मौजूदगी से मैं खुशी से भावविभोर हो गयी। मैंने उन फूलों को अपने पानी वाले जग में खड़ा करके रख दिया।

दिन के तीसरे पहर मेरी कोठरी के सामने से जेल-सुपरिंटेंडेंट गुज़रा और उसकी निगाह फूलों पर गयी। फूलों को देखते ही उसने दहाड़ते हुए वॉर्डर को आवाज़ दी —"अबे गधे की बच्ची!" उसने वॉर्डर को इस तरह बुलाया जैसे पीछा करने के लिए कुत्ते को आवाज़ दे रहा हो और जानना चाहा कि ये गुलाब के फूल मुझे कहाँ से मिले। वॉर्डर बिचारी हक्का-बक्का रह गयी। सफ़ाई देने की मेरी कोशिश की उपेक्षा करते हुए उसने वॉर्डर पर आरोप लगाया कि वह मुझे दूसरे क़ैदियों से बात करने की छूट दे रही है और उसे आगे की ड्यूटी से निलंबित कर दिया। इस अन्याय से क्षुब्ध होकर मैंने और कल्पना ने तय किया कि उस वॉर्डर को फिर से काम पर लगाये जाने की माँग को लेकर हम लोग भूख-हड़ताल करें। अगले दिन से उसे फिर ड्यूटी पर आने की इजाज़त मिल गयी। इस घटना के बाद सभी वॉर्डरों ने महसूस किया कि हम उन्हें किसी परेशानी में डालना नहीं चाहतीं और इतना ही नहीं, हम हर संकट में उनके साथ खड़ी होने के लिए तैयार हैं। उनका रवैया हमारे प्रति अब और भी उदार हो गया हालाँकि नौकरी जाने के डर से वे बहुत ज़्यादा मनमानी नहीं कर पाती थीं।

जब भी सुपरिंटेंडेंट आता हम बार-बार उसे अपना पुराना अनुरोध दुहरा-कर छेड़ते कि हम दोनों को एक ही कोठरी में रखा जाय और हर बार वह चीखते हुए जवाब देता—"बिलकुल नहीं। तुम लोग नक्सलवादी नेता हो। तुम लोग एक साथ रहना चाहती हो ताकि भाग निकलने की योजना बना सको और सरकार के खिलाफ़ षड्यंत्र कर सको।" हम लोग महत्त्वपूर्ण नेता हैं—यह सुनना बड़ा मनो-रंजक लगता था लेकिन इसी की वजह से एक साथ बैठकर कुछ पढ़ने-लिखने का हमारा कार्यक्रम भी धरा-का-धरा रह जाता था और सारा दिन सुस्ती में बर्बाद होता था। दिन भर निरर्थक कामों में हम लगे रहते—उन चीज़ों को सहेजते

रहते जो हमने इकट्ठा की थीं—मसलन अल्यूमीनियम की एक तश्तरी और जग, कंघी और शीशा, दवाओं की कुछ बोतलें, दो गज़ मारकीन का कपड़ा और जेल की बनी साड़ियाँ। सवेरे के समय मैं लकड़ी का एक टुकड़ा लेकर मुह में चबाती रहती—उसके एक सिरे को चबाकर ब्रश बना लेती और आध घंटे तक रगड़कर दाँत साफ़ करती रहती। खाना खाने के बाद घड़े से पानी निकालकर अपनी तश्तरी साफ़ करती और साड़ी के कोने से उसे तब तक रगड़ती रहती जब तक वह चमकने न लगे। अपने दो इंच लंबे बालों में मैं बार-बार कंघी करती और जितनी भी कविताएँ याद आती थीं उन्हें गाते हुए कोठरी में टहलती रहती। मैंने व्यायाम करने का कार्यक्रम बनाया लेकिन पेचिश का शिकार हो जाने और फ़र्श बेहद कड़ा होने के कारण मेरे जोड़ों में दर्द होने लगा। बार-बार अनुरोध करने के बावजूद हमें लिखने के लिए कलम-स्याही नहीं दी गयी। अलबत्ता जबर्दस्त ढंग से सेंसर किया हुआ एक अखबार मिलने लगा जो काले रंग की मैली गीली स्याही से पुता होता था। इसे हम दोनों मिलकर पढ़ लेती थीं और जब भी इसे एक के पास से दूसरे के पास भेजना होता, वॉर्डर को बुलाना पड़ता। कुछ दिनों के बाद हमने देखा कि किसी को तकलीफ़ दिये बिना भी हम इसे एक-दूसरे तक पहुँचा सकती हैं क्योंकि कल्पना के शौचालय की दीवार में एक दरार थी जिसमें से होकर अखबार आर-पार निकल सकता था। एक दिन मैमून ने हमें ऐसा करते देख लिया। इसके दूसरे ही दिन कुछ क़ैदियों को बुलाकर उस दरार पर एक पटरा रखकर कील ठुकवा दी गयी। इन कीलों के कारण दीवार का पलस्तर उखड़ गया और कुछ ही घंटों के अन्दर वह पटरा फिर नीचे आ गिरा।

समाचारपत्र के अलावा हमें पढ़ने के लिए जो अन्य चीज़ें मिलती थीं उनमें जेल की लाईब्रेरी की किताबें थीं। मैंने सूचीपत्र में से बॉसवेल की पुस्तक 'लाइफ़ ऑफ़ जॉन्सन' और शेक्सपियर की एक पुस्तक का चुनाव किया और खुशी-खुशी उन्हें पाने का इंतज़ार करती रही। लेकिन मेरा भ्रम टूटना ही था। असंख्य दीमकों ने पुस्तकों के पीले पृष्ठों में तमाम सुराख कर दिये थे जिनसे पढ़ना मुश्किल हो गया था और उनका खून भी हर पृष्ठ में फैला हुआ था। वे किताबों में से रेंगकर बाहर मेरे कम्बलों में घुस गये थे और मैं कुछ ही दिनों में उनकी अजीब गंध से तथा उनके पारदर्शी रंग से खूब परिचित हो गयी थी। कम्बल में खटमल भी घुस आये थे। जैसे-जैसे वे मेरे खून की खुराक पाकर मोटे होते उनका रंग भी गाढ़ा होता जाता।

हमारे नहाने का समय हर रोज़ की एक खास घटना थी जब मुझे अपनी कोठरी से बीस गज़ की दूरी पर सीमेन्ट की लम्बी नली से लटकते एकमात्र नल तक जाने की इजाजत मिलती थी। नल में पानी सवेरे, दोपहर और शाम को कुछ घंटों के लिए आता था। मेरे नहाने के समय सारे क़ैदियों को सींखचों के अन्दर बंद कर दिया जाता था—केवल महिला वॉर्डर मेरे सामने खड़ी रहती थी। मैं नाली के पास बने धूप से जल रही क्रांक्रीट की पटिया पर बैठ जाती और नल से लटक रही बाल्टी में अल्यूमीनियम का अपना जग डुबोकर पानी निकालती और सर पर डालती। नहाने का पानी उसी नाबदान के बराबर में बिछे पाइपों से होकर आता था जिससे पुरुषों के वॉर्ड का गंदा पानी बहता था और गर्मी के मौसम में पानी काफ़ी गरम रहता था। गंदे पानी की बदबू के बीच चिलचिलाती धूप और भीषण लू में नहाने के बाद जब तक मैं जलती ज़मीन पर से नंगे पाँव चलती हुई अपनी कोठरी में पहुँचती तब तक मैं काफ़ी झुलस गयी होती और नहाने की थोड़ी भी

ताज़गी का एहसास नहीं होता। एक महिला वॉर्डर ने मुझे बताया कि क्रांक्रीट की पटिया पर किस तरह कपड़ा धोते हैं। नहाकर पहनने के लिए मेरे पास दो टुकड़ों के अलावा कोई कपड़ा नहीं था—जब तक मेरा स्लैक्स और टी-शर्ट सूख नहीं जाता मैं उन कपड़ों को अपने कमर के गिर्द लपेटे रहती। प्रायः ऐसा होता कि इस अजीबोगरीब पोशाक में ही मुझे जेल के अफ़सरों का सामना करना पड़ जाता लेकिन अपनी सारी स्थिति की विचित्रता को देखते हुए मैं कभी परेशान नहीं होती। एक बार मैंने सुपरिंटेंडेंट से ब्लाउज़ की माँग की लेकिन उसने कहा कि वह ऐसे किसी क़ैदी की ज़रूरत नहीं पूरी कर सकता जिसे जल्दी ही रिहा किया जाना हो।

काफ़ी रात गये कल्पना से ज़ोर-ज़ोर से बातचीत करने के बाद जब मैं थक जाती तो दरवाज़े के सींखचों को पकड़कर चुपचाप खड़ी जेल की बाहरी दीवार के पार खड़े पीपल के पेड़ के ऊपर से झाँक रहे शांत और निर्मल चाँद को निहारती रहती। मैं देखती कि बगल के पुरुषों की डार्मिटरी की छत पर एक सफ़ेद उल्लू चुपचाप बैठा हुआ है, नाबदान के चारों तरफ़ मेढक उछल रहे हैं, मेरी कोठरी के बाहर हज़ारों सोती चिड़ियों को अपनी गोद में लिये नीम का लम्बा पेड़ खड़ा है और मैं सोचती रहती कि एक अजनबी भाषा और बेबस स्थितियों से भरी इस दुनिया में कम-से-कम प्रकृति ही एक ऐसी चीज़ है जिससे मैं भली-भाँति परिचित हूँ और जिसका मैं स्पर्श कर सकती हूँ। मैं इस बात के लिए कृतज्ञ थी कि जेल का जीवन मुझे प्रकृति से पूरी तरह अलग नहीं कर सका था।

शुरू के दिनों से ही हमने जान लिया था कि जेल-अधिकारियों की जड़ता, अनिच्छा और अक्षमता से संघर्ष किये बिना हम अपनी हालत में किसी भी तरह का सुधार नहीं करा सकतीं। मैं या कल्पना किसी को भी पहले कभी जेल जाने का अवसर नहीं मिला था इसलिए हमें जेल के क़ायदे-क़ानूनों की महज़ एक अस्पष्ट जानकारी थी। सम्भवतः अपनी स्कूल-टीचर की अनुशासन-प्रियता से ही प्रेरित होकर मैंने 'जेल मैनुअल' देखने की इच्छा ज़ाहिर की। मेरे इस अहानिकर अनुरोध का जो जवाब मिला उससे मैं बौखला उठी। मुझे बताया गया कि 'जेल मैनुअल' की केवल एक ही प्रति है। उसे किसी और को नहीं दिया जा सकता। नियम के अनुसार 'जेल मैनुअल' की एक प्रति हमेशा जेल के कार्यालय में रखी रहनी चाहिए। मुझे यह भी बताया गया कि मैं जेल के कार्यालय में जाकर भी 'जेल मैनुअल' नहीं देख सकती। यदि जेल का संचालन नियमों के अनुसार होता तो मैं इसकी कभी माँग नहीं करती। अन्ततः जेलर ने साफ़-साफ़ शब्दों में जवाब दिया : 'जेल मैनुअल' है ही नहीं। यह कहीं उपलब्ध भी नहीं है---जेल का संचालन 'मैनुअल' में लिखी बातों की स्मृति के आधार पर किया जाता है। किसी लिखित क़ायदे-क़ानून को न देख पाने की वजह से हमारे लिए अपने अधिकारों के बारे में जानकारी हासिल करना असंभव था और यह जानना भी कठिन था कि हमारी कौन-सी ज़रूरतें वैधानिक ढंग से पूरी की जा सकती हैं। अधिकांश जेल-कर्मचारियों का रवैया यह था कि जेल में जितने लोग बंद हैं उन्होंने कोई-न-कोई अपराध तो किया ही होगा और सरकार का, जो उनमें साकार थी, यह अनुग्रह है कि वह सबको भोजन और रहने की जगह दे रही है। जो लोग नियम जानना चाहते हैं और 'अधिकारों' की बात करते हैं वे एक घृणित उपद्रव में लगे हैं। जो भी हो, शुरू से ही हमें उन स्थितियों का सामना करना पड़ रहा है जिसमें अधिकारियों से संघर्ष करने के अलावा हमारे पास और कोई विकल्प नहीं था।

यदि हम अनुचित स्थितियों को वर्दाश्त करने की मिसाल क़ायम कर देते हैं तो वे निश्चित रूप से इसका लाभ उठा लेंगे।

हर रोज़ दोपहर के आसपास मेटिन सींखचेदार दरवाज़ों के नीचे से तश्तरी में भोजन मेरी ओर खिसका देती थी और खाने के लिए मुझसे कहती। हर रोज़ का खाना एक जैसा ही होता था—कंकड़ और धान की भूसी मिला गीला चावल, मसूर के दानों को लिये काला-हरा पानी चित्तीदार छिलकों सहित आलू के पाँच-छः टुकड़े जिसपर चावल की माड़ी का चिपचिपापन होता था, मिर्चें और हल्दी। एक दिन तो वह खासतौर से वेहद अरुचिकर लगा। तश्तरी में से पानी चू रहा था और पत्थर के फ़र्श पर चारों तरफ़ बिखरा हुआ था। मैं अभी उसे छूने की सोच ही रही थी कि बग़ल की कोठरी से कल्पना ने मुझे आवाज़ दी कि मत खाओ। हमने फ़ैसला किया कि जब तक खाना अच्छा नहीं मिलता हम लोग भूख-हड़ताल पर रहेंगी। तीन दिन बाद जेलर आया और उसने आदेश दिया कि कल्पना नक्सलवादियों के वार्ड से खाना ले सकती है जहाँ पहले से ही घटिया खाने के मामले को लेकर भूख-हड़ताल चल रही थी। मैं अभी भी पेचिश से पीड़ित थी और मेरे वारे में आदेश दिया गया कि मुझे जेल के अस्पताल से खाना मिलेगा। दूसरे दिन मैंने अपनी दाल में से चौदह सावुत मिर्चें डॉक्टर को दिखाने के लिए निकालकर अलग रख लीं और डॉक्टर से इस वात की शिकायत की कि कमज़ोर पाचन-शक्ति के लिए यह उत्तम आहार नहीं है लेकिन डॉक्टर ने मेरी शिकायत में कोई रुचि नहीं ली।

थोड़े ही दिन वाद कुछ अन्य लोगों ने—जो उसी अभियान में गिरफ़्तार हुए थे जिसमें हम लोग पकड़े गये थे—कल्पना के लिए भेजे जाने वाले खाने में छिपा-कर एक संदेश भेजने की कोशिश की। मैमून ने हर वार की तरह हम तक ख़ाना पहुँचने से पहले अपना हिस्सा निकालते समय, चपातियों के बीच रखी चिट्ठी पकड़ ली। इसके वाद तय हुआ कि हमें अपना खाना खुद ही बनाना चाहिए। इस काम के लिए हमें एक दिन के अन्तर से कुछ घंटों के लिए अपनी कोठरी से बाहर रहना होगा। हम यह सोचकर फूली नहीं समायीं कि हम में से एक की कोठरी को सीमित अवधि के लिए ही सही खोलने की अनुमति का मिलना एक महत्त्वपूर्ण सफलता है।

हमारा साप्ताहिक राशन हर इतवार को हमें मिल जाता था। इसमें हमेशा ही चावल, मोटा भूरा आटा, लाल मसूर, आलू थोड़े प्याज़, थोड़ा सरसों का तेल, हल्दी तथा मुट्ठी भर मिर्चें होती थीं। इन सामानों को रखने के लिए हमें कोई बर्तन नहीं दिया गया था पर हमने वॉर्डर से दो बोरियों का इंतज़ाम कर लिया था ताकि कल्पना की कोठरी के कोने में सामान के इन छोटे-छोटे टीलों को ढका जा सके। हफ़्ते में एक बार हमें तगड़े और ज़बर्दस्त गंध वाले बकरे का मांस दिया जाता था जो घंटों उवालने के वाद भी चमड़े की तरह सख़्त बना रहता। योरूपीय होने की वजह से मेरे ऊपर कुछ रियायतें थोप दी गयी थीं। इन रियायतों के खिलाफ़ अर्ज़ियाँ देने के बावजूद मुझे बारीक चावल, थोड़ी चाय और चीनी तथा औरों से थोड़ा ज्यादा तेल दिया गया था। फिर भी अँग्रेज़ी राज के समय योरूपीय क़ैदियों के साथ शाही व्यवहार करने के लिए अँग्रेज़ों ने अपनी सुविधा को ध्यान में रखकर जो नियम बनाये थे और जिसे आज़ादी के वाद भी भारत सरकार ने नहीं बदला था उसकी तुलना में ये रियायतें नगण्य थीं। भंडार-घर का इंचार्ज क़ैदी एक वहशी-सा दिखने वाला व्यक्ति था जिसके सर के काले छल्लेदार बाल

कंधों तक झूल रहे थे। जेल में अपनी इस असरदार स्थिति से वह काफ़ी कमाता था क्योंकि उसकी देखरेख में ऐसे तमाम सामान थे जिन्हें वह बेच सकता था और बहुधा वह मेटिन के लिए या किसी अन्य औरत के लिए जिसे वह पटा सका था कोई-न-कोई चटपटी चीज़ ले आता।

अब से हमारे दैनिक कार्यक्रम में 'खाना बनाना' एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। हम हर सम्भव तरीका अपनाते थे ताकि खाना बनाने का काम अधिक-से-अधिक देर तक जारी रखा जा सके और इस प्रकार हममें से कोई एक बाहर रह सके। खाना बनाने के असली तरीके में अत्यन्त न्यूनतम समय लगता था। हम करते यह थे कि चावल, दाल और आलू को एक ही डेगची में रखकर घंटों उबालते रहते थे, जब तक वह एकदम गलकर दलिया की तरह नहीं हो जाता था। अगर वॉर्डर हड़बड़ी करती थी तो हम उसे बता देते कि हम लोग 'अँग्रेज़ी' ढँग का खाना बना रही हैं जिसके पकने में काफ़ी समय लगता है। हम न जाने कितने कप हल्की और बिना दूध की चाय पीं जाते। साथ ही हम खाने-पीने की हर चीज़ में अल्यूमीनियम के बर्तनों की खनक के भी आदी हो गयी थीं। हम घंटों बिना थके बातचीत करती रहतीं। कुछ ही हफ़्तों के अन्दर कल्पना के बारे में मैं और मेरे बारे में कल्पना इतनी जान चुकी थी जितना हम दोनों के परिवार के लोग भी नहीं जानते रहे होंगे। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि मैं उससे भारतीय रीति-रिवाजों और संस्कृति के बारे में काफ़ी बातें सीख सकी। शुरू के उन कष्टदायक महीनों में उसकी मौजूदगी ने मुझे काफ़ी राहत दी; मुझे एक-एक चीज़ समझाते हुए, मेरे लिए लोगों की बातचीत का अँग्रेज़ी में अनुवाद करते हुए और मेरी खीज को अपनी अथक सहनशक्ति के साथ नियंत्रित रखते हुए कल्पना ने मुझे उन महिलाओं के बीच स्वीकार्य बनाने में बेहद मदद की जिन्होंने पहले कभी किसी अँग्रेज़ को नहीं देखा था। मैं नहीं जानती कि यदि वह नहीं होती तो मैं क्या करती!

बरसात शुरू होने के साथ ही हमारे सामने तमाम कठिनाइयाँ पैदा हो गयीं। लगभग हर रोज़ वर्षा होती थी। दोपहर ढलते ही चारों तरफ़ भयानक अँधेरा छा जाता था और तेज़ हवा के साथ मूसलाधार बारिश होने लगती थी। तूफ़ान के हर झोंके के साथ हमारी कोठरी में पानी भर आता, कम्बल गीले हो जाते और हम कोने में दुबक जातीं—कोठरी में थोड़ी भी जगह सूखी नहीं रह जाती जहाँ हम सो सकें। सुपरिटेंडेंट ने हमें इस बात की इजाज़त दी कि हम सलाखों के ऊपरी हिस्से में जूट की चटाइयाँ बाँधकर आड़ कर लें लेकिन साथ ही उसने इस पर भी ज़ोर दिया कि नीचे का हिस्सा हम खुला ही छोड़ें ताकि वॉर्डर हमारी गतिविधियों पर निगाह रख सके। नतीजा यह हुआ कि बारिश का पानी अबाध गति से अन्दर आता रहा। बार-बार कोशिश करने पर भी हमारी कोयले वाली अँगीठी नहीं जल पाती थी और कभी-कभी तो आँधी-पानी में हम काफ़ी रात गये तब तक भूख से कुलबुलाते रहते जब तक हममें से कोई काली धारियों से युक्त धुएँ के गंध और स्वाद से भरपूर दो अधसिकी चपातियों का इंतज़ाम नहीं कर देता। इस सबके बावजूद हमने बरसात का स्वागत किया क्योंकि इसने हमें अतिरिक्त आज़ादी दे दी थी। उस मूसलाधार बारिश में किसी अधिकारी के आने का साहस नहीं होता था इसलिए हम निश्चित होकर कुछ घंटे बिना रोकटोक के बातचीत कर लेते थे। हममें से एक कोठरी के अन्दर की तरफ़ और दूसरी बाहर की तरफ़ बैठ जाती और जूट की चटाई से होकर बारिश की बूँदें हमारे ऊपर टपकती

रहतीं। वॉर्डर सोचती थी कि हम लोग सनकी हैं लेकिन हफ़्तों तक क़ैद-तनहाई काटने के बाद हम बातचीत का कोई भी अवसर हाथ से निकलने देना नहीं चाहती थीं। हम आपस में विचार-विमर्श करतीं कि अदालत में भेजे जाने पर हम क्या करेंगी। हम अपने बचाव की योजना बनातीं और कटघरे से दिये जाने वाले अपने अथक आशावाद से भरे भाषण तैयार करतीं।

कई बार यह अफ़वाह सुनने को मिली कि हमें अमुक तारीख़ को अदालत में ले जाया जायेगा लेकिन हर बार वह तारीख निकल जाती और सिवाय इसके कि हम एक मोटे और आत्मतुष्ट स्थानीय मजिस्ट्रेट के सामने जेल के कार्यालय में खड़े होने के लिए भेजी जायें, कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटती; और वह मजिस्ट्रेट हर बार अपनी लाचारी का बयान करते हुए बताता कि चूँकि हम एक दूसरे ज़िले में गिरफ़्तार की गयीं थीं इसलिए हम लोगों का मामला उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर का मामला है। फिर भी ऑफ़िस तक जाना हमारी दिनचर्या में एक सुखद तबदीली थी और मेरे लिए हमेशा यह एक अपूर्ण और छिपी आशा थी कि शायद मुझे किसी तरह अमलेन्दु दिख जाये। एक दिन हमारी मुलाक़ात उन लोगों में से एक व्यक्ति से हुई जिन्हें उसी समय पकड़ा गया था जब हमारी गिरफ़्तारी हुई थी। उसने हम लोगों से कहा कि हम राजनीतिक बंदी का दर्जा पाने की माँग करें। यदि हमें वह दर्जा मिल गया तो हम बेहतर सुविधाएँ पा सकेंगे। मैंने और कल्पना ने इसके लिए प्रार्थना-पत्र दिया लेकिन हम यह तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या हमें अन्य महिला क़ैदियों की तुलना में किसी विशिष्ट व्यवहार की माँग करनी चाहिए क्योंकि इससे उन महिलाओं से अलग-थलग पड़ जाने का हमें डर था। लेकिन हमें चिंता करने की कोई ज़रूरत नहीं थी। सुपरिंटेंडेंट ने साफ़-साफ़ कह दिया कि हम लोग अपराधियों की श्रेणी में आते हैं और हमें जो दर्जा मिला है वही जारी रहेगा।

पहली बार जेल-कार्यालय में जाने पर हमने मजिस्ट्रेट से कहा कि हमारे ऊपर लगाये गये आरोपों को विस्तार से बताया जाय। उसने भारतीय दण्ड संहिता की चार धाराएँ उद्धृत कीं। हम लोगों पर अन्य ५० लोगों के साथ (जिन्हें उसी इलाके में और उसी समय पकड़ा गया था जिस समय हम लोगों को गिरफ़्तार किया गया था) घातक हथियारों के साथ दंगा करने, हंगामा मचाने, हथियारों सहित डाका डालने और हत्या का प्रयास करने के आरोप लगाये गये थे। बस, एक चीज़ मुझे याद है कि यह सोचकर हम लोगों ने राहत की साँस ली थी कि इन अपराधों में अधिकतम सज़ा दस वर्ष की होगी। कुछ सप्ताहों के बाद मजिस्ट्रेट ने आना बंद कर दिया और उसने हमारे वारंटों का नवीकरण कर दिया। उसे हमने देखा तक नहीं। यह सरकार की अपने बनाये क़ानून की व्याख्या थी कि कोई भी गिरफ़्तार किया गया व्यक्ति गिरफ़्तारी के चौबीस घंटों के अन्दर मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया जायेगा और यह प्रक्रिया हर पन्द्रह दिन बाद दोहरायी जायेगी।

एक महीने से ज़्यादा समय तक मुझे अन्य लोगों के सम्पर्क से वर्जित रखा गया। फिर कलकत्ता-स्थित उप-उच्चायुक्त के कार्यालय से एक ब्रिटिश अधिकारी मुझसे मिलने आया और उसे मिलने की इजाज़त दी गयी। भारतीय अधिकारियों ने उसे पहले से ही सारी घटनाओं के बारे में अपने ढंग से बता रखा था और इस ब्रिटिश अधिकारी ने मेरे स्वास्थ्य और खान-पान के बारे में ही जानकारी ली -- इसके अलावा उसने और कुछ नहीं पूछा। उसने मुझे बताया कि मैंने नीचे के कपड़े बदलने के लिए जो अनुरोध कर रखा है उसके लिए राज्य की राजधानी पटना से

अनुमति लेनी होगी। यह सोचकर मुझे हँसी आ गयी कि अपने कपड़े बदलने के लिए मुझे बिहार सरकार के मुख्य सचिव के नाम एक अर्ज़ी लिखनी पड़ेगी।

अमलेन्दु से मिलने के मेरे अनुरोध पर इस ब्रिटिश अधिकारी ने कोई जवाब नहीं दिया। भारतीय अधिकारी मेरे विवाह की वैधता को विवादास्पद बना रहे थे। उनके लिए यह एक बहाना था ताकि मैं अमलेन्दु से सलाह-मशविरा न कर सकूँ और उससे मिले विना मैं इस सिलसिले में कुछ कर भी नहीं सकती थी। अपनी कोठरी में वापस आने के बाद मैं इस बातचीत के बारे में सोचती रही और मुझे यह सोचकर बहुत गुस्सा लगा कि न तो किसी गंभीर विषय पर विचार-विमर्श हुआ और न इस बातचीत में कोई उपलब्धि ही हुई। कुछ महीनों बाद एक दूसरे ब्रिटिश अधिकारी ने बिना किसी लाग-लपेट के मेरे सामने सरकारी नीति पेश की: भारत पर जो कुछ गुज़र रहा है उससे मेरा कोई मतलब नहीं होना चाहिए और मुझे अपने सारे सिद्धांतों को भुलाकर जेल से बाहर आने के लिए अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उस पहली मुलाक़ात के बाद, जिसमें स्पेशल ब्रांच के पुलिस-अधिकारी मौजूद थे, समाचारपत्रों ने विस्तार से मेरी पोशाक का वर्णन किया और लिखा कि मैंने भारतीय अधिकारियों को बताया है कि जेल में मेरे साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया जा रहा है।

इसके कुछ ही दिनों बाद मैं अपने नाम से आया पहला पत्र पाकर बेहद खुश हो उठी। यह पत्र कुछ गुमनाम स्कूली लड़कों द्वारा लिखा गया था। उसमें भारत को सही रास्ते पर ले चलने में मेरी सहायता के समर्थन का आश्वासन दिया गया था। उसमें मेरे प्रति आभार व्यक्त किया गया था। पत्रों के मामले में बाद में मुझे बड़े कटु अनुभव हुए और आज भी मुझे आश्चर्य होता है कि इस तरह की भावनाओं से भरा पत्र किस तरह सेंसर की निगाह से बचकर मेरे पास तक पहुँच गया था। उसी दिन कल्पना को मद्रास से लिखा गया एक महिला का पत्र मिला जिसमें उसने एक 'भद्र धनाढ्य व्यक्ति' की ओर से लिखा था कि वह हम दोनों में से किसी एक से विवाह करना चाहता है क्योंकि हम दोनों "खूबसूरत हैं और पच्चीस वर्ष से कम उम्र की हैं।" (हम दोनों का नाम अखबारों में प्रकाशित हुआ था) इस पत्र के बारे में हम यह तय नहीं कर पाये कि जो कुछ इसमें लिखा है वह गंभीरता के साथ लिखा गया है लेकिन मजाक-ही मजाक में हमने वॉर्डर से पत्र लिखने का एक फ़ॉर्म लाने को कहा और उस मद्रासी महिला के पास लिख भेजा कि इस सिलसिले में वह और विस्तार से जानकारी दे। इसके बाद हमारे पास कोई खबर नहीं आयी।

हम अन्य क़ैदियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए बहुत इच्छुक थे लेकिन सम्पर्क-सूत्र खतरे से भरे हुए थे क्योंकि जिन औरतों ने हमारी कोठरियों के बहुत निकट आने की कोशिश की थी उन्हें मेटिन और महिला वॉर्डरों ने बुरी तरह डाँट दिया था और कभी-कभी तो पीट भी दिया था। फिर भी कोई आकर्षण था जिसकी वजह से उन महिलाओं में से अपेक्षाकृत साहसी महिलाएँ हम लोगों की तरफ़ खिंच आती थीं। उन धूप भरी दोपहरियों में जब सभी लोग आराम कर रहे होते थे वे हमारे सींखचों की परछाईं की तरह प्रकट होतीं हालांकि मैं उनके साथ कोई अर्थपूर्ण बातचीत नहीं कर सकती थी फिर भी उनके चेहरे पर मेरे प्रति जो हमदर्दी होती थी और मेरे लिए चिंता के जो चिह्न दिखायी देते थे उससे मैं सचमुच बहुत विचलित हो जाती थी। रात में उनमें से एक किसान लड़की मेरा लैम्प लेकर आती थी। जैसे ही वह दरवाज़े के अन्दर फ़र्श पर लैम्प

को रखती थी, वह मेरी तरफ़ देखकर झट से मुस्करा देती और धीरे से उस तरफ़ देखती जिधर मेटिन रहा करती थी क्योंकि मेटिन ने उससे मना किया था कि वह मुझसे बातचीत न करे। डॉक्टर मेरे लिए जो संतरा भिजवाता था उसमें से मैं रोज़ आधा संतरा बचाने लगी ताकि उस लड़की के आते ही मैं उसे धीरे से दे सकूँ। उस आधे संतरे को अपनी साड़ी में छुपाकर वह सीधे शौचालय की तरफ़ भागती थी ताकि मेटिन और महिला वॉर्डरों से छिपकर वह खा सके। क़ैदियों के साथ कल्पना की बातचीत से हमें पता चला था कि उनमें से अधिकांश मुक़दमा चलने का इंतज़ार कर रही हैं जबकि इनमें से अनेक पहले ही कई वर्ष जेल में बिता चुकी थीं। कईयों के पास छोटे-छोटे बच्चे थे जो गिरफ़्तारी के समय इतने छोटे थे कि उन्हें माँ से अलग नहीं किया जा सकता था और वे अब जेल में ही पल रहे थे तथा बड़े हो रहे थे। मेरी ख़ुशी के ये सबसे बड़े स्रोत थे। अपने बड़ों की डाँट-फटकार के बावजूद वे मेरी कोठरी की ओर खिचते चले आते थे। दरवाज़े के सींखचों के सामने निकले पत्थर पर वे बड़ी मुश्किल से चढ़ पाते और वहाँ से अपने बालों में कंघी करने को कहते या शीशे में अपना चेहरा देखने का अनुरोध करते या मेरा चश्मा लगाने की माँग करते। मेरी कोठरी की सफ़ाई के लिए मुझे जो झाड़ू मिला था उसकी सींकों से मैं खिलौने बनाकर उनका मन बहलाती और उनके लिए मैं अपने खाने में से थोड़ा-सा बचाकर रखे रहती।

तीन महीनों की आंशिक क़ैद-तनहाई के बाद मैंने यह उम्मीद छोड़ दी थी कि जेल-सुपरिंटेंडेंट हमें अब फिर कभी एक साथ रहने देगा। यहाँ तक कि मैंने अपने लिए एक सूत्र बना लिया था : "उन चीज़ों की व्यर्थ चाह करके, जिसे अधिकारी-गण तुम्हें नहीं देंगे, तुम उन्हें कभी यह झूठा संतोष मत दो कि उन्होंने तुम्हें अमुक चीज़ से वंचित कर दिया है। अपने विकल्प ख़ुद ही ढूँढ़ो।" फिर सितम्बर के महीने में मेरी कोठरी के बाहर से गुज़रते समय एक दिन सवेरे जेल-सुपरिंटेंडेंट ने मुझसे पूछा, "क्या तुम दोनों दिन भर साथ रहना पसन्द करोगी?" जवाब देने की कोई ज़रूरत नहीं थी। अगले दिन सवेरे हमारी कोठरियों के ताले खोल दिये गये और हमें दिन की रोशनी में तथा 'आज़ादी' के एक नये युग में विचरण करने की छूट दे दी गयी।
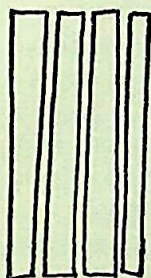
एक राजनीतिक बंदी

जिस दिन पहली बार हमारी कोठरी के दरवाज़े दिन भर के लिए खोले गये और हमें सवेरे से शाम तक खुले में रहने दिया गया, ठीक उसी दिन मैमून जेल से चली गयी। उसके जाने से हमने राहत की साँस ली क्योंकि दूसरे क़ैदियों के साथ जिस तरह वह धूर्तता के साथ पेश आती थी और उन पर जिस तरह धौंस जमाती थी, उसे देखते हुए हम लोगों के लिए चुप रहना अब बहुत मुश्किल होता जा रहा था। वह जिस तरह जेल से गयी उसकी किसी ने आशा नहीं की थी। असल में जब छह वर्षों के बाद अंततः उसके मुक़दमे की कार्रवाई शुरू हुई तो पता चला कि अभियोग पक्ष के एक गवाह की मृत्यु हो चुकी है और दूसरा गवाह लापता है। सबूत न होने की वजह से जज ने उसको और उसके पति को अपराध से बरी कर दिया। अपने पति के साथ ही मिलकर उसने उस नौजवान औरत को बहकाया था, जो बाद में उसकी सौत की तरह से रहने लगी थी और जो ख़ुद भी गिरफ़्तार है और मुक़दमा चलने का इन्तज़ार कर रही है।

मैमून के बाद नागो नाम की २२-२३ साल की एक औरत ने उसका कार्य-भार संभाला। नागो कई सालों से इस जेल में थी और हत्या करने के प्रयास के आरोप में मिली सात वर्ष की सज़ा में से अभी कई वर्ष इस जेल में कटने बाकी थे। जेल के अधिकारीगण आमतौर से ज़िम्मेदार पदों पर ऐसे क़ैदियों को रखते थे जिन्हें लम्बी सज़ाएँ मिली हैं। इन क़ैदियों को यह प्रलोभन दिया जाता था कि यदि वे अच्छा काम करेंगे तो उनकी सज़ा में कमी कर दी जायेगी। इस प्रकार मेटिन और मेट के रूप में सरकार के पास कर्मचारियों का एक ऐसा वर्ग था जिसे संतोषजनक सेवा और वफ़ादारी के बदले बोनस के रूप में सज़ा में कमी कर दी जाती थी या कोई पद दे दिया जाता था और साथ ही यह वर्ग कुछ पैसे भी कमा सकता था। नागो भी मैमून की तरह ही दूसरे क़ैदियों पर छोटे-छोटे अत्याचार करने से बाज़ नहीं आती थी लेकिन हम लोगों की वजह से वह बहुत सतर्क रहती

थी। उसे यह पता था कि चूंकि अब सारे दिन हम लोग अपनी कोठरी से बाहर रहते थे और देख सकते थे कि महिला वॉर्ड में क्या हो रहा है इसलिए हम लोग स्थायी तौर पर उसके लिए परेशानी का कारण थीं।

तीन महीनों तक एक कोठरी में बन्द रहने के बाद जेल का समूचा अहाता हमारे लिए बहुत उत्तेजक लग रहा था। हम अपना अधिकांश समय खुली हवा में घूमने में बिताती थीं और यह हमें ही तय करना था कि इस समय का कैसे इस्तेमाल किया जाये। जैसे-जैसे मौसम ठंडा होता गया, मेरे स्वास्थ्य में सुधार होने लगा और पतझड़ के खुले दिनों ने मेरे अन्दर काफ़ी शक्ति का संचार किया। कभी-कभी कल्पना और मैं सवेरे साढ़े पाँच बजे से लेकर दोपहर तक लगभग बिना रुके टहलती रहती थीं। दोपहर में धूप तेज़ होने पर हम अपनी ठंडी कोठरी में पहुँच जातीं। अहाते का चक्कर लगाते समय हम ख़ूब खुलकर हवा में बाँहें फेंकतीं और गाने गातीं। ऐसा लगता था, जैसे हम किसी सैर पर निकली हैं। दिन के तीसरे पहर हम लोग अमरूद के पेड़ के नीचे बैठ जातीं। कल्पना जर्मन भाषा सीखना चाहती थी और मैं हिन्दी तथा बंगाली। पढ़ने-लिखने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं थे सिवा इसके कि हम पेड़ों की टहनियाँ तोड़ लें और उन टहनियों से लाल धूल में लिखकर अपना अध्ययन जारी रख सकें।

सिद्धांतरूप में हज़ारीबाग जेल केवल उन्हीं क़ैदियों के लिए बनाया गया था जो मुक़दमा चलने का इंतज़ार कर रहे हों और जिन्हें इस जेल में कुछ ही दिनों के लिए रहना हो, इसलिए यहाँ कर्मचारियों को ज़्यादा काम नहीं करना पड़ता था। सवेरे के समय औरतें सरकारी वर्दियों में बटन लगाने बैठतीं। ये वर्दियाँ पुरुष क़ैदियों के सिलाई विभाग में तैयार की जाती थीं। इसके बाद वे डार्मिटरी की सफ़ाई करतीं, बागबानी में समय बितातीं, खाना बनातीं या अगर कोई काम नहीं होता तो बैठकर बस केवल बातचीत करती रहतीं। हज़ारीबाग में मुझे एक अजीब बात देखने को मिली—यहाँ क़ैदियों को मसूर की दाल और सब्ज़ी पकाकर दी जाती थी लेकिन चावल या रोटी साथ में न देकर उन्हें आटा और बिना पका चावल दिया जाता था जिसे उन्हें खुद ही पकाना पड़ता था। उनके पास न तो कोई ईंधन था और न कोई बर्तन। एक दिन का खाना छोड़ देने पर कोयला तो उन्हें मिल जाता था लेकिन बर्तन की जगह पर उनको अल्यूमीनियम की उसी तश्तरी का इस्तेमाल करना पड़ता था जिसमें सब्ज़ी और दाल थोड़ी देर पहले मिली होती थी।

अब चूंकि हम लोगों को बाहर घूमने की अनुमति मिल गयी थी इसलिए बहुधा हम अपने साथी क़ैदियों के साथ बैठकर गप लड़ाती रहती थीं। बातचीत का काफ़ी हिस्सा मेरी समझ में नहीं आता था हालांकि कल्पना अनुवाद करके मुझे बता दिया करती थी। मैंने महसूस किया कि जितनी जल्दी सम्भव हो मुझे हिन्दी सीख लेनी चाहिए।

शाम को जवान औरतें गाँव का कोई गीत गाते हुए एक क़तार में नाचतीं। हमने इस तरह के कई नाच सीखे। ये नाच बड़े साधारण ढंग से शुरू होते थे और इसमें एक ही क्रिया को बार-बार दोहराया जाता था। नाचते समय जब मुझे लगता कि क़दमों से थाप देने का तरीका मैं अच्छी तरह सीख गयी हूँ कि अचानक ही मैं सब कुछ भूलकर दूसरे ही ढंग की उछल-कूद करने लगती और लोग हैरानी से मुझे देखते रह जाते।

लेकिन ज़िन्दगी का एक और पहलू यहाँ था। जाड़ा शुरू होते ही पर्याप्त कपड़ा और कम्बल न होने की वजह से सारे क़ैदियों को काफ़ी तकलीफ़ होने लगी। मुझे और कल्पना को अपने उन सैंडिलों की बड़ी याद आती जिन्हें हमारी गिरफ़्तारी के समय ले लिया गया था और फिर कभी लौटाया नहीं गया। जाड़ा तेज़ होने के साथ-साथ हमारे पाँव फट गये और उनसे खून निकलने लगा। हमारे साथी क़ैदियों में से अधिकांश ने अपनी ज़िन्दगी में कभी कोई सैंडिल या चप्पल नहीं पहना था लेकिन उनकी सख्त एड़ियाँ भी जाड़े से फट गयीं और ज़ख्म के कारण उनमें पीड़ा होने लगी। पथरीले फ़र्श के कारण प्राय: बच्चे ठंड से और अपने घावों की टपकन से चीख उठते थे। हम सुबह से टहलने और व्यायाम करने का कार्यक्रम भी जारी नहीं रख सके। हमें पैर में पहनने के लिए कोई इंतज़ाम सोचना पड़ा।

इसके लिए एक योजना बनाने के बाद हमने एक महिला वॉर्डर को पकड़ा जो काफ़ी दयावान दिखती थी और उससे अपने बालों को काटने का बहाना करके एक कैंची की माँग की। वह बेचारी उस समय बहुत घबरा गयी जब उसने देखा कि हमने अपने कम्बल के एक सिरे से एक पतली पट्टी काट ली है लेकिन उसे यह कहकर हम लोगों ने शांत कर दिया कि यदि वह चुप रहेगी तो जेल का कोई अधिकारी हमारी इस हरकत को भाँप भी नहीं पायेगा। कम्बल के टुकड़े के बीच हमने अखबार और गत्तों के कई परत बिछा दिये और उसे एक जाली से बाँध दिया ताकि पैर में पहना जा सके। जाली का इंतज़ाम भी हमने जेल के अस्पताल से किसी-न-किसी बहाने कर लिया था। अब हम अपने घूमने-फिरने का कार्यक्रम फिर शुरू कर सकते थे। हाँ, हमने जेल के अधिकारियों से कई बार कहा था कि वे पैर में पहनने के लिए किसी चीज़ का इंतज़ाम कर दें लेकिन चूँकि हम

कल्पना की और मेरी कोठरी
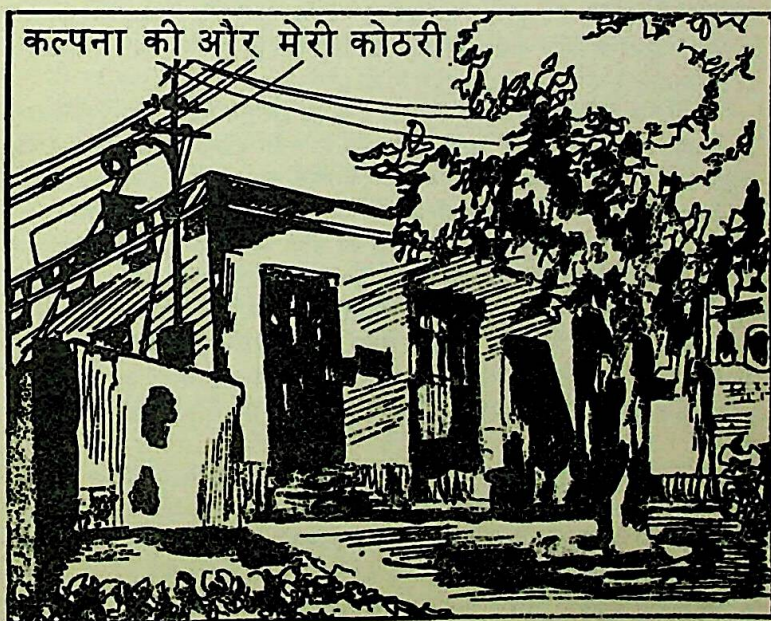
राजनीतिक बंदियों की श्रेणी में नहीं आते थे इसलिए हमें इस तरह की माँग का अधिकार नहीं था हालाँकि हज़ारीबाग में जाड़ों में रात का तापमान कभी-कभी शून्य डिग्री से थोड़ा ही ऊपर रहता था।

बात नवम्बर, १९७० की है जब हमें पता चला कि 'राजनीतिक बंदी' का अर्थ वस्तुतः क्या है। एक रात अचानक मुझे आदेश दिया गया कि मैं अपनी कोठरी खाली कर दूँ और कल्पना के साथ रहूँ। कल्पना के साथ रहने की खुशी से मैं इतनी विभोर हो गयी कि मैंने फ़ौरन ही इस आदेश का पालन किया। इस आश्चर्यजनक अनुकम्पा की उत्तेजना में मैं और कल्पना कोठरी में से चुपचाप बाहर झाँकती रही और सोचती रहीं कि क्या होने जा रहा है कि तभी हमने देखा कि तमाम पुरुष क़ैदी अपने साथ बिस्तर, गद्दे कम्बल, तकिया, एक मेज़ और कुर्सी, खाना बनाने के बर्तन तथा अन्य कई सामान—जिन्हें अँधेरे में पहचाना नहीं जा सका—लेकर मेरी पुरानी वाली कोठरी में जा रहे हैं। बाद में उस कोठरी में एक नयी महिला क़ैदी ने प्रवेश किया।

अगले दिन सवेरे चीफ़-हैड वॉर्डर आया, उसने हम लोगों की गिनती की और चला गया लेकिन मेरी कोठरी की महिला क़ैदी उस समय तक भी सोती ही रही। सींखचों के अन्दर से हम कौतूहलपूर्ण मुद्रा में बच्चों की तरह बाहर झाँकते रहे और हम मच्छरदानी के अन्दर मँहगी नीली साड़ी का केवल एक कोना देख सके। इस नये क़ैदी से परिचय करने की जिज्ञासा पैदा हुई। बाद में उस सुबह हम दोनों ने उससे बातचीत की। वह खान मज़दूरों की यूनियन की सेक्रेटरी थी और हज़ारीबाग से लगभग बीस मील दूर कैंदला कोयला खान के एक मैनेजर की हत्या के सिलसिले में गिरफ़्तार हुई थी। मुझे यह एक बहुत बड़ी विडम्बना लगी कि ठाठ-बाट से रहनेवाली यह धनी औरत उन जीर्ण-शीर्ण कंकालों की प्रतिनिधि है, जो ज़मीन के नीचे अत्यंत ख़तरनाक स्थितियों वाली सीलन भरी सुरंगों में दिन बिताते हैं। इस समृद्ध महिला ने हम पर यह प्रभाव छोड़ा कि उसका उन मज़दूरों से जिनके हितों के लिए लड़ने का वह दावा कर रही है, दूर का सम्बन्ध नहीं है। यदि मानवता के एक ध्रुव पर मज़दूर हैं, तो दूसरे ध्रुव पर यह महिला!

जहाँ तक जेल-अधिकारियों की बात है वे भी इसे हम सबसे बिलकुल अलग-थलग जीव मानते थे। वह सारा दिन जेल में नहीं बल्कि ऑफ़िस में बड़े-बड़े अफ़सरों के साथ सामाजिक संसर्ग तथा सद्भावपूर्ण बातचीत में बिताती और रात के नौ या दस बजे से पहले वह कभी अपनी कोठरी में लौटकर नहीं आती। हर रोज़ सवेरे वह बाज़ार से अपनी ज़रूरत की चीज़ें मँगाने के लिए एक फ़हरिस्त बनाकर दे देती जिसे बाक़ायदा खरीदकर दोपहर से पहले-पहले उसकी कोठरी में पहुँचा दिया जाता। रोज़ाना खुराक़ में पश्चिमी पद्धति के मँहगे खाने और भारतीय व्यंजनों का होना अनिवार्य था। उसकी सनक के मुताबिक़ दर्जी कपड़े सिलता और उसके लिए सैंडिलों के कई जोड़े बाज़ार से मँगा दिये गये ताकि वह मनपसन्द सैंडिल चुन सके। 'राजनीतिक बंदी' का दर्जा पाने से उसे ये सारे अधिकार मिल गये थे।

महिला क़ैदियों में से अनेक को उसने अपना नौकर बना लिया था। वे सवेरे से शाम तक उसकी इच्छा के मुताबिक़ काम करती रहतीं और अत्यन्त व्यक्तिगत कामों के लिए आदेश देने में भी उसे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती। एक दिन मुझे यह देखकर बड़ी नफ़रत हुई कि एक जवान महिला क़ैदी उसके मासिक स्राव के खून से सने कपड़े साफ़ कर रही थी। इन सारे कामों के लिए उन औरतों को

कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था। चूँकि उन पर अभी मुक़दमा नहीं चला था इसलिए सिद्धांततः उनका यह काम 'स्वेच्छापूर्वक' किया गया काम माना जाता था हालांकि वे इससे इंकार करने की हिम्मत नहीं कर सकती थीं। जेल में जितने क़ैदी थे उनमें से मुश्किल से दस प्रतिशत ऐसे थे जिन पर मुक़दमा चल चुका था और सज़ा हो चुकी थी इसलिए क़ैदियों द्वारा किये जाने वाले अधिकांश काम 'स्वेच्छापूर्वक' किये गये कामों की ही श्रेणी में आते थे। बाद में जैसे-जैसे हालत ख़राब होती गयी तथा क़ैदी और अधिक जुझारु बनते गये, राशन की मात्रा बढ़ाने-जैसे तरीक़ों से पारिश्रमिक देने की व्यवस्था शुरू की गयी।

पन्द्रह दिनों के भीतर इस राजनीतिक बंदी ने सरकार द्वारा दिया गया खाना, कपड़ा तथा घरेलू सामान से अपनी कोठरी को भर लिया। वह पर्याप्त मात्रा में दूध, मांस, अंडे और मुर्गे खाती थी जिसे भारत के अधिकांश लोग एक विलासिता की सामग्री समझते हैं और जिनका जेल के अन्दर शायद ही कभी दर्शन होता हो। तीन सप्ताह से कम समय के अन्दर ही जब उसे ज़मानत पर छोड़ा गया तो वह इन सारी चीज़ों को अपने साथ लेती गयी। हाँ, एक महिला वॉर्डर के लिए उसने कुछ आलू जरूर छोड़ दिये थे। जब वह जेल के कार्यालय की ओर जा रही थी तो उसके पीछे-पीछे क़ैदियों की एक क़तार लगी थी जिनके सर पर उसका सामान लदा था और ऐसा लगता था कि जैसे कोई विजेता लड़ाई ख़त्म होने के बाद लूट का सामान लदवाकर ले जा रहा हो।

यह महिला राजनीतिक बंदी एक समृद्ध परिवार की थी और उसने अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए ट्रेड यूनियन की राजनीति को ऐसा मंच समझा था, जहाँ से वह सत्ता के लिए छलांग लगा सकती थी। कुछ दिनों बाद हम लोगों ने अखबारों में पढ़ा कि वह बिहार विधान सभा की सदस्या बन गयी है। उस समय तक उसने समय की आवश्यकता को महसूस करते हुए सोशलिस्ट पार्टी से अपने सम्बन्ध तोड़कर कांग्रेस से जोड़ लिये थे। मेरा ख़याल है कि उस पर लगाया गया हत्या का आरोप भी पैसों और प्रभाव के बल पर भुला दिया गया था।

फिर भी उसने हमारा एक काम किया जिसे मैं कभी नहीं भूलूंगी। हमारे मत-भेदों के बावजूद वह इस बात के प्रति सजग थी कि बिना मुक़दमा चलाये हम लोगों को जेल में रखना अन्याय है। यह समझकर मैंने सोचा कि शायद वह हमारी कुछ मदद कर सके। एक दिन मैं कुछ हिचकते हुए उसके पास गयी और उससे मैंने लिखने का सामान माँगा क्योंकि हमें इन सामानों के न होने का बड़ा अफ़सोस रहता था। मेरी इस माँग पर उसे सुपरिटेंडेंट के निर्देशों का उल्लंघन करने में संकोच हुआ फिर भी उसने मुझसे कहा कि कल जब मैं जेल के दफ़्तर में जाऊँगी तब तुम लोग मेरी मेज़ पर से कागज़ और पेंसिल 'चुरा' लेना। यह 'चोरी' बाक़ायदा सम्पन्न हुई।

बाद के वर्षों में मैंने जितने राजनीतिक बंदी देखे उन्हीं का नमूना यह महिला थी। जेल के अधिकारी इन राजनीतिक बंदियों का बड़ा ख़याल रखते थे क्योंकि भारत में राजनीति का जो रूप है उसे देखते हुए यह कहना मुश्किल था कि आज जो लोग सींखचों के अन्दर हैं वे कल कहीं सत्ता में न आ जायें और इस तथ्य को जेल-अधिकारी अच्छी तरह समझते थे। कुछ वॉर्डरों ने तो हमें भी यह आश्वासन दिया कि जब हम लोग सरकार बनायेंगे तब भी वे हमारी इसी तरह सेवा करेंगे। बहुधा यह सोचा जाता है कि सत्ता के लोभ के कारण तमाम अवांछनीय तत्त्व जेल

की नौकरी के लिए आकर्षित होते हैं लेकिन भारत में ऐसा शायद ही कभी होता हो। ऐसी स्थिति में, जहाँ नौकरी पाना बेहद कठिन काम है, लोगों को सामान्यत: केवल एक ही चीज़ से प्रेरणा मिलती है और वह है आर्थिक आवश्यकता। जेल के अधिकांश कर्मचारी महज़ इसलिए जेल की नौकरी करते थे क्योंकि उन्हें पैसे की ज़रूरत रहती थी। बेशक, जेल की नौकरी ने कुछ कर्मचारियों की क्रूर पाशविक प्रवृत्ति को निश्चय ही उभार दिया। अपनी नौकरी बनाये रखने के लिए उन्हें ऊपर से मिलने वाले आदेशों का पालन करना पड़ता था, भले ही वे आदेश कितने भी अत्याचारपूर्ण क्यों न हों, लेकिन मुझे कभी-कभी ही ऐसे मुट्ठी भर वॉर्डर मिले जिन्हें क़ैदियों को परेशान करने और उन पर धौंस जमाने में सचमुच मज़ा आता रहा हो। कुछ वॉर्डरों का तो सचमुच हमारे प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया था और वे जब ड्यूटी पर होते तो हमारे साथ आकर बातचीत करते और हमें खबरें देते। एक वॉर्डर खासतौर से मुझे पसंद करता था और मैं उसकी ड्यूटी का इंतज़ार करती मैं जानती थी कि वह अमलेन्दु के बारे में मुझे बतायेगा, जो वैसे तो मुझ से कुछ ही दीवारों के अन्तर पर था. पर लगता था जैसे हज़ारों मील दूर है। एक दिन इस वॉर्डर ने मुझे बताया कि अमलेन्दु की माँ हमसे मिलना चाहती थीं लेकिन न तो उन्हें मिलने की अनुमति दी गयी और न उन्हें वे कपड़े ही यहाँ छोड़ने दिये गये जिन्हें वह मेरे लिए लायी थीं।

जैसे-जैसे महीने गुज़रते गये, यह स्पष्ट होता गया कि हमें अपने पूर्वानुमान से कहीं ज़्यादा दिन जेल में रहना होगा। ऐसी अफ़वाहें थीं कि अक्तूबर में दुर्गापूजा की छुट्टियों के बाद हमारा मुक़दमा शुरू होगा, पर सारे त्यौहार आये और चले गये और कुछ भी नहीं हुआ। दैनिक जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ती गयीं। यदि हम घर कोई पत्र लिखना चाहतीं तो पत्र के लिए निर्धारित फ़ॉर्म प्राप्त करने में ही पाँच-छ दिन निकल जाते। अपना राशन नियमित रूप से पाने के लिए हमें वॉर्डर को याद दिलाना पड़ता। अखबारों की सेंसरशिप जारी थी और लिखने के सामान के लिए किये गये अनुरोध की उपेक्षा होती रही। हमने पैर में पहनने के लिए जिस चप्पल का ईजाद किया था, वह टूट चुकी थी और ठंडी ज़मीन के कारण पैरों में दर्द होने लगा था। कितनी बार ईंट से ठोकर खाकर मैं गिर चुकी थी और अपना पैर ज़ख्मी कर लिया था। पत्थर के ठंडे फ़र्श पर सोने से जोड़ों में दर्द होने लगा था और दिन के समय हम कोठरी के अन्दर बैठे नहीं रह पाते थे क्योंकि कोठरी में सूरज की किरणें कभी पहुँचती ही नहीं थीं। कोठरी से बाहर हवा और धूल से हम त्रस्त रहते थे और हमारी खाल सूखकर घड़ियाल की खाल-जैसी हो जाती थी। फिर भी अधिकांश अन्य क़ैदियों की तुलना में हम सौभाग्यशाली थीं। कल्पना की माँ हमारे लिए कुछ कपड़े लायी थीं। अधिकांश औरतों के पास मुश्किल से कोई पतला कपड़ा होता था जिससे वे भयंकर ठंड से अपनी रक्षा करती थीं और सारी रात फटे-पुराने कम्बलों में सिमटी जाड़े से काँपती रहती थीं। रद्दी क़िस्म की और अत्यन्त कम मात्रा में उनको मिलने वाली दाल तथा सब्ज़ी से हम बहुत पहले से ही हैरान थे।

दिसम्बर शुरू होते ही हमने तय किया कि हमें एक लम्बी भूख-हड़ताल शुरू करनी होगी। माँगों में हमारी निजी तथा अन्य क़ैदियों की माँगें शामिल रहेंगी। जेलर ने हमसे कहा कि भूख-हड़ताल से कोई फ़ायदा नहीं होगा पर हमारे दृढ़ संकल्प को देखकर उसने वॉर्डर को आदेश दिया कि हमें अलग-अलग कोठरियों में बंद कर दिया जाये। हमने पाँच दिन और पाँचों रात तक कुछ भी नहीं खाया

और इस दौरान डॉक्टर, चीफ़-हैड वॉर्डर तथा महिला वॉर्डर के अलावा हमने किसी को नहीं देखा। छठे दिन सवेरे जेल-ऑफ़िस का एक क्लर्क मेरी कोठरी के सामने आया—उसके हाथ में कल्पना के लिए प्लास्टिक की गुलाबी रंग की एक जोड़ी सैंडिल और मेरे लिए रबर की मटमैली सैंडिल थी। कल्पना ने अपने लिए भेजी गयी सैंडिल को देखकर मुंह बना लिया पर मैंने उससे कहा कि ज़्यादा बात का बतंगड़ बनाने की कोई ज़रूरत नहीं है; कम-से-कम हमारी एक माँग तो पूरी हुई और दूसरी माँगों के पूरी होने की भी संभावना है। उस दिन बाद में यह भी तय पाया गया कि सभी क़ैदियों को कपड़े दिये जायेंगे और खाने की क़िस्म में सुधार किया जायेगा। सेंसरशिप जारी रहेगी और जहाँ तक हम पर जल्दी-से-जल्दी मुक़दमा चलाने की बात है, जेल-अधिकारियों ने इस मामले में कुछ कर सकने में असमर्थता दिखायी क्योंकि यह उनके हाथ में नहीं था। उसने सलाह दी कि हम लोग दलभूम सब-डिवीज़न के मजिस्ट्रेट के पास एक अर्ज़ी लिखें क्योंकि हमें वहीं गिरफ़्तार किया गया था।

यह जानकर कि हमारी भूख-हड़ताल से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ने जा रहा है, हमने अपनी भूख-हड़ताल समाप्त कर दी हालांकि हम पहले ही यह समझ चुके थे कि जेल-अधिकारियों की ओर से क़ैदियों को अपनी शिकायतें लिखने के लिए जो फ़ॉर्म बांटे जाते थे उनका मक़सद क़ैदियों को सांत्वना देने से ज़्यादा कुछ नहीं था। यदि उन अर्ज़ियों को ऊपर भेज दिया जाये या उन्हें पढ़ ही लिया जाये तो भी उन पर कभी कोई कार्रवाई नहीं होती थी। फिर भी उनसे एक मक़सद पूरा होता था। हर सप्ताह अर्ज़ी लिखने के लिए फ़ॉर्म माँगने पर मुझे तक़रीबन एक घंटे के लिए कलम भी मिल जाती थी। मैं इस कलम की स्याही को दवा की एक शीशी में खाली कर लेती थी और रात में लैम्प की रोशनी में उससे कहानियाँ, कविताएँ या अपने अनुभव लिखती। कागज़ का इंतज़ाम मैं चाय के पैकेटों के कागज़ से, लाइब्रेरी की पुस्तकों के सादे पन्नों से और उस कापी से कर लेती थी जिसमें साप्ताहिक राशन के लिए मुझे दस्तखत करने पड़ते थे। कलम के रूप में मैं झाड़ू से निकाली गयी एक पतली सींक को काम में लाती थी।

हमको अब तक जो ज़बर्दस्त ढंग से सेंसर किया गया अखबार मिलता था, वह भूख-हड़ताल के बाद बतौर सज़ा एक महीने के लिए बन्द कर दिया गया लेकिन अन्य क़ैदियों को कम-से-कम एक साड़ी और जेल के वर्कशॉप में ही बना मोटे कपड़े का एक टुकड़ा दिया गया जिससे वे अपने लिए ब्लाउज़ और पेटीकोट बना सकें। यह कभी नहीं बताया गया कि बिना कैंची, या सुई-धागा के वे अपने लिए ब्लाउज़ और पेटीकोट कैसे बना सकेंगी। बाद में हमने सुना कि एक वॉर्डर ने इन क़ैदियों से एक वक़्त के उनके चावल के एवज़ में उनके लिए अपनी मशीन पर कपड़े सिल दिये थे।

क्रिसमस अब ज़्यादा दिन दूर नहीं था कि तभी एक दिन चीफ़-हैड वॉर्डर ने कल्पना की कोठरी में लगे ताले की जाँच की और उसे खतरनाक ढंग से ढीला पाया और फ़ैसला किया कि इसे बदल दिया जाना चाहिए। उसे रखने की कोई और जगह नहीं थी इसलिए हमें एक बार फिर एक रात के लिए एक ही कोठरी में रहने दिया गया। सुपरिंटेंडेंट का निर्देश था कि हमारे साथ एक और क़ैदी रात में सोयेगी ताकि वह हम लोगों पर निगाह रख सके। हर रात सोने के लिए अलग-अलग क़ैदियों को भेजा जाता था ताकि हम ज़्यादा घुलमिल न सकें या उन्हें हम अपने 'सिद्धांतों से शिक्षित' न कर सकें। अपनी साथी क़ैदियों की पृष्ठभूमि को

और इनके व्यक्तित्व को और अच्छी तरह जानने का हमारे लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था। उन क़ैदियों में से अधिकांश उस समुदाय की थीं जिन्हें भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति कहा गया है और जिन्हें पिछड़े वर्ग का दर्जा दिया गया है। छोटा नागपुर के इलाके में— जहाँ हज़ारीबाग स्थित है— भारी संख्या आदिवासियों की आबादी है जिनकी अपनी अलग भाषा, धर्म और संस्कृति है। अनुसूचित जाति के लोगों को महात्मा गांधी 'हरिजन' कहा करते थे। इससे पहले उन्हें अछूत कहा जाता था जिसे कट्टरपंथी हिन्दू आज भी कहना पसन्द करते हैं।

हमारे साथ रात में सोने वाली क़ैदियों में से कुछ को बिना लाइसेंस के देसी शराब बनाने के लिए गिरफ़्तार किया गया था, कुछ ज़मीन के झगड़े में फँस गयी थीं और कुछ पर हत्या या हत्या की कोशिश करने का आरोप था। उनमें से बहुत कम ही ऐसी थीं जिनसे कोई मिलने आता था या जिनके घर से चिट्ठियाँ आती थीं। इसकी वजह प्राय: यह थी कि ये जिन परि-वारों की थीं वे इतने ग़रीब थे कि यहाँ तक आने के लिए न तो वे किराया जुटा सकते थे और न ही चिट्ठी लिखाने के लिए किसी को पैसे दे सकते थे। बहुधा उनकी दु:खभरी कहानी सुनते समय हमारी यह धारणा दिनोंदिन पक्की होती जाती कि यदि हमारे जेल में रहने को सचमुच कोई अर्थ दिया जा सकता है तो हमें हर सम्भव तरीके से अपनी इन साथी क़ैदियों की मदद के लिए पूरी शक्ति और पूरा समय लगा देना चाहिए।

कभी-कभी टहलते समय हम देखती थीं कि क़ैदी लोग अल्यूमीनियम के अपने बर्तन में चावल नाप रहे हैं या तम्बाकू के छोटे बेलनाकार टिनों से सरसों का तेल नाप रहे हैं। रात में साथ सोने वाली क़ैदियों में से एक ने—जो हम पर बहुत ही ज्यादा विश्वास करती थी— हमें बताया कि सभी औरतें अपने हिस्से का चावल, आटा, तेल, साबुन और शीरा जेल-कर्मचारियों को बेच देती हैं जो उन्हें बदले में या तो पैसा दे देते हैं या बाज़ार से उनकी पसन्द की चीज़ ला देते हैं। क़ैदियों से ये सामान जिस मूल्य पर लोग ख़रीदते थे वह बाज़ार से बहुत कम होता था फिर भी इस तरह के ग़ैर-सरकारी इंतज़ाम के ज़रिए उन्होंने कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर ली थीं जो जेल-अधिकारी उन्हें नहीं प्रदान करते थे और अपनी ज़रूरत भर की आरामदायक चीज़ें उन्हें मिल सकी थीं। अधिकांश औरतें बहुत कम खाती थीं ताकि वे अपना राशन बेचकर कुछ कमा सकें।

हमने सोचा कि यह तरीका हमारे भी काम आ सकता है। हमने सावधानी-पूर्वक अपने साप्ताहिक राशन का एक हिस्सा छोड़ दिया। हमें कई चीज़ों की ज़रूरत थी, मसलन—टूथपेस्ट, कल्पना के लम्बे बालों को बाँधने के लिए रबर-बैंड और सेफ़्टी पिन। इसके लिए हमने जिस महिला वॉर्डर से बातचीत की वह हिचकिचा रही थी— उसे डर था कि हम बातों को कहीं कह न दें, लेकिन अंतत: हमने एक इंतज़ाम कर ही लिया जिससे हम कुछ रुपये बचा सकीं। क्रिसमस तक हमारे पास इतने पैसे हो गये थे कि हमने एक नैस्केफ़ का छोटा डिब्बा ख़रीद लिया—यह सचमुच एक विलासिता ही थी। छुट्टियाँ शुरू होने के कई सप्ताह पहले से हम बड़ी किफ़ायत के साथ रह रहे थे ताकि कुछ मिठाइयाँ बनाने के लिए आटा और शीरा बचा सकें— इन मिठाइयों को हमने अन्य महिलाओं में भी बाँटा। क्रिसमस के दिन सवेरे तो हमारी खुशी और आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा जब हमें पता चला कि फाटक के बाहर कोई हमारे लिए क्रिसमस-केक और एक दर्जन केले

छोड़ गया है। उस दिन भी भंडारे में काम करने वालों में से हमारे किसी हमदर्द ने राशन के रूप में छुट्टियों के दिन हमें मिलने वाले गोश्त में कलेजी के कुछ टुकड़े डाल दिये थे। महिला वॉर्ड से बाहर हमें जितना जाना जाता था उसका हमने अंदाज़ा भी नहीं लगाया था।

क्रिसमस के बाद ठंड और भी तेज़ हो गयी। रात में हम एक-दूसरे से चिपक कर कमरे में मौजूद सारे कपड़ों में अपने को लपेटकर जाड़े का सामना करतीं। एक दिन सवेरे वह नौजवान हरिजन क़ैदी, जो हम लोगों का शौचालय साफ़ करने आता था, अपनी फटी बनयान और जाँघिए में बुरी तरह काँप रहा था। वॉर्डर से पूछकर कल्पना ने हमारे दो शालों में से एक शाल उसे दे दिया। जैसे ही वह अपना काम समाप्त करने के बाद पुरुषों के वॉर्ड की तरफ़ मुड़ा, हमारी महिला वॉर्डर उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ी और ड्यूटी पर तैनात संतरी से उसने कहा कि यह आदमी अन्दर से चिट्ठी लेकर जा रहा है—इसकी तलाशी लो। तलाशी में कुछ भी नहीं मिला। दरअसल हमारी इस उदारता से वॉर्डर के मन में संदेह पैदा हो गया था और साथ में उसे शाल देखकर ईर्ष्या भी होने लगी थी। ऐसा होने का कारण भी समझ में आता है। हमने जैसा शाल उस जमादार को दिया था वैसा शाल उसके पास शायद ही कभी रहा हो। इसका नतीजा बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। उसी दिन उस जमादार को क़ैद-तनहाई दे दी गयी, पैरों में बेड़ी डाल दी गयी तथा महिला वॉर्ड की तरफ़ आने की मनाही कर दी गयी। हमने चीफ़-हैड वॉर्डर से अनुरोध किया कि अकारण दी गयी इस सज़ा को वापस ले लिया जाये—मैंने सारी स्थिति भी स्पष्ट की लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। हम लोग 'नक्सलवादी' थे और इस आशय के निर्देश जारी थे कि हमारा अन्य क़ैदियों से सम्पर्क नहीं होना चाहिए।

इसके कुछ ही दिनों बाद एक दिन सुपरिंटेंडेंट ने मुझे आकर बताया कि बिहार सरकार ने अमलेन्दु के परिवार के लोगों से मुझे मिलने की इजाज़त दे दी है। ऐसा लगा कि इस तरह उन्होंने कुछ अंश तक हमारे विवाह को 'मान्यता' दे दी। फरवरी के आरम्भ में अमलेन्दु के पिता मुझसे मिलने आने वाले थे। दुर्भाग्यवश कुछ ही दिनों बाद अमलेन्दु का चुपके से मेरे नाम लिखा पत्र एक वॉर्डर के हाथ लग गया जो हमारा हमदर्द नहीं था और उसने जेलर से इसकी शिकायत कर दी। अमलेन्दु को बतौर सज़ा लोहे की छड़ों वाली बेड़ी पहना दी गयी और अगली सूचना तक आगंतुकों से मिलने की हम दोनों को मिली सुविधा रद्द कर दी गयी। अमलेन्दु को भयंकर डंडा-बेड़ी में जकड़े जाने की कल्पना से ही मेरी आँखों में आँसू आ गये। इसमें क़ैदी के दोनों टखनों में लोहे का एक छल्ला डाला जाता था जो बीस इंच के लोहे के छड़ से एक-दूसरे से जुड़ा होता था। इनसे जुड़ा एक तीसरा छड़ था जो कमर तक जाता था और कमर में बँधी रस्सी में फँसा दिया जाता था। यह बेड़ी बहुत भारी होती थी और इससे किसी भी तरह की हरकत करने में रुकावट आती थी—इसको पहनकर किसी के लिए भी चलना, बैठना, सोना, नहाना या सामान्य ढंग से शौच के लिए बैठना असंभव था।

इन घटनाओं ने मुझे फिर याद दिलाया कि अधिकारियों की ओर से ऊपरी तौर पर नरमी का रुख प्रदर्शित किये जाने के बावजूद हमारा अस्तित्व बेहद खतरनाक था।

उपवास जेल-जीवन की एक महत्त्वपूर्ण प्रथा थी। प्रत्येक इतवार को उन क़ैदियों को उपवास करने की अनुमति दी जाती थी जो ऐसा करना चाहते थे और

उन्हें आमतौर से मिलने वाले राशन के बदले थोड़ा अच्छा खाने की अनुमति दी जाती थी मसलन उन्हें बीड़ी, खैनी (एक तरह की सुर्ती) और कभी-कभी उपलब्ध होने पर चीनी अथवा अन्य पदार्थ दिये जाते थे। एक झलक में देखने पर यह इंतज़ाम बहुत मानवीय लगता था और इससे अधिकारियों की नरमी का आभास होता था, पर दरअसल क़ैदियों को इस तरीके से वे अधिक-से-अधिक आज्ञाकारी बना लेते थे जो उनके काफ़ी हित में था। इस तरह की विशेष सुविधाएँ देकर वे क़ैदियों को लगातार इस भय से ग्रस्त रखते थे कि कहीं ये सुविधाएँ छीन न ली जायें और इस प्रकार अन्य मसलों पर वे उनकी ज़बान बंद रखते थे। जिन लोगों का सम्बन्ध भंडार-गृह से था उनके लिए उपवास वाला दिन फ़ायदेमंद होता था—क़ैदियों को हमेशा उस मूल्य से कम का सामान दिया जाता था जो वे दैनिक खाद्यान्न के रूप में पाते थे। महिला क़ैदियों को इस शोषण की पक्की जानकारी थी पर वे भी उपवास का अवसर हमेशा के लिए खोने की बजाय खामोश रहना ही बेहतर समझती थीं। अपने हिस्से की चीनी या बीड़ी के एवज़ में कर्मचारियों से उन्हें जो थोड़े-बहुत सिक्के मिलते थे उनसे उनकी बचत में इज़ाफ़ा होता था और उनसे वे बाज़ार से दवाएँ तथा श्रृंगार की सामग्री, कपड़े, चूड़ियाँ या साग-सब्ज़ी मँगा लेती थीं। सप्ताह भर वे अपने हर रोज़ के राशन में से सावधानीपूर्वक थोड़ा-सा चावल या आटा इतवार के लिए बचाती रहती थीं। इतवार को सवेरे औरतों और बच्चों को साग-सब्ज़ी के खेतों में खाने लायक़ पत्तियों की तलाश करते देखा जा सकता था ताकि वे चावल या लपसी (आटा और नमकीन रबड़ी) के साथ उसे खा सकें। अच्छी सब्ज़ियाँ मेटिन और जेल-कर्मचारी खा जाते थे और अन्य क़ैदियों के लिए आलू तथा मूली और सरसों की पत्तियाँ छोड़ देते थे। पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में इतवार को खाना बनाना एक समस्या थी, भूख सबको लगी रहती थी और चूल्हे केवल दो ही होते थे—एक मेटिन का और दूसरा हमारा। मेटिन केवल उन्हीं लोगों को अपना चूल्हा देती थी जिन्हें वह पसन्द करती थी और वह भी तब जब पूरे इत्मीनान के साथ उसका खाना तैयार हो चुका रहता था। कुछ औरतें कामचलाऊ चूल्हा तैयार कर लेती थीं और ईंधन के नाम पर उन लकड़ियों को जलाती थीं जो उन्हें दातौन के रूप में इस्तेमाल करने के लिए मिली थीं। हमारी छोटी कोयले की अँगीठी को दिन भर कोई-न-कोई माँगता रहता जिसका नतीजा यह होता कि हम लोग दूसरों का खाना बनने के इंतज़ार में भूखी ही रहतीं।

एक और इतवार मुलाक़ाती का दिन होता था। कुछ सप्ताहों के बाद किसी एक इतवार को महिला क़ैदियों को इस बात की इजाज़त दी जाती थी कि वे जेल में बन्द अपने सम्बन्धी पुरुष क़ैदियों से सहायक जेलर की देखरेख में जेल के दफ़्तर में कुछ मिनट तक बातचीत कर सकें। ताज्जुब है कि इनमें से अधिकांश के पिता, भाई, बेटे या पति भी जेल में ही थे जो आमतौर से उन्हीं अपराधों में पकड़े गये थे जिनमें उनके घर की औरतें। अधिकांश औरतें अपने राशन में से कुछ-न-कुछ बचाकर रखती जाती थीं ताकि मुलाक़ाती के दिन वह अपने सम्बन्धी को कुछ बनाकर दे सकें। वे रात में थोड़ा-सा चावल या छिली मटर पानी में भिगो देतीं और सवेरे इन्हें एक पत्थर से लेई की तरह पीस लेतीं फिर उसमें थोड़ा शीरा या नमक डालकर उसके चपटे टुकड़े काट लेतीं और शरीर में लगाने के लिए मिले सरसों के तेल में उन्हें तल देतीं।

लगभग तीन बजे वे औरतें तैयार होना शुरू करतीं। जिन्हें मिलने जाना

होता—वे सवेरे की धुली अपनी साड़ी की सिलवटों को हाथ से बराबर करतीं, बालों में कंघी करतीं और फिर अपनी बनायी चीज़ों को साफ़ कपड़ों या अखबार के टुकड़ों में लपेटतीं। पाँच बजे से कुछ देर पहले घंटी बजने के साथ ही ड्यूटी पर तैनात वॉर्डर फाटक खोल देता और वे ऑफ़िस तक जाने वाले रास्ते पर पहुँच जातीं, जहाँ से सूची में दर्ज एक-एक नामों की जाँच करते हुए उन्हें अन्दर भेजा जाता। पन्द्रह मिनट बाद जब वे लौटतीं तो उनके पास गपशप के लिए ताज़ा-से-ताज़ा मसाला होता। नक्सलवादियों के अलावा अन्य पुरुष-क़ैदियों को जेल के अपने हिस्से में घूमने-फिरने की सीमित स्वतंत्रता थी और वे इधर-उधर से जुटायी गयीं तमाम चटपटी सूचनाएँ उन तक पहुँचा सकते थे। कहीं मुक़दमे की अफ़वाहें थीं तो कहीं तबादले की, कोई किसी बड़े अफ़सर के दौरे की बात कर रहा था तो कोई किसी की रिहाई की और कोई किसी की ज़मानत की खबर को दोहरा रहा था। मैं और कल्पना बड़े उत्साह के साथ मुलाक़ाती के बाद औरतों के लौटने का इंतजार करतीं और उम्मीद लगाये रहतीं कि अभी कुछ दिलचस्प बातें सुनने को मिलेंगी।

शुरू-शुरू में मुझे यह देखकर हैरानी होती थी कि लोग एक-दूसरे को किस तरह बुलाते हैं, पर कुछ समय बाद अपने से बड़ी औरतों को भारतीयों की तरह माँ या मौसी कहना मुझे एकदम स्वाभाविक लगने लगा। अपने से बड़े लोगों को नाम लेकर बुलाना बहुत अपमानजनक समझा जाता था। अधिकांश अन्य महिलाओं के लिए मैं या तो बेटी थी या दीदी। एक औरत मुझे हमेशा नानी कहती थी हालाँकि वह उम्र में मेरी माँ के बराबर थी। 'नानी' कहने पर जब एक दूसरी औरत ने उसे डाँटा तो उसने जवाब दिया, "उसकी उम्र मुझसे ज्यादा होगी ही। देखती नहीं हो, उसके सारे बाल सफ़ेद हो गये हैं।" यह पहला मौक़ा नहीं था जब मेरे बालों को वृद्धावस्था का चिह्न माना गया था। पुलिस अफ़सर, वॉर्डर तथा अन्य अधिकारी भी हमेशा मुझे, मेरी असली २७ वर्ष की उम्र से, कहीं अधिक उम्र की सोचते थे।

जिन औरतों को मैं माँ कहती थी उनमें से एक का नाम सैबुनिसा था—वह एक पैंतालीस-वर्षीया मुसलमान औरत थी। उसे, उसके पति, तीन जवान लड़कों और एक भांजे को ज़मीन की विरासत को लेकर हुए एक झगड़े में बीस-बीस वर्ष की जेल हो गयी थी—इस झगड़े में उसका बहनोई मारा गया था। जब उन्हें सजा मिली उस समय सबसे छोटे लड़के की उम्र तेरह वर्ष थी और वह पाँच वर्ष जेल में काट भी चुका था। यहाँ तक कि जो सबसे बड़ा था उसकी भी उम्र, जब हमने पहली बार उसे देखा तो, लगभग १९ वर्ष थी। उसके तीन सबसे छोटे बच्चे जेल से बाहर थे। प्रायः वह यह सोचकर चीख उठती थी कि उसकी तीन, चार और छः वर्ष की लड़कियाँ गाँव के समाज की उन कठोर वास्तविकताओं के बीच अपने को कैसे बचाकर रख पायेंगी जहाँ यदि वे ग़लत हाथों में पड़ गयीं तो उन्हें नौकरानी की ज़िन्दगी गुज़ारनी पड़ सकती है या गुलाम की तरह उन्हें बेच दिया जा सकता है अथवा यह भी हो सकता है कि बाद में उन्हें वेश्यावृत्ति अपना लेनी पड़े।

सैबुनिसा चूँकि अपने बच्चों से बिछुड़ी हुई थी इसलिए उसका हमसे बहुत लगाव हो गया था और हमारे साथ उसका बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार था। वह उकड़ूँ बैठकर लोहे के तवे पर आटा और पानी मिलाकर चिल्ले बनाती रहती और हम चूल्हे के इर्द-गिर्द मँडराते रहते। जैसे ही कोई चिल्ला गरम-गरम तवे से उतरता

हम उसे लेने के लिए लपककर पहुँचतीं और बड़े चाव से खातीं। सैबुनिसा मुस्कराकर हमें एक-एक चिल्ला देती जाती—उसे खुशी होती कि हमें उसकी बनायी चीज़ पसन्द आ रही है। अधिकांश क़ैदियों को यह देखकर आश्चर्य होता कि उनका बनाया खाना खाने में हमें कोई एतराज़ नहीं होता है—वे तो यह जानते थे कि लोग उन्हें 'गंदा' या 'अछूत' समझते हैं। जब उन्हें पता चला कि हम सचमुच उनकी बनायी चीज़ों को बड़े स्वाद से खाते हैं तो वे अपने हिस्से में से हमें इतनी चीज़ दे देते कि हमारी तबीयत भर जाती। मैं उन औरतों की उदारता और दरियादिली से विचलित हो उठती जिनके पास खाने को बहुत थोड़ा होता था पर जो कुछ भी होता था, उसे वे निस्संकोच हमारे बीच बाँटने में हमेशा तत्पर रहतीं।

हमारी एक और खास मित्र थी जिसका नाम रोहिणी था। वह एक जवान किसान औरत थी और उसके ऊपर भी हत्या का आरोप था। उसके अन्दर अपार शक्ति और क्षमता थी और वह बाग की गुड़ाई करने या महिला वॉर्डरो के कपड़े धोने अथवा मेटिन को उसके घरेलू काम में मदद पहुँचाने में कभी नहीं थकती थी। वह हमेशा ज़िद करती थी कि हम लोग भी अपना काम उसी से करा लिया करें। वह हमारे कपड़े धोना, कोठरी की सफ़ाई करना या यहाँ तक कि हमारी मालिश करना चाहती थी लेकिन हमने उसे समझाया कि पढ़े-लिखे होने का मतलब यह नहीं है कि हम शारीरिक श्रम से घृणा करें। हमारे साथ की क़ैदियों में चूंकि थोड़े-से पढ़े-लिखे या समृद्ध व्यक्ति को कभी अपना काम करते नहीं देखा था, इसलिए जब हम अँगीठी जलाने के लिए कोयला तोड़तीं, कोठरी में झाड़ू लगातीं या अपने खाने के बर्तन मलतीं तो इसे वे अपना अनादर समझती थीं। लेकिन शुरू-शुरू के ये संदेह दूर हो गये तो हमारी काम करने की इच्छा ने हमें उनके और क़रीब ला दिया।

रोहिणी ने हमें बताया कि पढ़ना-लिखना सीखने की उसकी बहुत दिनों से इच्छा है। इसके बाद तो हर रोज़ दिन के तीसरे पहर जब सारे काम निबट चुके होते, कल्पना उसे हिन्दी की वर्णमाला सिखाने में कुछ घंटे बिताती। इसका बाद में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा जिसका हमने पहले से अनुमान नहीं लगाया था।
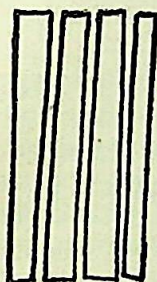
गोलीकाण्ड

रविवार २५ अप्रैल, १९७१। हर बार की तरह लोग उपवास पर थे और आज ही मुलाक़ाती वाला दिन भी था। अब तक मैंने और कल्पना ने गाँव वालों के तरीके से खाना बनाने का अभ्यास कर लिया था और सवेरे से ही मैं चूल्हे के सामने तह लगाकर रखे गये कम्बल पर उकड़ूँ बैठकर उन औरतों के लिए मटर के दानों का पुआ बना रही थी ताकि वे अपने पुरुष सम्बन्धियों के लिए ले जा सकें। चूल्हे के आसपास के पथरीले फ़र्श पर चारों तरफ़ तेल और राख बिखरी हुई थी। मेरे हाथों में पिसी हुई मटर की लेई चिपकी थी और मेरी साड़ी में शीरे तथा तेल के धब्बे लगे थे। अचानक मेटिन दौड़ती हुई आयी ?. "दीदी, आपका कोई मुलाक़ाती आया है। आप ऑफ़िस में जाइये।" पहले तो मुझे विश्वास नहीं हुआ—पहले भी हम लोग एक-दूसरे के साथ इस तरह की शरारतें किया करती थीं। जब चीफ़-हैड वॉर्डर खुद ही मुझे लेने के लिए आया तब मैंने समझा कि मेटिन सच बोल रही है और जेल में लगभग ग्यारह महीनों तक रहने के बाद पहली बार मैं किसी ऐसे आदमी से मिलने जा रही हूँ जो ब्रिटिश वाणिज्य दूतावास का अधिकारी नहीं है। जल्दी-जल्दी मैंने अपने बेतरतीब और काफ़ी दिनों से न काटे जाने के कारण गर्दन तक फैले बालों में कंघी की। मेरे पास दूसरी कोई साड़ी नहीं थी इसलिए मैं वही तेल के धब्बों से भरी साड़ी पहने रही जिसे पहनकर सवेरे से खाना बना रही थी और जिसे मुझे कल्पना की माँ ने दिया था। मेरे अपने टी-शर्ट और स्लैक्स काफ़ी पहले फट चुके थे इसलिए मैं भारतीय पोशाक पहनने की आदी हो गयी थी।

चारों ओर बिखरे काग़ज़-पत्रों तथा फ़ाइलों और क्लर्कों तथा क़ैदी लिपिकों से भरे ऑफ़िस में अमलेन्दु के बूढ़े माँ-बाप अस्तव्यस्तता के सागर में शांति और गरिमा के द्वीप की तरह बैठे थे। उन्होंने मुझे बैठने का इशारा किया। वहाँ बैठे लोग यह देखकर हैरान रह गये कि एक कर्त्तव्यपरायण बहू की तरह मैं उनके पैर

छूने के लिए नहीं झुकी। अमलेन्दु और उसके भाई से वे मिल चुके थे पर हम तीनों लोगों से एक साथ मिलने की इजाज़त उन्हें नहीं दी गयी थी। हमें देखने के लिए वे पाँच सौ मील की यात्रा करके आये थे—यह सोचकर मेरा दिल भर आया। वे अपने साथ कपड़े, घर की बनी गरी की मिठाइयाँ, सुगंधित साबुन, और गर्मी के मौसम में ठंडा रखने के लिए खजूर के पत्तों का बना पंखा लाये थे। वे मेरे स्वास्थ्य और कुशल-क्षेम के बारे में चिंतित दिखायी दे रहे थे। मैंने उनकी इन चिंताओं को दूर करने की कोशिश की। मुझे उनसे दस मिनट तक बातचीत करने की इजाज़त मिली। इसके बाद मैं महिला वॉर्ड में लौट आयी।

दिन का शेष समय मैंने अपनी कोठरी से लेकर अहाते तक बेचैनी में चक्कर काटते हुए बिताया। मुझे खुद पर बहुत गुस्सा आ रहा था कि मैं महीनों से उन लोगों से न जाने कितनी बातें बताने की सोच रही थी पर इस तरह अचानक मिलने जाना हुआ कि सारी बातें भूल गयी। उन्हें देखकर मुझे खुशी भी हुई पर साथ ही एक अपराध-बोध हुआ कि उन्हें इतनी तकलीफ़ उठानी पड़ी और पैसे खर्च करने पड़े। अमलेन्दु को न देख पाने का मुझे दुःख था। मुलाक़ातें हमेशा एक बेचैनी भरा अनुभव होती हैं—हर मुलाक़ात के बाद बाहर की दुनिया याद आती है, अपने प्रियजन याद आते हैं, वे चीज़ें याद आती हैं जिन्हें हम खो चुके होते हैं। इसके बाद मुझे 'सामान्य' स्थिति में आने में सचमुच दो दिन लग गये।

नारियल की गरी की मिठाइयों ने एक समस्या पैदा कर दी। कल्पना और मैं चाहती थी कि इन मिठाइयों को सबके बीच बाँटा भी जाय और फिर भी हमारे हिस्से ढेर सारी मिठाइयाँ बच रहें। ऐसा करने में हमारा व्यवहार अन्य तमाम औरतों के व्यवहार के एकदम विपरीत लग रहा था जिनके घरों से कितनी भी कम मात्रा में कोई चीज़ क्यों न आयी हो वे फ़ौरन उसे आपस में बाँट लेती थीं—ऐसा लगता था जैसे वे अपनी खुशकिस्मती से सबको फ़ायदा पहुँचाना चाहती हों। अंततः हमने अपने लालच पर क़ाबू पा लिया और मिठाइयाँ बाँट लीं—बाँटते समय हमने इस बात का खासतौर पर ध्यान रखा कि किसी को कम या अधिक न मिले। कठिनाइयों की सामान्य स्थिति में किसी को थोड़ा-सा भी कम या ज्यादा देने से ईर्ष्या की भावना पैदा हो सकती थी जो एक दिन बढ़ते-बढ़ते एक-दूसरे पर आरोप लगाने या एक-दूसरे को अपमानित करने के रूप में प्रकट हो सकती थी।

अस्वाभाविक और कठिन परिस्थितियों में एक साथ रह रही औरतों की छोटी-छोटी बातों पर ईर्ष्या ने ही हमें इन महीनों के दौरान मिली अपेक्षाकृत ढील को अचानक समाप्त करा दिया। कल्पना द्वारा रोहिणी को पढ़ाये जाने से मेटिन को ईर्ष्या होने लगी—वह सोचती थी कि उसे हर मामले में प्राथमिकता दी जानी चाहिए; इसके अलावा उसने रोहिणी के शिक्षित होने को अपनी स्थिति के लिए एक चुनौती समझा। रात में जब हम लोग अलग-अलग कोठरियों में बंद कर दी जातीं और मेटिन की आवाज़ कानों तक नहीं पहुँच पाती तब वह रोहिणी पर ताने कसा करती थी। इन छोटे-छोटे अपमानों को नज़रअंदाज़ न कर पाने के कारण अनेक बार वह बहुत दुःखी होकर रोती हुई हमारे पास आयी। एक दिन मेटिन की इस नीचता से उत्तेजित होकर हमने उसे चेतावनी दी कि वह रोहिणी के मामले में दखल न दे और उसे अकेली छोड़ दे। हम लोगों ने ऐसा कह बहुत बड़ी गलती की थी। वह हमसे बदला लेने की योजना बनाने लगी।

कुछ दिनों बाद उसने चीफ़-हैड वॉर्डर को जाकर सूचित किया कि उसने

बागीचे के सिरे पर कल्पना को कुछ छुपाते हुए देखा है। इत्तफ़ाक़ से उसी समय स्पेशल ब्रांच पुलिस ने जेल-अधिकारियों को सतर्क किया था कि नक्सलवादी क़ैदियों द्वारा जेल से निकल भागने का प्रयास किये जाने की आशंका है और फलस्वरूप सुरक्षा-व्यवस्था काफ़ी कड़ी कर दी गयी थी। केवल एक ही दिन पहले आदेश आया था कि अब से एक की बजाय तीन क़ैदी हमारे साथ रात में सोया करेंगी। इन परिस्थितियों को देखते हुए वॉर्डर के सामने और कोई चारा नहीं था सिवाय इसके कि मेटिन ने उसको जो कुछ बताया है उसे वह अपने से ऊपर के अफ़सर अर्थात् जेलर तक पहुँचा दे। अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण उसने हमसे कुछ भी नहीं बताया पर उस शाम हमें कोठरी में बंद करते समय उसके चेहरे पर जो गंभीरता उभरी थी वह हमारे समझने के लिए पर्याप्त थी। हमने पूरा एक साल जेल में बिता लिया था और अपने रक्षकों के चेहरे के हाव-भाव में आये मामूली-से-मामूली फ़र्क़ को भी फौरन ताड़ जाते थे। उस दिन हम निश्चित हो गये कि हमारे खिलाफ़ कोई चीज़ पक रही है।

वॉर्डर के चले जाने के बाद हमारे ताले की जाँच करने के बहाने एक महिला वॉर्डर आयी और उसने हमें धीरे से बुलाया। उसने हमें आगाह किया कि जेलर और जेल-सुपरिंटेंडेंट दोनों हमारी तलाशी लेने आ रहे हैं-- इसके साथ ही उसने कहा कि यदि कोई छिपानेवाली चीज़ हो तो हमें दे दो। हमने उसे अपने बचाये कुछ रुपयों और ग़ैरक़ानूनी तरीके से अन्दर मँगाये गये पत्रों को दे दिया। फिर हम लोग ऐसे शांत हो गये गोया कुछ जानते ही न हों। जैसा कि गरमी की रातों में हम हमेशा करती थीं हमने अपनी साड़ियाँ निकालकर एक तरफ़ धर दीं और पेटीकोट-ब्लाउज़ पहने नंगे-पथरीले फ़र्श पर लेट रहीं। रात में दस बजे पत्थर की दीवार के पास अचानक रोशनी चमक उठी और लोगों की आवाज सुनायी पड़ने लगी। बिना कोई आवाज़ या चेतावनी दिये वे अफ़सर आ गये थे—उन्होंने हमें एकदम विस्मित करने के लिए वह घंटी भी नहीं बजायी जिसे महिला वॉर्ड में घुसने से पहले बजाये जाने की उनसे अपेक्षा की जाती है। वे सीधे हमारी कोठरी तक आये और इतना भी इंतज़ार किये बिना कि हम अपने कपड़े पहन लें, उन्होंने टार्च की तेज रोशनी हमारे ऊपर फेंकी और बाहर निकलने का आदेश दिया। उन्होंने मुझे और कल्पना को बगल की कोठरी में बंद कर दिया और हमारे एक-एक सामान को उलट-पुलट कर छान डाला। बीस मिनट बाद हमारी कोठरी तक जाने वाली तीनों सीढ़ियों पर चिट्ठियाँ, तेल की शीशियाँ साबुन, रुई, किताबें और अखबार बिखरे पड़े थे। हमने तय कर लिया था कि किसी भी तरह से हमें भयभीत नहीं होना है और हमने कोठरी में पड़ी अल्यूमीनियम की एक तश्तरी पर ज़ोर-ज़ोर से थाप देते हुए गला फाड़-फाड़ कर गाना शुरू किया। बाद में एक महिला वार्डर ने हमें बताया कि हमारे गाने से सुपरिंटेंडेंट बहुत हतोत्साहित हो रहा था। हमारी सारी चीजें ले लेने के बाद उन्होंने हमारी जामा-तलाशी के लिए एक महिला वॉर्डर को भेजा। उसे एक पेंसिल के अलावा और कुछ नहीं मिला जिसे कल्पना ने पेटीकोट में नाड़ा डालने के लिए बनी जगह में छिपाकर रख लिया था। हमारा सारा कोयला फ़र्श पर बिखेर देने के बाद वे चले गये। हमने शांत होने की कोशिश की पर इस घटना के आघात के कारण हम आराम नहीं पा सके।

जेल-अधिकारियों द्वारा चलाया जा रहा सुधार का काम अभी समाप्त नहीं हुआ था। हर रोज़ की तरह उस रोज़ सवेरे हमारी कोठरी का ताला नहीं खोला गया। हमें अपने पिंजड़े में बंद रहने दिया गया जब कि अनेक वॉर्डरों के साथ

लगभग बीस क़ैदी हमारे अहाते में घुस आये, उन्होंने झाड़ियाँ उखाड़ दीं, पेड़ काट कर गिरा दिये और समूचे बागीचे को खोद डाला। उनका विध्वंस समाप्त होने के बाद हमने देखा कि हमारा प्रिय नीम का पेड़ किसी पदार्थ या पशु की बारह फीट की एक प्रतिमा-जैसा बना दिया गया है, चमेली के सारे पौधे समाप्त हो गये हैं और यही हालत बगनवेलिया, अमरूद, आम, नींबू और मीठी खुशबू वाले गुलइची के फूल वाले पौधों की है। आखिर में जब हमें बाहर निकाला गया तो हम दु:खी मन से क्षत-विक्षत लाल मैदान में इधर से उधर घूम रही थीं जैसे अपने दोस्तों के खोने का ग़म मना रही हों। इन पेड़ों और बाग-बगीचों के ज़रिए प्रकृति के साथ हमारा जो सम्पर्क क़ायम हुआ था उससे हम अपने जेल-जीवन को बरदाश्त करने योग्य बन सके थे। अब यह भी हमसे छीन लिया गया था।

इस घटना के बाद हमें ऐसा लगा कि रातों-रात यह जेल एक किले का रूप ले चुका है। बाद के दिन एक अप्रत्यक्ष पूर्व-सूचना से भरे थे। हम लोगों के प्रति अपने पहले के लगाव के कारण खुद भी सहमी और डरी हुई वॉर्डर महिलाएँ अन्य क़ैदियों को हमारे नज़दीक न आने की चेतावनी दे रही थीं और धमकी दे रही थीं कि यदि उन्होंने जेल के बाहर और भीतर की गतिविधियों की हमें खबर दी तो उन्हें पीटा जायेगा। हम कटे-कटे-से, क्रुद्ध और असहाय स्थिति में थे और चारों ओर से विद्वेष की कगारोंवाले संदेह के सागर से घिरे थे। हमने बड़ी बेचैनी से दिन काटे। किसी काम में मन नहीं लगता था और सदा यह सोचते रहते कि न जाने हमारी कोठरी की दीवारों के बाहर क्या घटित हो रहा है। हमें एक अफ़वाह सुनने को मिली कि सभी नक्सलवादी क़ैदियों की तलाशी ली गयी है। मैं अमलेन्दु के बारे में सोचने लगी। वह अब भी क़ैद-तनहाई में है और जो कुछ घटित हो रहा है उसके बारे में हम लोगों की अपेक्षा उसे कम ही जानकारी हो पाती होगी। मैं जानती थी कि वह मेरे बारे में चिंतित हो रहा होगा पर कोई तरीका ऐसा नहीं था जिससे उसे बताया जा सके कि मैं बिलकुल ठीक हूँ। वॉर्डरों ने अपनी चौकसी बढ़ा दी थी और कोई संदेश भेजने की आशा करना बेकार था।

एक बार फिर हम लोगों को रात में अलग-अलग कोठरियों में बंद किया जाने लगा। महिला वॉर्डरों और मेटिन द्वारा हमारी किताबें, अखबारों, पत्रों और खाने की जाँच की जाती थी। पहले के दोस्ताना और हमदर्दी भरे व्यवहार का कोई संकेत भी देखने को नहीं मिलता था। उजाड़े गये बाग-बागीचों का सूनापन हमारी खुद की मानसिकता में प्रतिबिम्बित हो रहा था। गीत गाने, हँसी-मज़ाक करने या अपने खाने की सूची में नयी-नयी चीज़ों को शामिल करने की योजनाएँ बनाने में अब हम असमर्थ थे और पूरी तरह पराजित, व्यग्र और असुरक्षित हम यह सोचते रहते कि अब क्या होने जा रहा है। शाम को वॉर्डर का दैनिक निरीक्षण अब जितनी बारीकी से किया जाता था उतना पहले कभी देखने में नहीं आया। एक दिन वह सरसों और नारियल के तेल की बोतलें लेता गया जो खाना बनाने और कल्पना के बालों के लिए था। मैंने इसका विरोध किया पर उस पर कोई असर नहीं पड़ा। उसने कहा, बोतलें रखने की अनुमति नहीं है और वह इन्हें जेलर को दिखायेगा। ये सारी बातें बड़ी हास्यास्पद थीं, ये बोतलें तलाशी के काफ़ी समय पहले से यहाँ मौजूद थीं—अलबत्ता उसने इन पर ध्यान नहीं दिया था। अब वह मुझ पर नियम-भंग करने का इस तरह आरोप लगा रहा था जैसे मैंने जान-बूझकर निर्देशों का उल्लंघन किया हो। मुझे बेहद क्रोध आया लेकिन मैं कुछ नहीं कर

सकती थी।

सौभाग्य से हमारे पास अभी भी कुछ दोस्त बच रहे थे। इनमें से एक थी सुकरी। वह एक हरिजन औरत थी और हज़ारीबाग से कुछ दूर स्थित एक कारखाने में जमादारनी का काम करती थी। उस पर और उसके पति पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने अपने पास ताँबे के चुराये गये तार रखे थे। सामान्यतया इस अपेक्षाकृत मामूली-से अपराध में ज़मानत मिलने में न तो कोई दिक्क़त होती है और न अधिक पैसा ही खर्च होना है। लेकिन पास में ज़मीन या जायदाद न होने से और वकील की बेईमानी के कारण उन्होंने बचाये गये अपने सारे पैसे भी फूँक डाले और फिर भी जेल से नहीं निकल सके। शुरू के कुछ हफ़्तों के बाद हमने जान लिया था कि उनका वकील उन्हें ठग रहा है। हमने सुकरी से कहा कि वह अपने पति को मना कर दे कि वह अब वकील को पैसे न दे लेकिन नौकरी चली जाने से पहले जेल से छूट कर काम पर पहुँच जाने की चिंता में वे भोलेपन के साथ तब तक पैसे देते रहे जब तक उनका हाथ बिलकुल खाली नहीं हो गया।

अब हमारी कठिनाई के दिनों में सुकरी को हमारी दी गयी सलाह याद आयी और वह हमारे साथ हो गयी। हर पन्द्रह दिन पर वह अपने पति से मिलने कचहरी जाती थी। उसका पति एक नक्सलवादी सेल में जमादार का काम करता था और नक्सलवादियों तथा उनके हमदर्द समझे जाने वाले सभी क़ैदियों की तरह उसके भी पैरों में बेड़ी डाल दी गयी थी। अब दिन भर वह अपनी कोठरी में पड़ा रहता। जब भी वह कचहरी से लौटती, और जैसे ही उसे धीरे से हमसे बात करने का मौक़ा मिलता, वह हमें बता जाती कि अन्य नक्सलवादी क़ैदियों के साथ क्या हो रहा है। पुरुषों के वॉर्ड में हमारी तुलना में और भी ज़्यादा ज़बर्दस्त ढंग से तलाशी ली गयी और तलाशी का यह काम हर रात चलता रहा। कहा जाता था कि इन वॉर्डों में से एक की दीवार के पास डायनामाइट की छड़ें पायी गयीं। यह भी अफ़वाह थी कि जिन क़ैदियों ने ग़ैरक़ानूनी ढंग से डायनामाइट की छड़ें अन्दर लाने में कामयाबी पायी थी उन्होंने स्पेशल ब्रांच पुलिस की आँख में पूरी तरह धूल झोंक दी थी। काफ़ी रात गये सुपरिंटेंडेंट को उसके क्लब से बुलाया जाता था ताकि वह अपनी देखरेख में तलाशी ले। हमने कई लोगों से इन अफ़वाहों के बारे में पूछताछ की लेकिन किसी भी स्रोत से इनकी पुष्टि नहीं हो सकी।

एक दिन सुकरी कचहरी से हमारे एक सहप्रतिवादी का पत्र छिपाकर लायी। इसमें हम लोगों को चेतावनी दी गयी थी कि हम सतर्क रहें और किसी भी तरह के उकसावे में न आयें। एक हमदर्द वॉर्डर ने उन्हें बताया था कि अगली बार हर महीने खतरे की घंटी बजने का रिहर्सल जब शुरू होगा ठीक उसी समय नक्सलवादी वार्ड पर व्यापक प्रहार करने की योजना बनी है। उसने जेल के कार्यालय में इस विषय पर अधिकारियों को बातचीत करते सुन लिया था। इस पत्र को पाकर हम हर बार से भी ज़्यादा सतर्क हो गयीं लेकिन यह समझ में नहीं आ रहा था कि इसके लिए हम किस तरह की तैयारी करें।

सुरक्षा-व्यवस्था कड़ी कर दिये जाने से खुद जेल के कर्मचारियों को भी नुक़सान उठाना पड़ रहा था। जब भी वे ड्यूटी पर आते थे या ड्यूटी समाप्त करके घर जाने लगते थे तो उनकी तलाशी ली जाती थी और इसीलिए अब वे अपनी आदत के मुताबिक़ भंडार-गृह से निकाले गये या क़ैदियों से खरीदी गयी खाने-पीने की चीज़ों और अन्य सामान को बाहर ले जाने में असमर्थ थे। हमें पता चला कि कुछ नयी उम्र के वॉर्डरों ने, जिनकी तनख्वाहें बहुत कम हैं और जो जेल
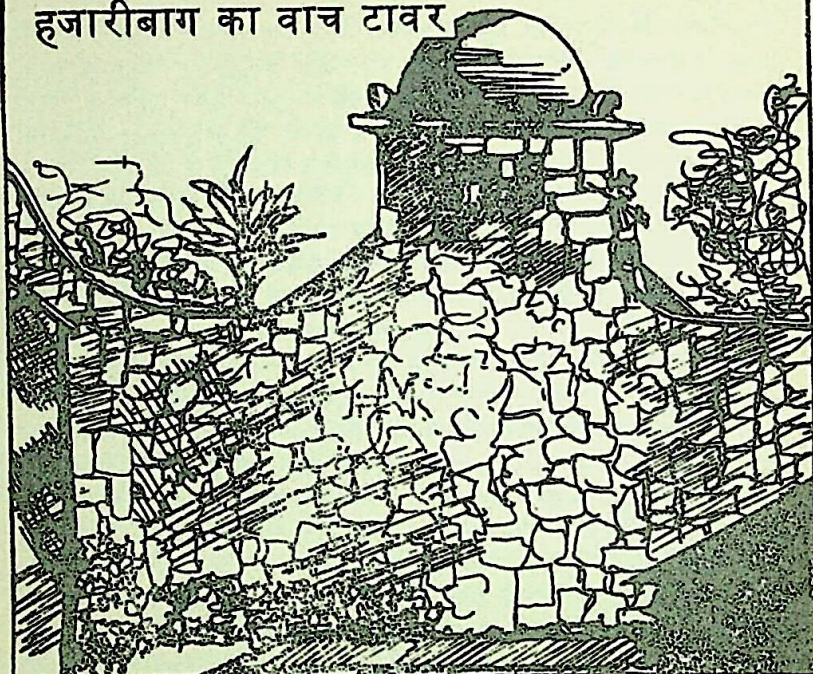
के अन्दर से प्राप्त होने वाले सस्ते सामानों पर पूरी तरह निर्भर करते हैं, इन नये प्रतिबंधों से निपटने के लिए एक अद्भुत लेकिन खतरनाक तरीका ढूंढ निकाला है। वॉच टॉवर पर जिनकी ड्यूटी लगी होती थी वे एक रस्सी में बाल्टी डालकर जेल के भीतरी अहाते में उसे लटका देते थे। इस बाल्टी में जेल के क़ैदी चावल, आलू, आटा या सरसों का तेल भर देते थे और बाल्टी ऊपर खींच ली जाती थी। इसके बाद उसी बाल्टी को जेल के बाहर लटका दिया जाता था जहाँ वॉर्डरों के साथी या उनके परिवार के सदस्य इनमें से सारा सामान निकाल लेते थे। इसमें कोई शक नहीं कि पकड़े जाने पर उन्हें अपनी नौकरी से हाथ धोना ही पड़ता।

सामान्यतया नये क़ायदे-क़ानूनों और लगातार जांच-पड़ताल तथा तलाशी से जेल के कर्मचारी चिढ़ गये थे और नक्सलवादियों से बहुत असंतुष्ट थे। इनका खयाल था कि इन सारी परेशानियों की जड़ में नक्सलवादी क़ैदी हैं। खुद हमारे वॉर्ड में मेटिन और एक महिला वॉर्डर बहुधा अन्य क़ैदियों से बताया करती थी कि नक्सलवादियों के आने से पहले तक जेल एकदम घर-जैसा' था लेकिन इन लोगों ने सब बर्बाद कर दिया। फिर भी फलों के पेड़ और सब्जियों वाला बागीचा उजाड़ने की सुपरिंटेंडेंट की कारवाई से औरतें बहुत क्षुब्ध थीं। गाँव की होने के नाते और पर्याप्त खाद्यान्न पैदा करने के लिए कठिन संघर्ष के अनुभव से गुज़रने के नाते वे खाद्य पदार्थ पैदा करने वाली किसी भी चीज़ की बर्बादी को अपराध समझती थीं। वे भविष्यवाणी करती थीं कि सुपरिंटेंडेंट को भगवान से इसकी सज़ा मिलेगी। दंडित होने के भय से वे कुछ हफ़्तों तक हमसे दूर-दूर रहीं लेकिन धीरे-धीरे वे फिर हमारे पास आने लगीं और बातचीत करने लगीं।

तलाशी के बाद सुपरिंटेंडेंट अक्सर निरीक्षण के लिए आ जाया करता।

यहाँ तक कि रात में भी वह बराबर निगाह रखता था और वॉच टॉवरों तथा ड्यूटी चौकियों के चक्कर लगाता हुआ वह इस बात की जांच करता कि कोई वॉर्डर सो तो नहीं रहा है। तीन जवान वॉर्डर ड्यूटी पर सोते हुए पकड़ लिये गये और निलंबित कर दिये गये। सारी रात हमें एक टॉवर से दूसरे टॉवर तक चिल्ला कर बतायी गयी क़ैदियों की गिनती सुनायी पड़ती, बग़ल के वार्डों की सलाखों को लोहे की छड़ से जाँच के लिए पीटने की आवाज़ सुनने में आती, तालों की खड़-खड़ाहट और घंटियों के बजने की आवाज़ सुनायी देती। दिन के समय भी सुपरिंटेंडेंट जेल के चक्कर लगाता रहता और चारों तरफ़ देखता जाता कि कहीं कोई संदिग्ध वस्तु तो नहीं है। एक दिन दोपहर बाद हमारे वॉर्ड में प्रवेश करते ही उसने ड्यूटी पर तैनात महिला वॉर्डर को हमारी कोठरी की तलाशी लेने के लिए भेजा और उसे बताया कि उसे गोली मारने के लिए हमने एक पिस्तौल छिपा कर रखी है। एक और दिन हमारे राशन पर रखे बोरों को उठाकर उसने देखा कि नीचे दो संतरे रखे हुए हैं जिन्हें डॉक्टर ने मेरे लिए भिजवाया था। इन संतरों को अपनी छड़ी से ठोकते हुए उसने जानना चाहा कि हमें किसने अमरूद लाकर दिया है। जब तक उसने ख़ुद सूँघकर देख नहीं लिया, उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह अमरूद नहीं, संतरे हैं।

उस साल अप्रैल से लेकर अक्तूबर तक लगभग हर रोज़ बारिश होती रही। हमारे कपड़ों और किताबों में सीलन भर गयी थी और फफूंददार धब्बे पड़ गये थे और चावल तथा आटे का स्वाद कड़वा हो गया था। बारिश का पानी दीवारों और छत से रिस-रिस कर कोयले, जलाने की लकड़ी, कम्बलों और बोरों को तर कर रहा था। जेल से बाहर बिहार का एक बहुत बड़ा इलाका हफ़्तों से जलमग्न था, फसल बर्बाद हो गयी थी। रोज़ की सब्ज़ी के नाम पर हमें काले हो गये आलू मिलते थे जिनको मुँह में डालते ही अजीब बदबू से तबीयत भन्ना उठती थी। आसमान हमेशा बादलों से भरा रहता था और सामने का बागीचा एक दलदल बनकर रह गया था।

ऐसी ही, एक इतवार की अपराह्न, मूसलाधार वर्षा में मैं अँगीठी को किसी तरह जलाने की कोशिश कर रही थी ताकि हम शाम के लिए चपातियाँ बना सकें कि तभी ख़तरे की घंटी टनटना उठी और वॉर्डरों के सीटियों की तेज़ आवाज़ें सुनायी पड़ने लगीं। ड्यूटी पर तैनात महिला वॉर्डर हमें अपनी-अपनी कोठरियों में बंद करने के लिए दौड़ पड़ीं। अभी हमारी कोठरियों के ताले बंद भी नहीं हुए थे कि गोली चलने की आवाज़ आने लगी। अगले दो घंटे तक जेल के हर कोने से गोली चलने की आवाज़ें आ रही थीं और मैं अपनी कोठरी में बंद, एक असहाय की तरह दरवाज़े के सींखचों को कसकर पकड़े गोली चलने की आवाज़ें सुनती रही। हमारी वार्डर इस भय से कि कहीं से कोई गोली उसे न लग जाये, छिपकर खड़ी थी। मेरा दिल तेज़ी से धड़क रहा था और पूरा शरीर काँप रहा था। बाहर जो कुछ हो रहा था उसे न जान पाने की यंत्रणा से लग रहा था कि मेरा सर फट जायेगा। लगभग ५ बजे चीफ़-हैड वॉर्डर महिला क़ैदियों की गिनती करने आया। वह बेहद घबराया हुआ था। सर पर टोपी नदारद थी, बाल बिखरे हुए थे और पाँवों में जूते भी नहीं थे। रात में नौ बजे जेल के चारों तरफ़ स्थित खेमों के बाहर मिलिटरी पुलिस का एक दल हमारी तलाशी लेने आ गया। उनके अफ़सर ने बड़ी उपहासपूर्ण मुद्रा में मुझे बताया कि कुछ नक्सलवादी मारे गये हैं। हमारी कोठरियाँ फिर अगले दिन सवेरे तक नहीं खोली गयीं। उस दिन हमने महिला वॉर्डरों से इस

घटना के बारे में जानना चाहा पर वे चीफ़-हैड वॉर्डर के डर से खामोश रहीं। हमें बहुत परेशान देखकर उनमें से एक ने यह कहकर तसल्ली देने की कोशिश की कि तम्बाकू और बीड़ी के प्रश्न पर कुछ क़ैदियों और वॉर्डरों में झगड़ा हो गया था और गोली चलने की जो आवाज़ हमने सुनी थी वह हवा में छोड़ी गयी गोलियों की आवाज़ थी। हम जानती थीं कि वह जो कुछ कह रही है, सच नहीं है।

अगले दिन सवेरे, औरतों का खाना लाने वाले क़ैदियों में से एक ने अपने चेहरे के सामने हाथ उठाकर उँगलियों से इशारा करते हुए बताया कि दस क़ैदी मारे गये हैं। मैं इसी संदेह में पड़ी रही कि उनमें कहीं अमलेन्दु भी तो नहीं है। कभी-कभी मैं कल्पना करती कि वह मर चुका है फिर अपने को इत्मीनान दिलाती कि उसे कुछ नहीं हुआ होगा। कई सप्ताह बाद जब उसकी बहनें उससे मिलने आयीं और उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि उससे वे मिल चुकी हैं और बात कर चुकी हैं तब कहीं जाकर मुझे निश्चित रूप से पता चल सका कि वह सही-सलामत है। दरअसल मेरे सह-प्रतिवादियों में से कोई भी इस घटना की चपेट में नहीं आया था। गोलीकाण्ड २५ जुलाई, १९७१ को हुआ था और अगस्त के उत्तरार्द्ध में मुझे **लंदन टाइम्स** में पढ़ने को मिला कि उस दिन की घटना में १६ नक्सलवादी मारे गये थे। उप-उच्चायुक्त ने कुछ ही दिनों पहले से मुझे **लंदन टाइम्स** भेजना शुरू किया था जिसे जेल-अधिकारियों ने सेंसर करने की ज़रूरत नहीं समझी थी। कुछ दिनों बाद मुझे **टाइम्स ऑफ़ इंडिया** में प्रकाशित एक विवरण से पता चला कि मारे गये नक्सलवादियों में से १२ को पुलिस ने पीट-पीटकर मार डाला था। इसके भी कई दिनों बाद एक महिला वॉर्डर ने उस दिन की पूरी कहानी बतायी। उस दिन नक्सलवादी क़ैदियों का एक गुट अपने सेल से निकल भागा था और जेल के फाटक तक पहुँच गया था। ज़ाहिर था कि उनका इरादा जेल से निकल भागने का था। जेलर ने उन्हें देख लिया था और उसने वॉर्डरों को गोली चलाने का आदेश दे दिया। जो लोग सचमुच अपनी कोठरियों से निकल भागे थे उन्हें गोली से भून देने के बाद 'विश्वासपात्र' क़ैदियों की मदद से हथियारबद वॉडरों ने नक्सलवादियों के अन्य वॉर्डों पर धावा बोल दिया क़ैदियों को उनकी कोठरियों से खींच-खींचकर निकालना और पीटना शुरू कर दिया और कुछ को अत्यन्त नज़दीक से गोली मार दी। लगभग आधा दर्जन क़ैदियों से जिस घटना की शुरूआत हुई थी, देखते-देखते उसकी परिणति यह हो गयी कि लोग अंधाधुंध मारे जाने लगे। १६ नक्सलवादियों के मारे जाने के अलावा घटना के एक महीने बाद तक ३१ क़ैदी घायल अवस्था में जेल के अस्पताल में पड़े रहे। हालांकि कई वर्षों बाद मुझसे चीफ़-हैड वॉर्डर ने बताया कि उस समय यदि वह ड्यूटी पर रहा होता तो खून-खराबे की नौबत नहीं आती, फिर भी मुझे ऐसा लग रहा था कि नक्सलवादियों के एक छोटे गुट द्वारा जेल तोड़ने की कोशिश ने अधिकारियों के हाथ में वह अवसर दे दिया था जिसकी वे काफ़ी दिनों से तलाश कर रहे थे।

उस साल मेदिनीपुर, बरहामपुर, दमदम, पटना और कलकत्ता की जेलों में हुई वारदातो में पुलिस की गोली से लगभग ४५ नौजवान मारे गये थे। बाद में और लोगों की हत्या हुई। हज़ारीबाग की घटना की जाँच भी हुई और इसमें चौंकने की बात नहीं है कि जांचकर्ता ने— जो एक अवकाश-प्राप्त जज थे-- अपने फैसले में गोलीकांड को उचित ठहराया। 'वफ़ादार' कैदियों को, जिन्होंने कुछ व्यक्तियों को पीट-पीटकर मार डालने में मदद की थी, पुरस्कार-स्वरूप सज़ा में पाँच-पाँच साल की छूट दे दी गयी।

लगता था जैसे जेल की घटनाएँ अधिकारियों का मन भरने के लिए काफ़ी नहीं थी। एक दिन सेंसर की स्याही से बच निकले एक समाचार से मुझे पता चला कि उत्तरी कलकत्ता में बारासात में सड़क के किनारे ग्यारह युवकों की लाशें बिखरी हुई मिलीं जिनके बारे में संदेह किया जाता है कि ये नक्सलवादी थे। लोगों का अनुमान था कि ये हत्याएँ तथा कलकत्ता के उपनगरीय क्षेत्रों -- दमदम और डायमंड हार्बर में इसी तरह की और रहस्यमय ढंग से बड़े पैमाने पर की गयी हत्याएँ पुलिस ने की हैं। नक्सलवादी युवकों को थाने में पीट-पीटकर मार डालने की खबरें कई बार अखबारों में छपीं। एक समाचार-पत्र में किसी पाठक ने पत्र वाले स्तम्भ में लिखा कि वह रात में सो नहीं पाता है क्योंकि उसके मकान के पास स्थित पुलिस-थाने में लोगों को इतना पीटा जाता है कि वे ज़ोर-ज़ोर से रात भर चीखते रहते हैं। कल्पना को कुछ दिनों से अपने परिवार के बारे में कोई खबर नहीं मिली थी। बाद में हमें पता चला कि उसके एक भाई और एक भतीजे को नक्सलवादियों का हमदर्द बताकर गिरफ़्तार किया गया है। उन्हें तीन महीने तक हिरासत में रखने के बाद रिहा किया गया।

अपनी गिरफ़्तारी के काफ़ी दिनों बाद मेरी मुलाक़ात अचानक एक महिला से हुई जो एक जेल-अधिकारी की रिश्तेदार थी। वह पश्चिम बंगाल के बीरभूम ज़िले की रहनेवाली थी। उसने मुझे बताया था कि उन अंधकारपूर्ण दिनों में उसके घर के आसपास के गाँवों में पुलिस, नवयुवकों को आवाज़ देकर घरों से बाहर बुलाती थी और दरवाज़े तक आते ही उन्हें गोली मार देती थी। ऐसा लगता था कि क़ानून लागू करनेवाली सारी संस्थाएँ व्यापक आतंक पर उतारू हो गयी थीं ताकि लोगों को नक्सलवादियों का रास्ता अख़्तियार करने से रोका जा सके।

जुलाई की उस इतवार के बाद जेल ने एक नयी शक्ल धारण कर ली। हज़ारीबाग जेल का जिस समय निर्माण हुआ था, वह अपने पेड़ों और बाग-बागीचों की वजह से एक आदर्श जेल माना जाता था। अब आम, अमरूद, कटहल और कैथ के दर्जनों पेड़ काट डाले गये थे ताकि चौकसी के लिए बने वॉच टॉवर से सारे वॉर्ड साफ़-साफ़ दिखायी पड़ें। दिन भर पेड़ों के कटने और चरचरा कर गिरने की आवाज़ सुनायी देती रहती। एक-एक करके जैसे-जैसे ये पेड़ गिरते जाते थे, हमें ऐसा लगता हमारी रक्षा के लिए बनायी गयी सीमाएँ टूटती जा रही हैं और अब हमारे तथा हमारी निगरानी के लिए तैनात प्रहरियों के बीच एक खुली युद्ध-भूमि है। हमारी दीवार के ठीक परे वाले आम के दो विशालकाय पेड़ों को काट दिये जाने के बाद से हम लगभग ६० गज़ की दूरी पर स्थित सबसे नज़दीक वाले वॉच टॉवर पर खड़े संतरी को साफ़-साफ़ देख सकते थे जो सारे दिन राइफल को रखे आँधी-पानी में खड़ा रहता था। ऐसा लगता था कि वे अब एक दूसरे गोली-कांड की तैयारी कर रहे थे। यहाँ तक कि रात में अपनी कोठरियों में सोते समय भी हम अपने को एकदम असुरक्षित महसूस करती थीं— हम वॉच टॉवर से साफ़-साफ़ दिखलायी पड़ती थीं और पूरी तरह संतरी की गोली की पहुँच में थीं।

मुझे महसूस होता था कि मैं एक युद्धबंदी हूँ लेकिन जेल के बाहर के लोगों को मैं कैसे बता सकती थी कि अन्दर क्या हो रहा था? यह जानकर कि मेरी ओर से कोई खबर न पाकर और खासतौर से ब्रिटिश अखबारों में प्रकाशित गोलीकांड वाली खबर देखकर मेरे माँ-बाप कितने चिंतित होंगे-- मैंने उन्हें दो-चार पंक्तियाँ लिखनी चाहीं कि सब-कुछ ठीक चल रहा है और मेरा जीवन शांति-पूर्ण तथा आनंदमय है। इसमें कोई शक नहीं कि सेंसर के लोग मुझसे बहुत खुश

हुए। मैं अर्धसत्य लिखने से घृणा करती थी लेकिन मैं जानती थी कि यही एकमात्र तरीका था जिससे मेरे बारे में कोई समाचार मेरे माँ-बाप तक पहुँच सकता था।

क़ैदी बेचारे डरे-डरे-से रोज़ का काम करते, महिला वॉर्डरें हमारे वॉर्ड में घुसने वाले हर व्यक्ति की तलाशी लेतीं और हमारी ओर संदेह से देखतीं। कुछ ने तो दूसरी औरतों को आगाह किया कि अपनी दुर्दशा और अन्यायों के बारे में ज़बान न खोलना वरना नक्सलवादियों की सूची में नाम डाल दिया जायेगा और क़ैद-तनहाई के रूप में एक कोठरी में बंद हो जाना पड़ेगा। फिर भी इन सारी स्थितियों के बीच सैबुनिसा के बूढ़े और झुर्रीदार चेहरे वाले पति ने उस ब्लॉक की तरफ़ जाने का खतरा लिया जिसमें अमलेन्दु की कोठरी थी ताकि वह उसका हालचाल ले सके। हालाँकि वस्तुत: अभी वह उस ब्लॉक तक पहुँच भी नहीं पाया था जहाँ सबसे ज्यादा सुरक्षा व्यवस्था की थी कि उसी दिन उस बूढ़े व्यक्ति पर नक्सलवादियों की मदद करने का आरोप लगाया गया और एक कोठरी में बंद कर दिया गया। वह उस कोठरी में तब तक बंद रहा जब तक उसके एक लड़के ने चीफ़-हैड वॉर्डर को दस रुपये घूस के रूप में नहीं दे दिये। उसकी इस मुसीबत के लिए अपने को दोषी मानकर मैं अपराध-भाव से ग्रस्त हो गयी पर उसने इस सम्बन्ध में कुछ सोचा ही नहीं। उसने एक संदेश के ज़रिए मुझे आश्वासन दिया कि वह फिर कोशिश करेगा।

इस भीषण बरसात के मौसम के दौरान लगातार समाचारपत्रों में पाकिस्तान के साथ युद्ध की भूमिका तैयार की जाती रही। अखबारों में प्रकाशित तमाम लेखों में राष्ट्रीयता की भावना को उभारने की एक अनगढ़ कोशिश की जा रही थी। मार्च से ही पूर्वी पाकिस्तान में गृह-युद्ध भड़क उठा था, तमाम शरणार्थी सीमा पार कर भारत में प्रवेश कर रहे थे और कलकत्ता के चारों तरफ़ बने शिविरों में वे अत्यन्त दुःसह स्थितियों में रह रहे थे। ऐसा लगता था कि भारत हस्तक्षेप करने का रास्ता बना रहा था। अगस्त में भारत और सोवियत संघ के बीच शान्ति, मैत्री तथा सहयोग सम्बन्धी संधि सम्पन्न हुई जिसकी व्यापक रूप से यह व्याख्या की गयी कि यह भारत सरकार को पूर्वी बंगाल में अपनी सेना भेजने के लिए प्रोत्साहित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण क़दम है।

१९७१ के अगस्त के अंतिम दिनों में सुपरिंटेंडेंट एक बार फिर अचानक ही हमारे वॉर्ड में आया—इस बार उसके साथ एक पुलिस अफ़सर था जिसने अपना नाम बताने से और यह बताने से कि वह कहाँ से आया है, इनकार किया। उसने मुझसे पूछताछ शुरू की—मेरा नाम राष्ट्रीयता, पासपोर्ट नम्बर और तमाम ब्यौरों की जानकारी ली, जो पहले से ही अधिकारियों के पास दर्ज थी। कल्पना ने मुझसे फुसफुसा कर कहा कि इन सारी बातों को दुहराने की कोई तुक नहीं है। उसकी इस साधारण टिप्पणी पर सुपरिंटेंडेंट ने अप्रत्याशित रूप से उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। अपने हाथ की छड़ी उठाकर उसने कल्पना को बगल की कोठरी में जाने का आदेश दिया। कल्पना के पीछे-पीछे जब मैं भी जाने की कोशिश करने लगी तो उसने मेरा रास्ता रोक दिया और दहाड़ते हुए बोला कि मैं जहाँ खड़ी हूँ, वहाँ से इधर-उधर न खिसकूँ और पुलिस अफ़सर के सवालों का जवाब दूँ। अब तक मैं पन्द्रह महीने जेल में काट चुकी थी और मुझे पता चला था कि नियमत: जेल के अहाते में पुलिस विभाग के अधिकारियों का प्रवेश नहीं होना चाहिए। मैंने फैसला किया कि चाहे कुछ हो जाय मैं किसी भी हालत में अब सवालों का जवाब नहीं दूँगी।

मैं चुपचाप बैठ गयी और मैंने जवाब देने से या किसी बयान पर दस्तखत करने से इनकार कर दिया। इस बीच सुपरिंटेंडेंट की कल्पना के साथ एक मुठभेड़ हो गयी थी, वह कल्पना को बगल की कोठरी में धक्का देते हुए ले जा रहा था और ज़बान खोलने की गुस्ताखी की सज़ा में उसे कोठरी में बन्द कर रहा था। वह वापस मेरे पास आया और उसने कहा कि मुझे 'जवाब देना ही पड़ेगा'। मैं ख़ामोश रही। अन्त में उसने मेरी सभी पुस्तकों और कागज़-पत्रों को वापस ले जाने का निर्देश दिया। उसने कहा कि आइन्दा से मुझे कुछ भी पढ़ने को नहीं मिलेगा और पहले की ही तरह मुझे दिन-रात कोठरी में बन्द रखा जायेगा। मैंने उससे कहा कि यदि ऐसा हुआ तो मैं अनिश्चितकाल के लिए भूख-हड़ताल शुरू कर दूँगी क्योंकि मैंने जेल के नियमों का क़तई उल्लंघन नहीं किया है और मुझे इस बात का पूरा अधिकार है कि मैं सवालों का जवाब न दूँ। वह यह कहते हुए चला गया कि 'ठीक है, यदि तुम जवाब देने के लिए मुँह नहीं खोल सकती तो तुम खाने के लिए भी मुँह नहीं खोल सकोगी।'

उस रात न तो हमें पानी दिया गया और न कोठरी में रोशनी के लिए लैम्प ही दिया गया। फिर भी, आश्चर्य की बात है कि अगली सुबह हमारी कोठरियाँ खोल दी गयीं। फिर भी हमने तय किया कि जब तक हमारी पुस्तकें और हमारे अखबार हमें फिर से नहीं मिलते हैं हम भूख-हड़ताल जारी रखेंगी। हम हैरान थे कि हमारे ताले खोलने में असाधारण रूप से इतनी उदारता क्यों बरती गयी। दिन का तीसरा पहर होते-होते हमारी पुस्तकें और कागज़-पत्र हमें वापस मिल गये तथा इस सिलसिले में और कुछ नहीं कहा गया।

दूसरे दिन सवेरे हमारी समझ में आया कि अधिकारीगण क्यों स्थिति को गम्भीर नहीं बनाना चाहते थे। अभी पूरी धूप भी नहीं निकली थी कि हमारे वॉर्ड के बाहर की घंटी ज़ोर से टनटना उठी और इसके एक ही मिनट बाद एक महिला वॉर्डर कल्पना की कोठरी के बाहर खड़ी होकर कल्पना से कह रही थी कि वह तैयार हो जाये क्योंकि उसका कलकत्ता के लिए तबादला हो गया है। अगला घंटा जल्दी-जल्दी तैयार होने में बीता। हमें अपनी सारी चीज़ें दो हिस्सों में बाँटनी पड़ीं। कल्पना के घने चमकते बालों में अंतिम बार कंघी करते समय हमने सम्पर्क बनाये रखने के लिए सोचे गये उपायों को एक-दूसरे को याद दिलाया। मुझे ऐसा लगा कि शायद अमलेन्दु का भी तबादला कर दिया जाय और मैंने कल्पना को एक संदेश दिया ताकि यदि अमलेन्दु से उसकी मुलाक़ात हो तो उस तक पहुँचा सके। दरअसल उसे भी उसी दिन कलकत्ता पहुँचाया गया लेकिन इस बारे में मुझे दो महीने बाद ही पक्की खबर मिली।

जैसे ही दूसरे बंदियों के ताले खोले गये, कल्पना की पुकार हुई। शुरू से ही हमें पता था कि देर-सवेर हमें अलग होना ही है फिर भी विदाई की यह घड़ी एकदम अप्रत्याशित-सी लगी। अपने वॉर्ड के फाटक से कल्पना को अलविदा करने के बाद अपनी कोठरी में लौटने पर मैंने बड़ी मुश्किल से अपने आँसू रोके -मैं नहीं चाहती थी कि दूसरी औरतें, जो बहुत सहृदय क़िस्म की थीं, मुझे रोते देखकर अशान्त हो उठें।

सैबुनिसा और रोहिणी मेरे पास आकर बैठ गयीं और मुझे दिलासा देती रहीं कि वे मेरा ध्यान रखेंगी। सैबुनिसा जानती थी कि मुझे मिठाई पसंद है। उसने मेरे लिए चिल्ले बनाये और उस पर चीनी छिड़क दी। यह चीनी उसने बचाकर रखी थी। मैं भाव-विभोर हो उठी, फिर भी मुझे पता था कि मुझे कल्पना के न

होने की कमी जितनी खलेगी उसे मैं इन्हें बता नहीं सकूँगी। इतने दिनों के साथ के दौरान हम एक-दूसरे के काफ़ी क़रीब आ गयी थीं। कल्पना एक अच्छे खाते-पीते मध्यवर्गीय परिवार की लड़की थी पर अपने देशवासियों की पीड़ा के अहसास ने उसे एक सुखी' व्यवस्थित शादी-शुदा ज़िन्दगी और आरामदेह घर-परिवार के सुगम रास्ते पर चलने से रोक दिया और वह कलकत्ता की गन्दी बस्तियों में काम करने लगी। भूख, बीमारी, हिंसा और मृत्यु के सम्पर्क ने उसे तपा दिया था। उसकी तुलना में मैंने बहुत सुगम और सुरक्षित जीवन बिताया था और आज उसके न होने से मैं बहुत अरक्षित महसूस कर रही थी। फिर भी ऊपर से नज़र आने वाली इस अड़ियल लड़की को मैंने एक साथी क़ैदी की दुखद जीवन-गाथा को सुनकर फूट-फूटकर रोते देखा था और मैंने देखा था कि किस तरह एक बीमार औरत की देखभाल के दौरान वह खाना, पीना, या बालों में कंघी करना भूल गयी थी। कठिन स्थितियों में भी हँसते रहना, हमारा मनोबल तोड़ने की कोशिश करने वालों का मज़ाक उड़ाना, अन्याय के खिलाफ़ क़दम उठाने के लिए हमेशा तैयार रहना और ज़रूरतमंदों की निःस्वार्थ भाव से सेवा करना कल्पना के ही वश की बात थी। बाद के वर्षों में अधिकारियों के साथ संघर्ष के दौरान न जाने कितनी बार मुझे उसकी कमी खटकती और मैं सोचती कि आज यदि वह होती तो मुझे कितनी ताक़त मिलती।

उस शाम मैं छोटे बच्चे प्रकाश को, जिसे कल्पना बेहद प्यार करती थी, अपनी गोद में लेकर बगीचे में टहलती रही और सोचती रही कि न जाने कल्पना और अमलेन्दु कहाँ होंगे, न जाने उन पर क्या बीतेगी यदि उन्हें कलकत्ता के कुख्यात पुलिस हैडक्वार्टर लाल बाज़ार ले जाया गया। मुख्य वॉच टॉवर की ओर इशारा करते हुए प्रकाश बोला, "कल्पना मौसी कहाँ हैं? वह कब वापस आएँगी?" काश, मैं उसके इस सवाल का जवाब दे पाती।
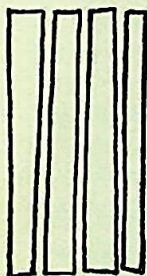
मेरे संगी-साथी

मेरी बगल की कोठरी अब खाली हो गयी थी इसलिए रात के समय बहुत अकेलापन महसूस होता था। एक या दो सप्ताह बाद लेउनी नाम की एक युवा महिला वॉर्डर, जो मुझे देखकर बहुत अफ़सोस करती थी, मेरे पास आकर बैठने लगी। उसने मुश्किल से अपनी किशोरावस्था को पार किया था और मुझे आश्चर्य होता था कि वह कैसे इस जेल की वॉर्डर बन सकी। उसने मुझे बताया कि उसके सौतेले पिता की मृत्यु के बाद उसके सौतेले भाइयों ने लेउनी की माँ को और उसके पाँच छोटे-छोटे बच्चों को घर से निकाल बाहर किया। उन्हें डर था कि ये लोग मृत पिता की ज़मीन का एक हिस्सा पाने का दावा करेंगे। लेउनी को गरीबी के वे दिन खूब अच्छी तरह याद हैं। अपना घर न होने की वजह से माँ और बच्चे एक परिचित परिवार के आँगन में सोते थे। लेउनी के परिवार के सदस्यों के पास न तो कोई बर्तन थे और न खाने के लिए कोई थाली। वे दिन भर में एक बार खाना खाते थे और खाने में उबला हुआ चावल और पत्तियाँ होती थीं। आँगन में खड़े एक पेड़ की पत्तियों को उबालकर कभी-कभी खा लेने से थोड़ा फेर-बदल हो जाता था। बाद में उसे और उसकी माँ को मज़दूर का काम मिल गया जहाँ वे अपने सर पर तसलों में ईंट और सीमेंट ढोया करती थीं। अब वह अपने को इस बात के लिए खुशक़िस्मत समझती है कि उसे एक ऐसी सरकारी नौकरी मिल गयी है जिसमें कुछ सुरक्षा की गारंटी है, नियमित रूप से खाना मिल जाता है और इतना पैसा मिल जाता है कि वह अपने छोटे भाइयों को स्कूल की फ़ीस दे सके।

जेल की अन्य तमाम महिला वॉर्डरों की ही तरह वह भी एक आदिवासी-परिवार से आयी थी जिसे ईसाई-मिशनरियों ने धर्म-परिवर्तन के ज़रिए ईसाई बना लिया था लेकिन अपने ही वर्ग की कुछ अन्य महिलाओं के विपरीत वह अपनी जाति के उन सदस्यों को, जिनका धर्म-परिवर्तन नहीं हुआ था, जंगली नहीं कहा

करती । इसके अलावा वह योरुपीय तौर-तरीकों की नक़ल करने की भी कोशिश नहीं करती थी । जैसे-जैसे उसके बारे में मेरी जानकारी बढ़ती गयी, उसके साहस और साफ़गोयी के लिए मेरे मन में एक सम्मान भी विकसित होने लगा और मैं उससे दोस्ती चाहने लगी । उसके तथा जेल के अन्य कर्मचारियों के बीच एक उल्लेखनीय अन्तर यह था कि उसने कभी न तो क़ैदियों पर अपराधी होने का आरोप लगाया और न उनसे यह ही कहा कि उन्हें इस बात के लिए अपने को भाग्यवान समझना चाहिए कि सरकार उनका पेट पाल रही है । वह जानती थी कि जेल में आने के लिए ज़रूरी नहीं कि अपराध किया ही जाये या कोई अपराधी ही जेल में आये । उन दिनों को याद करते हुए जब उसके पास कुछ भी नहीं था, वह अपने कपड़े बचाकर रखती जाती थी और उन क़ैदियों को दे देती थी जिनके पास कुछ भी पहनने के लिए नहीं था । आमतौर पर वह हम सबके लिए बड़ी दयालु और उदार थी ।

उस वर्ष हिन्दुओं के सबसे बड़े त्यौहार दुर्गापूजा के अवसर पर पुरुष क़ैदियों को कोठरियों के अन्दर बन्द कर दिये जाने के बाद मुझे इस बात की इजाज़त दी गयी कि मैं भी अन्य महिलाओं के साथ अपने 'मनोरंजन' के लिए उस भवन तक जाऊं जहाँ क़ैदियों ने दुर्गा माँ की मूर्ति स्थापित की थी । इस भवन को 'स्कूल और पुस्तकालय' कहा जाता था जबकि मुझे न तो वहाँ कोई पुस्तक दिखायी दी और न कोई ऐसा सामान ही देखने को मिला जिससे इस नाम का औचित्य ठहराया जा सके । यह भवन महिलाओं की डार्मिटरी का एक छोटा-सा रूप था जिसका इस्तेमाल पुरुष क़ैदियों के खेल के लिए किया जाता था । भवन के अन्दर तह किये कम्बलों पर खामोश भूतों की तरह धँसी आँखों वाले कुछ लोग पालथी मारकर बैठे थे । सींखचों वाले दरवाज़े के बाहर हम इकट्ठा हो गये जहाँ से 'दुर्गा माँ' को देख सकें । हम लोगों के पीछे जेल के कार्यालय के कुछ कर्मचारी खड़े थे जो छुट्टियों के अनुरूप अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहने थे और हमारी निगरानी कर रहे थे । अचानक वातावरण की ख़ामोशी भंग हुई और प्रकाश की अपंग माँ की चीख सुनायी पड़ी : ' दुर्गा माँ. मेरे बच्चे के अंडकोषों में सूजन आ गयी है मुझ पर दया करो ।" चीख सुनकर जेल-कार्यालय के क्लर्कों और हमारे बीच एक दबी फुसफुसाहट हुई । फिर एक सहायक जेलर ने कहा, "कौन है ? बिशनी ? मुझे पता था !" सचमुच प्रकाश के अंडकोषों में सूजन आ गयी थी और उसकी माँ ने फ़ैसला किया था कि चूंकि डॉक्टरों की दवा से वह ठीक नहीं हो रहा था और बाज़ार से लाया गया जंतर भी काम नहीं कर रहा था, वह खुद माँ दुर्गा से प्रार्थना करेगी । आश्चर्य की बात है कि वह बच्चा जल्दी ही अच्छा हो गया । हम जब भी उसकी इस प्रार्थना को याद करके हँसते तो वह झट से जवाब देती : "मेरी प्रार्थना ने काम किया। क्या मैं ग़लत कह रही हूँ ?"

छुट्टियों के कुछ ही दिनों बाद निगरानी की व्यवस्था में थोड़ा फेर-बदल किया गया । एक नयी महिला वॉर्डर हमारे वार्ड के लिए नियुक्त की गयी । तय हुआ कि अब से दिन की ड्यूटी पर दो और रात की ड्यूटी पर तीन वॉर्डर रहेंगे । इसके साथ ही सभी वॉच टॉवरों पर तेज़ रोशनी वाली सर्चलाइटें लगायी गयीं हालाँकि मेरे सबसे नज़दीक वाली सर्चलाइट ने लगभग एक वर्ष बाद ही काम करना शुरू किया । मुझे रात में अकेले नहीं रहने दिया जाता था । तीन क़ैदियों को मेरे साथ सोने का आदेश दिया गया था—ऐसा मेरे अकेलेपन को देखकर नहीं बल्कि मुझ पर निगाह रखने के लिए और मेरी गतिविधियों की ख़बर देते

रहने के लिए किया गया था। यह सारे परिवर्तन २५ जुलाई के गोलीकांड के प्रत्यक्ष परिणाम थे।

ऊपर से देखने पर हम चारों एकदम अपरिचित थे लेकिन हज़ारीबाग में नवम्बर की रातें बेहद ठंडी होती थीं और मानसून की बारिश से अभी तक गीली धरती के कारण भोर होते ही चारों तरफ़ कोहरा फैल जाता था जो सींखचों से होते हुए हमारी कोठरी में पहुँच जाता था। हम चारों अपने बिस्तर पास-पास बिछा लेते थे ताकि हमें ठंड न महसूस हो और जाड़े की बेहद लम्बी शामें कहानियाँ सुनाते और एक-दूसरे की पहेलियाँ बुझाते बिता देते थे। इन चीज़ों में मैं सक्रिय रूप से भाग नहीं ले पाती थी क्योंकि मैं अभी तक हिन्दी की स्थानीय बोली अच्छी तरह नहीं बोल सकती थी। चूंकि अब कल्पना मेरे पास नहीं थी जो मुझे अँग्रेज़ी में अनुवाद करके इन लोगों की बातों को समझा देती इसलिए मेरा भाषा-ज्ञान अब तेज़ी से बढ़ रहा था।

सींख़चों के एकदम पास बुलकानी सोती थी। बूढ़ी, दुबली-पतली और दमे की मरीज बुलकानी पहले एक कोयला खान में काम करती थी और एक मामूली-सी चोरी के अपराध में बिना मुक़दमे के तीन सालों से जेल में पड़ी हुई थी। उसे हमेशा हल्का-हल्का बुखार रहता था और वह ठंड नहीं महसूस करती थी इसीलिए वह हमारे और फाटक के रास्ते आने वाली हवा के बीच सोने में ख़ुशी महसूस करती थी ताकि हमें ठंड न लगे। उसकी बगल में मोहिनी सोती थी जो अपने पति और सबसे बड़े लड़के के साथ गिरफ़्तार हुई थी। यह परिवार ज़मीन के सवाल पर एक लड़ाई में फँस गया था और इस लड़ाई में एक औरत की हत्या हो गयी थी। मोहिनी के चार छोटे-छोटे बच्चे गाँव में थे और वह यह सोचकर परेशान रहती थी कि उस छोटे-से खेत से उनका काम कैसे चलता होता होगा। जब भी कोई त्यौहार या पर्व पड़ता और हम कोई 'विशेष व्यंजन' बनाकर उसे ख़ाने के लिए देते तो वह बैठकर रोने लगती और अपने बच्चों के बारे में सोचती कि वे न जाने क्या खा रहे होंगे। कभी-कभी उसका एक लड़का उससे मिलने जेल में आया करता था। हर मुलाक़ात के बाद वह घंटों बैठकर रोती रहती थी और सोचती रहती थी कि वे कितनी बुरी तरह क़र्ज़ के बोझ से दबते जा रहे हैं। एक दिन उसका लड़का यह खबर लेकर आया कि उसके दोनों बैल मर गये और अब चूंकि ज़मीन जोतने का कोई साधन नहीं रह गया है इसलिए वे सारी ज़मीन को बंधक रखना चाहते हैं और उस पैसे से अपनी माँ की ज़मानत का इंतज़ाम करना चाहते हैं।

मेरी बगल में पन्नो नाम की एक प्रौढ़ विधवा सोती थी। वह संथाल जनजाति की थी जो अपने जुझारूपन और ख़ासतौर से उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में अँग्रेज़ों के ख़िलाफ़ सशस्त्र विद्रोह करने के कारण मशहूर है। बहुधा रात में वह सोते-सोते अपनी लड़की के बारे में सपने देखकर कभी ऐंठती थी तो कभी फुसफुसाती थी और कभी बड़बड़ाने लगती थी। उसने अपनी लड़की के सर पर एक बड़े पत्थर से मारकर हत्या कर दी थी। कभी-कभी सवेरे-सवेरे वह मुझसे कहती, "मुझे ऐसा करना ही पड़ा। उस कुतिया ने हमारी नाक कटा दी थी। मुझे ऐसा करना ही पड़ा।" उसकी लड़की के पेट में गाँव के मुखिया का गर्भ पल रहा था और मुखिया ने उससे विवाह करने से इनकार कर दिया था। गाँव के अन्य लोगों के ताने और व्यंग्य सुनते-सुनते शरम से उसकी गर्दन झुक गयी फिर उसने पहले तो अपनी लड़की को खूब पीटा। फिर भी परिवार के नाम पर उसने जो कलंक का

धब्बा लगा दिया था उसे मिटाने के लिए शायद इस सज़ा को पर्याप्त न समझकर पन्नो एक दिन जलाने की लकड़ियाँ बटोरने अपनी बेटी को लेकर जंगल की ओर गयी और फिर उसने पीछे से अपनी बेटी पर हमला कर दिया। फिर इस औरत ने फौरन ही जाकर पुलिस के सामने अपने को हाज़िर कर दिया और इसके बाद चार वर्ष तक जेल में रहने के बाद उसे बीस वर्ष की सज़ा हो गयी।

पन्नो को देखकर मैं यही सोच पाती थी कि यह कभी क्रोध में पागल भी हो सकती है। बेहद परिश्रमी और दब्बूपन की सीमा तक शांत रहने वाली इस औरत से यदि कोई कड़े शब्द बोल देता था तो वह रो पड़ती थी और उससे पलटकर जवाब देना नहीं बनता था। कभी-कभी वह मेरे पास कुछ सिक्के लेकर आती और मुझसे गिनने को कहकर पूछती कि उसने उपवास से बचाकर कितने पैसे इकट्ठा किये हैं या यह देखने को कहती कि महिला वॉर्डर ने उसे कुछ पैसे तो नहीं दिये हैं। हर इतवार को वह बचाकर रखा हुआ थोड़ा आटा और शीरा देकर कहती कि "बेटी, मेरे लिए थोड़ा पीठा (एक तरह की मीठी दलिया) बना दो।"

हत्या के ऐसे जिन तमाम मामलों को मैंने देखा जिनमें बदले की भावना से या परिवार की इज़्ज़त बचाने के खयाल से हत्या की गयी थी, उनमें पन्नो का भी एक मामला था। इन मामलों में हत्या करने वालों ने कभी क़ानून की पकड़ से बच निकलने को नहीं सोचा था। वे जानते थे कि इसके लिए उन्हें कई वर्ष जेल में काटने पड़ेंगे लेकिन वे इसे अपने कर्त्तव्य का उचित मूल्य मानते थे। कुल मिलाकर गाँव के लोग उन क़ानूनों और आचार-व्यवहार को, जिसे राज्य उन पर थोपने की कोशिश करता था असंगत मानते थे। जेल-जीवन के अपने पाँच वर्षों में मुझे मुश्किल मे ही ऐसा कोई मामला देखने को मिला जिसमें पहले से योजना बनाकर हत्या की गयी हो।

मेरे साथ ही महिला क़ैदियों ने चूँकि एक सीमाबद्ध जीवन बिताया था, जिसमें प्रत्येक गाँव उसके लिए एक 'देश' था और जिसकी चौहद्दी के अन्दर ही उसने सारे अनुभव अर्जित किये थे, इसलिए वे भूतों, पिशाचिनों, प्रेतात्माओं तथा राजा, रानी और अंधविश्वासों की दुनिया में रहती थीं। इनमें से अधिकांश ने पहले कभी अख़बार भी नहीं देखा था और वे हर रोज़ मुझे घेरकर बैठ जातीं और जानने की कोशिश करतीं कि अख़बार में क्या लिखा है। कभी-कभी अख़बार में प्रकाशित किसी महत्त्वपूर्ण घटना का ब्यौरा सुनने के बाद उनमें से कोई एक पूछ बैठती कि क्या उसके मामले में या उसके गाँव के बारे में कुछ लिखा हुआ है। हालाँकि उन्होंने 'सरकार' शब्द सुन रखा था पर किसी ने उन्हें कभी यह नहीं बताया कि देश का संचालन कैसे होता है। फिर भी वे ये सारी बातें जानने के लिए उत्सुक थीं और मुझसे तमाम सवाल करती जा रही थीं—मिट्टी का तेल कहाँ से आता है, कागज़ कैसे बनता है, अख़बार किस तरह छपता है आदि-आदि। इन सवालों के जवाब जानते रहने के बावजूद हिन्दी के अपने सीमित ज्ञान की वजह से मेरे लिए उन्हें समझाना बड़ा कठिन था फिर भी मैं उन्हें समझाने की पूरी-पूरी कोशिश करती थी।

बागीचे में लगी फूल-गोभी पर जब इल्लियाँ लग जाती थीं तो मोहिनी कहती थी, कोई औरत मासिक धर्म के दिनों में बागीचे में चली गयी थी तभी ऐसा हुआ है। यदि कोई बार-बार बीमार पड़ता तो यह कहा जाता कि उसको नज़र लग गयी है। कुछ औरतें अपने बच्चों के माथे पर काला टीका लगाती थीं और कुछ

उनकी कमर में जंतर बाँधती थीं ताकि दुष्टात्माओं से उनकी रक्षा की जा सके। एक बार तो उस बूढ़ी महिला क़ैदी के बारे में ही ज़ोरदार बहस छिड़ गयी जिसे अक्सर मूर्छा आ जाया करती थी और आँखों की पुतलियाँ चारों ओर नाचने लगती थीं। कुछ औरतें कहती थीं कि वह डायन है और उनके बच्चों को खा जायेगी। हर रात इस बात पर झगड़ा हुआ करता था कि उसके सबसे नज़दीक कौन सोयेगा। मैंने वॉर्डर से अनुरोध किया कि उसे कुछ दिनों तक हमारी कोठरी में सोने दिया जाये ताकि यह साबित हो जाये कि उससे कोई नुक़सान नहीं हो सकता। इसके बाद ही फिर शांति हुई।

अपने फटे कपड़ों को सिलते समय या मटर के भुने दानों को सिलवट्टे पर पीसते समय मैं ग्रामीण जीवन की कहानियाँ सुना करती थी और इन कहानियों में बेहद सम्मोहन-क्षमता थी। लगभग सभी औरत गरीब किसान-परिवार की थीं और उन मकानों में रहती थीं जिन्हें उनके परिवार के सदस्यों ने मिट्टी, लकड़ी और फूस की छाजन से बनाये थे। हालाँकि भारत में एक क़ानून के ज़रिए बाल-विवाह वर्जित है लेकिन वे सभी निरपवाद रूप से बचपन में ही ब्याही गयी थीं। ये विवाह उनके माता-पिता की ओर से किसी तीसरे व्यक्ति ने 'तय' किये थे और उन्हें पहले मासिक धर्म के बाद ही अपनी ससुराल चला जाना पड़ा था। खुद उन्होंने भी शादी के दिन ही अपने पति को पहली बार देखा था। उनमें से कुछ जो क़स्बों के पास रहती थीं या जिन्होंने सिनेमा देखा था वे विवाह की योरुपीय शैली से परिचित थीं और इसे वे 'लव मैरेज' कहती थीं। लेकिन उनकी धारणा थी कि इस तरह की विवाह-पद्धति केवल फ़िल्मी सितारों या बहुत धनी लोगों के लिए है जो समाज को नाराज़ किये बिना रीति-रिवाज़ों को तोड़ने की हैसियत रखते हों। वे उन लड़कियों की बड़ी संत्रासपूर्ण कहानियाँ सुनाती थीं जो अपनी पसन्द के आदमी के साथ घर से भाग गयी थीं और जिन्हें पकड़े जाने पर भेड़ का खून पीना पड़ा, गधे पर बैठकर समूचे गाँव का चक्कर लगाना पड़ा, गाँव से अलग एक झोंपड़ी में रहना पड़ा और अपने 'पाप' के प्रायश्चित के लिए सर मुंडाना पड़ा। यदि किसी औरत पर कलंक लगता था तो उसके परिवार के सदस्यों को गाँव की पंचायत को जुर्माना देना पड़ता था और गाँव भर को दावत देनी पड़ती थी ताकि उसे अपनी जाति में फिर से शामिल किया जाये और कुजात रहकर उसका बहिष्कार न किया जाये। अक्षरशः इस दावत को जातभात कहते थे।

पति इतना आदरणीय समझा जाता था कि अधिकांश औरतें अपने पति का नाम तक नहीं लेती थीं। इससे क्लर्कों या सरकारी काम करने वालों को बड़ी दिक्क़त होती थी—वे फ़ॉर्म में पति का नाम लिखना चाहते थे और औरतें नाम लेने से इनकार करती थीं। कभी-कभी वह अपने से बूढ़ी औरत के कान में फुस-फुसाकर नाम बता देती थीं और वह बूढ़ी औरत फिर क्लर्क को यह नाम सुना सकती थी। पुरुषों के सामने सर पर आँचल न रखना या अपने श्वसुर से अथवा पति के बड़े भाई से बात करना भी 'पाप' समझा जाता था।

मेरे साथ जो महिलाएँ थीं उनमें से कइयों को उनके पति नियमित रूप से पीटते रहते थे लेकिन इस हरकत से क्षुब्ध रहने के बावजूद इसे वे एक सामान्य नियम मानती थीं। एक औरत ने बताया कि एक बार दाल में नमक तेज हो जाने पर उसके पति ने उसे पीटा था। एक दूसरी औरत ने बताया कि चावल ठंडा रहने पर उसकी पिटाई हो गयी थी। ये सारी औरतें, चाहे कितनी भी भूखी क्यों न हों—तब तक खाना नहीं खाती थीं जब तक घर के पुरुष न खा लें। एक औरत

ने बताया कि जितने दिन उसका मासिक-धर्म चलता था उसे घर में नहीं घुसने दिया जाता था। इनमें से जो अपेक्षाकृत धनी परिवारों की थीं, उन्हें लगभग पूरी तरह घर के अन्दर और उसके आसपास तक सीमित रहना पड़ता था हालाँकि गरीब औरतों को, जिन्हें रोज़ी के लिए काम करना पड़ता था, अपेक्षाकृत कम प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता था और उन्हें खेतों में या कभी-कभी भवन-निर्माण में काम करना पड़ता था। इनमें से कई औरतों के साथ उनकी सौतें भी थीं और कई मामलों में ये उनके पतियों की विधवा भाभी थीं।

चूँकि यहाँ पश्चिमी जीवन-पद्धति को समझने वाला अब कोई नहीं था इसलिए मैं अनजाने में ही अपनी साथियों की नैतिकता के नियम अपनाने लगी थी। मैं बहुत सावधान रहती कि वॉर्डरों के सामने मैं ज़ोर से न बोलूँ और न हँसूँ वरना मुझे 'बेहया' समझ लिया जायेगा। मासिक-धर्म के दिनों में मैं बागीचे की तरफ़ नहीं जाती ताकि साग-सब्ज़ियों पर यदि कीड़े लगें तो कोई मुझे दोष न दे। उनके उपदेशों को स्वीकार करके मैंने अपनी माँग में सिंदूर भरना शुरू कर दिया था ताकि यह स्पष्ट रहे कि मैं किसी दूसरे पति की तलाश में नहीं हूँ।

दिसम्बर के शुरू के दिनों में पाकिस्तान के साथ युद्ध आखिर छिड़ ही गया। सर के ऊपर से हवाई जहाज़ गुज़रते और औरतें-बच्चे हर आवाज़ पर दौड़ते हुए आते और आश्चर्यचकित होकर हवाई जहाज़ों को देखते। अहाते में जलने वाले बल्बों पर टिन के डिब्बे लटकाने के लिए मिस्त्री आ गये। रात में मुझे भारी लारियों की आवाज़ सुनायी पड़ती। सत्रह दिनों बाद भारत ने युद्ध जीत लिया और समाचार-पत्रों में उद्धृत राष्ट्रवाद से भरे लेखों में दुश्मन की हार पर जय-जयकार होने लगी। पूर्वी बंगाल में भारतीय सेना बनी रही और पाकिस्तानी युद्धबंदियों को दो वर्ष से भी अधिक समय तक भारत में रखा गया।

युद्ध शुरू होने के कुछ ही दिनों बाद रोहिणी, सैबुनिसा और पन्नो का भागलपुर जेल में तबादला कर दिया गया। महिला क़ैदियों के लिए खासतौर से बनाया गया बिहार का यह एकमात्र जेल था। एक अन्य महिला को भी -- जिसे हाल ही में पाँच साल की सजा हुई थी —भागलपुर भेजा जाना था पर पुरुष क़ैदियों में से एक क़ैदी उसका परिचित निकल आया जिसने सहायक जेलर को पैंसठ रुपये दिये ताकि उस महिला को हज़ारीबाग जेल में ही रहने दिया जाये क्योंकि हज़ारीबाग उसके गाँव से नज़दीक था। हज़ारीबाग में उसके रुकने का कारण यह भी था कि वह अपनी जाति के एक क़ैदी के लड़के के साथ अपनी छः साल की लड़की की शादी तय करने में लगी थी।

रोहिणी के चले जाने के बाद मैंने सुना कि जेल-ऑफ़िस में उसने चाँदी के अपने उन कंगनों और हार को वापस माँगा जिसे जेल में घुसने से पहले उससे जमा करा लिया गया था। उसके इन जेवरों का पता नहीं चला और उसे इस आश्वासन के साथ जाने दिया कि मिलने पर भेज दिया जायेगा। बाद में मैंने कई ऐसे मामले देखे जिनमें क़ैदियों ने अपने रुपये-पैसे और क़ीमती सामान वापस माँगे पर उन्हें नहीं मिल सका।

जिस सप्ताह रोहिणी गयी उसी के अंत में मुझे अचानक अमलेन्दु का पोस्ट-कार्ड मिला जो उसने कलकत्ता के कालीपुर सेंट्रल जेल से भेजा था। मैंने उसे पत्र लिखने की ज़रूरत नहीं समझी क्योंकि मैं मान बैठी थी कि मेरा पत्र उस तक कभी नहीं पहुँचेगा। अमलेन्दु का पोस्टकार्ड लेकर जो क्लर्क आया था, वह पत्र देखकर उतना ही खुश हुआ था जितनी मैं। यह वही व्यक्ति था जिसने मुझे पहले दिन

पुरुष समझने की भूल की थी—बाद में वह मेरे प्रति काफ़ी सहृदय हो गया था। अमलेन्दु के पिता ने अपने पत्र में बताया था कि कलकत्ता के जेलों की स्थिति हमारे जेल की स्थिति से भी वदतर है और तब से अमलेन्दु के बारे में मेरी चिंता बढ़ गयी थी। किंतु उसके द्वारा लिखी कुछ पंक्तियों ने थोड़ी देर के लिए मेरी चिंता कम कर दी और साधारण होने के बावजूद इस पत्र का मेरे लिए उतना ही महत्त्व था जितना किसी प्रेम-पत्र का होता। बाद के साढ़े तीन वर्षों में उसके तमाम लिखे पत्रों में से मुझे केवल तीन और पोस्टकार्ड मिले।

रोहिणी और सैबुनिसा के चले जाने से मुझे एक बार फिर लगा कि जेल के सम्बन्ध कितने क्षणिक होते हैं लेकिन उनके अभाव की पूर्ति मोहिनी ने स्वेच्छापूर्वक कर दी। उमने माँ की तरह मेरी देखभाल की, मुझे ठंडी ज़मीन पर बैठने से मना किया मेरे लिए खाना पकाया और आमतौर से मेरे बारे में वह घबराती रहती। मेरे बाल अब कंधों तक आ गये थे लाइफ़बॉय साबुन से धोने की वजह से वे रूखे और भुरभुरे हो गये थे। रात में अक्सर वह मेरे सिर में नारियल के तेल की मालिश करती और बताती कि घर पर अपनी बेटी के सर में वह इसी तरह तेल लगाती थी।

कल्पना के चले जाने के बाद से मैंने खाना पकाने में अपनी रही-सही रुचि भी खो दी थी। कल्पना हमारे लिए बिहार के गाँवों में बनने वाला खाना पकाती थी और मैं बड़े शौक से बिहारी खाना खाती थी। हम आटा और नमक मिला गरिष्ठ और पेट-भराव दलिया और कभी खिचडी खातीं जो चावल, दाल और आलू को एक साथ मिलाकर उबालने से तैयार होती थी। ताज्जुब की बात है कि कार्बो-हाइड्रेट से भरपूर इस आहार के बावजूद मेरा वज़न नहीं बढा। कभी-कभी नागो किसी कबूतर को पकड़ लेती थी और उसका शोरबा मुझे देती या कभी कोई महिला वॉर्डर अपने घर से मछली या केला या दूसरी चटपटी चीजें बनाकर लाती। हालाँकि यह खाना बड़ी एकरसता लिये था फिर भी जेल की ये मेरी तमाम सहेलियाँ बाहर जो खाना खाती थीं उनसे यह थोड़ा भिन्न ही था। उनका खान-पान मौसम के अनुसार चीज़ों की उपलब्धि के हिसाब से बदलता रहता था। साल के मौसमों के अनुसार कभी वे केवल चावल खाती थीं तो कभी हर रोज़ दिन में दोनों पहर उन्हें ज्वार या मक्का खाकर काम चलाना पड़ता।

इनमें से कुछ ही औरतें ऐसी थीं जिन्होंने गिने-चुने अवसरों को छोड़कर कभी चाय पी हो। मुझे सवेरे एक कप चाय की ज़रूरत पड़ती थी और मोहिनी तथा अन्य औरतों के लिए यह 'धनी औरत' की आदत थी। यह देखकर मुझे बड़ी हैरानी हुई। भारत के बारे में मैं हमेशा यह सोचती थी कि यह चाय पीने वालों का देश है। मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि चाय—जो देश की अन्य चीज़ों की तरह किसी-न-किसी क्षेत्र में न्यूनाधिक पैदा होती होगी—भारतीय जनता के एक बहुत बड़े हिस्से के बजट की सामर्थ्य से परे की चीज़ है। जब भी हम सब एक साथ बैठकर चाय पीतीं, मेरी सहेलियाँ अक्सर कहा करतीं कि मैं उन्हें बुरी आदतें डाल रही हूँ। जेल से बाहर वे कभी अपनी इस आदत को जारी नहीं रख सकतीं।

मई में हुए विध्वंस के बाद बागीचे में फिर पौधे लगा दिये गये थे। यह काम क़ैदियों ने किया था पर इससे जो चीजें पैदा होती थीं उसे मेटिन और महिला वॉर्डर आपस में बाँट लेती थीं। मैंने कभी-कभी जानबूझकर इस परम्परा का उल्लंघन किया और विभिन्न क्यारियों से खुद भी सब्ज़ी ली और अन्य क़ैदियों को भी दी। सम्भवतः मेरी इस हरकत पर रोक लगाने के लिए नागो ने मुझे बताया

कि मेरी एक अलग छोटी-सी क्यारी है। मैंने लहसुन, धनिया और टमाटर के पौधे लगाये। क्रिसमस के नज़दीक आते ही मैंने हरे दिख रहे कुछ टमाटरों को तोड़ लिया और रात में उन्हें अपने कम्बलों के बीच इस आशा से रख दिया कि मेरे शरीर की गरमी से वे लाल हो जायेंगे। मैंने लगभग एक वर्ष से भी अधिक समय से टमाटर नहीं खाया था और उनका स्वाद पाने के लिए मैं बेताब थी। लेकिन अफ़सोस की बात यह है कि मेरी इन कोशिशों के फलस्वरूप कुछ हरे पिचके टमाटर ही हाथ लगे। जाड़े की लम्बी रातों में ठंड की वजह से मुझे बड़ी भूख लगती थी। नाश्ते के रूप में मुझे कच्चे शलगमों से ही काम चलाना पड़ता था। शलगम मुझे पहले कभी पसंद नहीं था पर अब मैं बड़े स्वाद से इसको चबाती रहती।

बागीचा मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया। उसकी हरियाली से मुझे बड़ी शान्ति मिलती। क्यारियों की गुड़ाई करने के लिए जाड़े का मौसम आदर्श मौसम है और मैं बड़े उत्साह के साथ क्यारियों में से घास निकालती और उनकी सिंचाई करती। प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई खत्म होने के बाद पहली बार मैंने अब बागवानी की थी। अंततः जब टमाटर पकने लगे तो बच्चे हर रोज़ टमाटर तोड़ते और बारी-बारी सारे क़ैदियों में बाँटते। शलगम, मूली या फूलगोभी की उबली पत्तियाँ ही हमें दिन में दोनों पहर खाने को मिलती थीं—टमाटर की चटनी से अपना स्वाद बदलकर हम बेहद खुश हुए। लाल बलुई मिट्टी आश्चर्यजनक रूप से उपजाऊ थी और इंग्लैण्ड की तुलना में यहाँ ये चीज़ें जल्दी पैदा होती थीं पर समस्या पानी की थी और बहुधा प्रचुर मात्रा में पानी मिलना असंभव होता था।

क्रिसमस के दिन सवेरे मैंने बच्चों के लिए गीले चावल की कुछ पुडिंग तैयार की और एक महिला वॉर्डर से थोड़ी मिठाइयाँ लाने के लिए कहा। अपनी कोठरी में उनकी इस 'दावत' को देखते समय मैं बरबस ही इनके क्रिसमस और ब्रिटेन के बच्चों के क्रिसमस के विरोधाभास के बारे में सोचने लगी और मेरी निगाह में ब्रिटेन की क्रिसमस पार्टियाँ कौंध गयीं जिनमें बच्चों को मैंने मिठाइयों और उपहारों के बीच मुग्ध देखा। अब तक उन्होंने अपनी ओर से मुझे एक नाम दे दिया था, 'मेरी गुड'—मेरे नाम के साथ उन्होंने अँग्रेज़ी का एकमात्र वह शब्द जोड़ दिया था जिसे वे जानते थे। मैं अभी भी प्रकाश के बारे में बहुत चिन्तित रहती थी—ऐसा शायद इसलिए क्योंकि उसका मामला औरों की तुलना में ज़्यादा दुखद था। उसकी अपंग माँ, जिसे उसके पिता ने इसलिए छोड़ दिया था क्योंकि वह जेल में थी, उसे तब जेल में लायी थी जब वह महज़ दो दिन का नन्हा-सा बच्चा था। उसके स्वास्थ्य से मुझे बड़ी चिंता होती थी। उसका पेट फूला रहता था और हालाँकि डॉक्टरों को पता नहीं चल सका था कि क्या गड़बड़ी है उसे प्रायः बुखार रहता था। हमारे साथ ही खेलते हुए वह बहुत जल्दी हाँफने लगता था इसलिए अन्य बच्चों के साथ दौड़ना-खेलना उसके लिए संभव नहीं था।

वह एक बहुत गम्भीर लड़का था। मैं बैठकर अपने लिए ब्रिटिश वाणिज्यदूत से मँगवायी गयी बंगला पुस्तकें जब पढ़ने की कोशिश करती होती वह भी मेरी बगल में आकर बैठ जाता। **रीडर्स डाइजेस्ट** के भारतीय संस्करण की पुरानी प्रतियों को लेकर उनके पन्ने पलटते हुए वह इस तरह उसमें डूब जाता गोया सचमुच तल्लीनता से पढ़ रहा हो। कभी-कभी मैं देखती कि वह तसवीर देख रहा है और तसवीरों में बने चेहरों के हाव-भाव की नक़ल कर रहा है। उसे रंगों से प्यार था। कभी-कभी वह न जाने कहाँ से कपड़े का कोई टुकड़ा उठा लाता और

उस पर अपने लिए 'फूल काढ़ने' को कहता। मैं उसे इतना पसन्द करने लगी थी कि मैं अक्सर सोचा करती कि उसे मैं कैसे गोद ले सकती हूँ लेकिन जल्दी ही दु:ख के साथ महसूस करती थी कि इस तरह की योजनाएँ बनाने से क्या फ़ायदा जब खुद मेरा ही भविष्य इतना अनिश्चित है। प्रकाश को मुझे देकर उसकी माँ को खुशी होती। वह जेल में दो साल काट भी चुकी थी पर पुलिस ने अभी तक उसे अभियोग-पत्र नहीं दिया था। पाँच वर्ष बाद जब मैंने जेल छोड़ी उस समय भी वह पुरानी ही स्थिति में थी और प्रकाश छः साल का हो गया था।

महिला क़ैदियों में केवल मैं ही एक पढ़ी-लिखी क़ैदी थी इसलिए मुझे बेहद सम्मान मिलता था। नये क़ैदी मुझे अक्सर जेल-सुपरिंटेंडेंट समझ लेते थे और पूछते थे कि मैं कितने पैसे कमा लेती हूँ। एक दिन बैंगिया ने, जिसे एक दूसरी जेल से तबादला करके यहाँ भेजा गया था, मुझसे अपना हाथ देखने को कहा। उसने केवल ज्योतिषियों को ही पुस्तकें रखते देखा था इसलिए उसने समझा कि मेरे पास भी कोई दिव्य दृष्टि है। दरअसल वह केवल यही जानना चाहती कि क्या उसका प्रेमी, जिसे डाकुओं के एक दल का सदस्य बताया जाता है, अब भी उससे प्यार करता है। बैंगिया के घर में पुलिस ने चोरी की दो साड़ियाँ बरामद की थीं फिर भी उसने पुलिस को अपने प्रेमी का ठौर-ठिकाना नहीं बताया और इसीलिए उसे गिरफ़्तार कर लिया गया। वह हम लोगों के साथ कुछ ही दिन रही। जिस दिन उसे वापस धनबाद ले जाना था, उस दिन मैंने डार्मिटरी में ज़ोर-ज़ोर से किसी को बहस करते सुना। मैं यह देखने दौड़ी कि क्या हो रहा है। बैंगिया प्रकाश की माँ से लड रही थी। उसने प्रकाश की माँ को दो रुपये दिये थे और उसके एक परिचित क़ैदी को वह रुपया पहुँचा देने का अनुरोध किया था। प्रकाश की माँ का कहना था कि वह जादू जानता है और वह बैंगिया के प्रेमी को उसके पास वापस बुला देगा। अब चूँकि उसके जादू का कोई असर नहीं हुआ था इसलिए वापस जाने से पहले वह अपना रुपया लौटाने को कह रही थी। प्रकाश की माँ का जवाब था कि जादू के असर करने से पहले ही यदि उसका तबादला हो जा रहा है तो इसमें उसका क्या दोष ! अन्त में किसी तरह आपस में समझौता हो गया, रुपया वापस कर दिया गया और बैंगिया चली गयी।

१९७२ के प्रारम्भ में एक सन्थाल नवयुवती हमारे साथ रहने लगी। उसकी गोद में एक बच्चा था। एक हत्या के आरोप में वह अपने पति के साथ गिरफ़्तार हुई थी। घटना से पहले के वर्ष में फ़सल मारी गयी थी और उन्होंने एक स्थानीय सूदखोर महाजन से, जिसके पास गाँव में काफ़ी ज़मीन भी थी, रुपया उधार लिया था। हर महीने इस महाजन का आदमी साढ़े बारह प्रतिशत प्रतिमाह की दर से सूद और रक़म के भुगतान की किश्त वसूल कर ले जाता था। एक दिन वह ऐसे समय आया जब उसका पति घर में नहीं था। घर में उस समय पैसा नहीं था और इस औरत ने उससे बाद में आने को कहा। इस पर उसने कहा कि जब तक वह किश्त के बदले उसकी काम-वासना सन्तुष्ट नहीं करेगी, तब तक वह वापस नहीं लौटेगा। इस बात के लिए वह तैयार नहीं थी। अत: उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा। अभी दोनों में गुत्थमगुत्था हो रही थी कि तभी उसका पति आ पहुँचा और उसने हस्तक्षेप किया। लड़ाई में महाजन का आदमी मारा गया।

फरवरी १९७२ में उप-उच्चायुक्त कार्यालय से वाणिज्य दूत महोदय फिर मुझसे मिलने आये। वह हर चार-पाँच महीने पर मुझसे मिलने आ जाते थे। इस बार वह अपने साथ कसीदा करने वाला धागा नहीं ला सके थे जबकि मैंने उनसे इसकी

फ़र्माइश की थी। उन्होंने कहा कि असल में इसके बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं। फिर भी वह अपने साथ दो पैंसिल जिन पर 'एच एम गवर्नमेंट प्रापर्टी' अंकित था और 'ई० आर २' अंकित शार्टहैंड पैड लाये थे। यह पहला मौक़ा था जब मुझे लिखने का सामान रखने की इजाज़त मिली। मैंने उनसे हिन्दी का एक शब्द-कोष माँगा था ताकि मैं रोज़ाना अखबार पढ़ सकूँ। यद्यपि मैं जानती थी कि इसे आसानी से कलकत्ता में किताब की दुकानों से खरीदा जा सकता है लेकिन वह इसे नहीं पा सके। बातचीत के दौरान मुझे पता चला कि शब्दकोष इन्होंने इसलिए नहीं खरीदा क्योंकि उनका खयाल था कि मुझे रोमन लिपि में तैयार शब्दकोष चाहिए। उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था कि मैं देवनागरी लिपि जिसमें हिन्दी लिखी जाती है, सीखने की ज़हमत उठाऊँगी। मुझे हिन्दी का किसी ऐसी वर्णमाला में सीखने की बात में कोई तुक नहीं नज़र आयी जिसमें अखबार पढ़ने की बात तो दूर रही किसी दूर-दराज के इलाक़े के स्टेशन के नाम का अर्थ निकालना मुश्किल हो। जिन ब्रिटिश राजनयिकों से मेरी मुलाक़ात हुई है उनमें से अधिकांश की भारत में कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं देखने को मिली—इसकी वजह शायद यह हो कि वे किसी देश में कभी ज़्यादा समय तक नहीं रहे।

पहली बार मैंने वाणिज्य दूत से कहा कि वह लगभग एक पौंड की राशि—जो मेरे पिता नियमित रूप से मेरे लिए भेजते हैं— सुपरिटेंडेंट के पास जमा कर दें ताकि मैं कसीदाकारी का सामान खरीद सकूँ और 'फूलों' को बनाने की प्रकाश की इच्छा पूरी कर सकूँ। मैं अकसर इस बात से चिंतित रहा करती थी कि मैं कपड़ों, पुस्तकों तथा अन्य सामानों के लिए अपने और अमलेन्दु के परिवार पर निर्भर रहती हूँ। जहाँ तक सम्भव होता था मैं अन्य महिलाओं की तरह अपना राशन बेचने की कोशिश करती थी ताकि 'आत्मनिर्भर' बन सकूँ। ऐसी बात नहीं थी कि मेरे दोस्त और मेरे परिवार के लोग मुझे पैसा भेजने का बुरा मानते थे, पर मैं महसूस करती थी कि जिन लोगों ने मुझे गिरफ़्तार किया है, उन्हें दूसरों से आशा नहीं करनी चाहिए कि वे मुझे आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुएँ उपलब्ध करायेंगे। जैसा कि मैंने पहले भी कई बार किया था, मैंने अपने माँ-बाप को एक छोटा-सा खत लिखा और ब्रिटिश अधिकारी से कहा कि वह मेरे माँ-बाप को विश्वास दिलायें कि मैं एकदम ठीक हूँ और मेरे बारे में उन्हें चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। मेरे पिता ने भारत आने का प्रस्ताव किया था लेकिन मैंने उन्हें आने के लिए मना कर दिया और ऐसा मैंने दम्भ के कारण नहीं किया था—मैं जानती थी कि यदि वे मुझे इस हालत में देख लेते तो वह मेरे बारे में और अधिक चिंतित होकर इंग्लैण्ड लौटते और इसके अलावा उनसे मिलकर मैं भी उद्विग्न हो उठती। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे किसी भी तरह से मेरी मदद नहीं कर सकते थे। उन्हें मुझसे मिलने के लिए एक-डेढ़ घंटे का समय दिया जाता और उन्हें फिर मुझे छोड़कर जाना ही पड़ता। इस तरह की यात्रा का कुल मिलाकर एक नकारात्मक नतीजा निकलता।

उस वर्ष जाड़े में एक दिन वॉर्डर एक बूढ़ी महिला को ढोते हुए हमारे वॉर्ड में लाये। उसे तो सचमुच एक छोटी जेल से—जहाँ चिकित्सा की कोई सुविधा नहीं थी—यहाँ मरने के लिए ही भेजा गया था। जहाँ तक मैं समझ सकी वह पेचिश से पीड़ित थी लेकिन यह सिलसिला इतने लम्बे समय से चल रहा था कि वह बेहद कमज़ोर हो गयी थी। वह लँगड़ी थी और जल्दी से उठकर शौचालय तक नहीं जा पाती थी इसलिए जब तक वह वहाँ पहुँचती उसके कपड़े टट्टी से तर-

बतर हो बदबू से भर जाते थे। कोई उसके कपड़े साफ़ करना नहीं चाहता था। मैं ख़ुद भी ऐसा करने की इच्छुक नहीं थी लेकिन मैंने महसूस किया कि यह ऐसा काम है जिसे करना ही होगा। हम उपेक्षा के कारण उसे नहीं मरने देंगे। यदि डॉक्टर उसे दवा दे भी देता है तो हममें से किसी को उसकी सेवा करनी ही होगी। एक सप्ताह तक हर रोज़ मैं उसके गंदे कपड़े एक मिट्टी के बर्तन में उबालती रही, उसे नहलाती रही और महीनों की उपेक्षा के कारण उसके सिर पर जमी मैल को पेराफ़िन से रगड़-रगड़कर छुड़ाती रही। मोहिनी तथा कुछ अन्य औरतों ने जब देखा कि उस बूढ़ी औरत को सचमुच मरने से बचाया जा सकता है, तो वे भी उसकी देखभाल में लग गयीं। पन्द्रह दिनों के भीतर ही वह इस लायक़ हो गयी थी कि वह लँगड़ाते हुए मेरी कोठरी तक आ जाती ताकि मैं उसके कानों में बूँद-बूँद करके तेल डाल सकूँ, उसकी पीठ में मालिश कर सकूँ या जंग लगे उस ब्लेड से उसके नाख़ून काट सकूँ जिसे मैंने बागीचे में गिरा पाया था। एक महीने बाद वह बिलकुल ठीक हो गयी, उसका वज़न बढ़ गया और ख़ुशी से उसका चेहरा चमकने लगा। जिस दिन वह हमें छोड़कर गयी उस दिन वह तब तक खाना नहीं शुरू करती थी जब तक मैं आकर उसके साथ खाने नहीं लगती। वह मुझे 'ह्वाइटी' के स्थानीय रूपान्तर से पुकारती थी जिससे दूसरे क़ैदी आश्चर्यचकित रह जाते थे।

लगभग इन्हीं दिनों मेरे दिमाग़ में यह खयाल आया कि जेल में अपने फ़ुरसत का समय मैं बुनियादी चिकित्सा के अध्ययन में बिताऊँ क्योंकि मैं जहाँ भी जाऊँगी, यह अध्ययन उपयोगी साबित होगा। लेकिन योजना बनाना अमल में लाने से ज़्यादा आसान होता है। चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकें प्राप्त करना असम्भव साबित हुआ। लगभग एक वर्ष बाद मैं लंदन स्थित अपनी मित्र रूथ फोर्स्टर के प्रयास से एक पुस्तक पा सकी। यह पुस्तक उन रोगों और स्थितियों में काम आने लायक़ नहीं साबित हुई जिनसे मेरा वास्ता पड़ता था। जेल में अध्ययन का कोई कार्यक्रम शुरू करने के लिए काफ़ी लम्बा और उबा देने वाला प्रयास करना पड़ता था, बार-बार लोगों से मिन्नतें करनी पड़ती थीं और इसमें काफ़ी देर लगती थी।

द टाइम्स यद्यपि अनियमित रूप से और काफ़ी देर से मुझे मिलता था फिर भी इसके आने से मेरी मानसिक जीवन्तता बनी रहती थी। कम-से-कम मैं दुनिया की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से परिचित होती रहती थी। उस वर्ष बसंत में वियतनाम में राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सफलता से मैं बहुत प्रभावित हुई थी। कम-से-कम मेरे विचारों को यह जानकर ज़बर्दस्त सहारा मिला कि न्यायोचित लड़ाई सफलता की मंज़िल की ओर बढ़ रही है। भारतीय समाचारपत्र भी कभी-कभी महत्त्वपूर्ण रहस्योद्घाटन कर देते थे। १५ महीनों में कलकत्ता शहर में १६६ व्यक्ति गोली के शिकार हुए। भागलपुर जेल की एक घटना में पुलिस की गोली से दस छात्र मारे गये और एक सौ साठ घायल हुए। इस बीच कांग्रेस पार्टी मार्च के चुनाव में अभूतपूर्व सफलता का एलान कर रही थी। मुझे छोड़कर सभी लोग इससे प्रभावित थे। एक महिला वॉर्डर ने मुझे बताया कि कांग्रेस को वोट देने के लिए उसके पति को १५ रुपये मिले थे। तपती हुई धूप और लू में जो मज़दूर हमारी दीवारों की मरम्मत कर रहे थे उन्हें प्रतिदिन दो रुपये मज़दूरी मिलती थी। उस वर्ष अप्रैल में कांग्रेस के बजट में उच्च आय वर्ग के लोगों को कर के मामले में रियायत देने का एलान किया गया ताकि टैक्सों की चोरी रोकी जा सके। साथ ही पूर्वी बंगाल से आये शरणार्थियों को मिट्टी के तेल की क़ीमत में वृद्धि के लिए दोषी

ठहराया गया। मिट्टी का तेल भारतीय गाँव के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता वाली वस्तु है क्योंकि यहाँ के अधिकांश गाँवों में बिजली नहीं है।

कल्पना और अमलेन्दु के चले जाने के बाद हज़ारीबाग जेल के कुछ अन्य नक्सलवादी बंदियों ने इस बात की ज़िम्मेदारी ली कि जेल की स्थितियों के अनुसार जहाँ तक सम्भव होगा, वे मुझसे सम्पर्क बनाये रखेंगे। उन्हें यह चिन्ता थी कि अकेले रहने से मैं निराशा महसूस करूँगी। कभी-कभी मुझे उन लोगों की चुपके से आयी कोई चिट मिल जाती। हालाँकि उस समय मुझे इन बातों की जानकारी नहीं थी लेकिन वॉर्डर लोग हमेशा उन साथियों को मेरी गतिविधियों की पूरी सूचना देते रहते थे। एक दिन मैं उनका एक पत्र पाकर आश्चर्यचकित रह गयी जिसमें कहा गया था कि इस देश और यहाँ की जनता के लिए मेरी निष्ठा की वे प्रशंसा करते हैं। मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि महिला वॉर्ड से बाहर के लोगों के लिए मेरे काम का क्या महत्व है और इस पत्र ने मुझे यह सोचने को विवश किया कि मुझे हमेशा और भी बेहतर ढंग से काम करने की कोशिश करनी चाहिए।

सेंसर ने कभी उन खबरों को छिपाने की कोशिश नहीं की जिनमें नक्सलवादी आंदोलन में फूट पड़ने की बातें शामिल थीं। यह समाचार १९७१ में प्रकाशित होने लगे थे। शुरू-शुरू में मैं इन खबरों के प्रति शंकालु थी लेकिन छिपे तौर पर मिले पत्रों से इस बात की पुष्टि हो गयी कि १९७० के बाद से जो गहरा धक्का लगा है उसके फलस्वरूप ज़बर्दस्त वैचारिक संघर्ष चल रहा है। बहस के अनेक मुद्दे थे जिनको हल करने में बहुत समय लगेगा। इस बीच देश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न गुट अपनी अलग-अलग गतिविधियों में लगे हैं।

जो क़ैदी हमारा शौचालय साफ़ करता था उसने एक दिन सवेरे बताया कि मेरे एक सह-प्रतिवादी को टी० बी० हो गयी है। उसी आदमी ने एक दिन और मुझसे धीरे से कहा कि वह जादू जानता है और यदि हम उस मजिस्ट्रेट का नाम और पता बता दें जहाँ हमारा मुक़दमा चल रहा है तो वह मेरे लिए ज़मानत का इंतज़ाम कर देगा। मैंने मज़ाक ही में कुछ औरतों से यह बात बतायी और उन्होंने बड़ी गंभीरता से इसे आज़माने की सलाह दी। उन्होंने अनेक ऐसे उदाहरण दिये जिसमें जादू के ज़ोर से लोग रिहा हो चुके हैं। बताया जाता है कि एक आदमी ने जज पर इस तरह से अपनी आँख गड़ा दी कि जज उसे छोड़ने के लिए मजबूर हो गया हालाँकि उसने हत्या की थी।

कुल मिलाकर हम पुरुष बंदियों को बहुत कम देख पाते थे लेकिन कभी-कभी रात में अपनी दीवार के उस पार डार्मिटरी से उनके गाने की आवाज़ हमें सुनायी पड़ जाती थी। कभी-कभी वे चौबीसों घंटे भजन-कीर्तन गाते रहते थे और अपनी अल्यूमीनियम की तश्तरियाँ बजाते हुए उनकी आवाज़ धीरे-धीरे ऊँची होती जाती थी और एक चरम बिन्दु पर आकर अद्भुत रूप से तेज़ हो जाती थी। लेउनी ने मुझे बताया कि कुछ अछूत बंदियों ने नृत्य और औरतों की तरह वेश-भूषा पहनकर स्वाँग दिखाया।

जो क़ैदी नाच-गानों का यह तमाशा देखना चाहते थे वे वॉर्डर को कुछ पैसे दे देते ताकि इन नाचने वालों को रात भर के लिए उनकी डार्मिटरी में बंद कर दिया जाये।

हमारे वार्ड में जिन क़ैदियों को आवश्यक कार्यवश आने की इजाज़त मिलती थी उनसे हमें कभी बातचीत करने का अवसर नहीं मिलता क्योंकि वॉर्डर लगातार

चौकस रहते थे। इन पुरुष क़ैदियों के थके-सूखे चेहरे देखने से ही पता चल जाता था कि अधिकारियों के कृपापात्र कुछ क़ैदियों को छोड़कर अन्य क़ैदियों को हमसे भी कठिन स्थितियों में रहना पड़ता था। मेरी बहुत इच्छा होती थी कि मैं उनके अपराधों के बारे में, उनके परिवार के बारे में और उनके जेल जीवन के बारे में कुछ पूछूं लेकिन उन परिस्थितियों में यह सब असम्भव था।

लंदन से मिली चिट्ठियों से मुझे पता चला कि मेरी माँ बहुत बीमार हैं। मेरे पिता ने लिखा था कि दिल के एक बड़े ऑपरेशन के लिए माँ अस्पताल में भर्ती होने वाली हैं। दिन तो चहल-पहल में बीत जाता और मुझे शायद ही कभी अकेला रहना पड़ता या इतनी फ़ुरसत मिलती जिसमें मैं माँ के लिए कुछ न कर पाने की अपनी असमर्थता पर सोच पाती लेकिन मेरी रातें अजीब-अजीब सपनों और कल्पनाओं से भर जातीं जिनमें भारत और इंग्लैण्ड बड़े जटिल रूप से एक दूसरे में घुल-मिल जाते। मैं देखती कि एसेक्स में हमारे डाइनिंग रूम में मेरे माँ-बाप के साथ जेल के कुछ क़ैदी बैठे हुए हैं या मुझे सपने में भारतीय और अँग्रेज़ी खानों से भरा कोई पार्सल मिलता। ऐसा लगता था कि मेरा अवचेतन मस्तिष्क यह तय नहीं कर पाता था कि वह किस देश का निवासी है। मैं दोनों को अपनाना चाहती थी—जो असम्भव था।
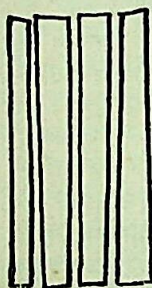
खतरे के झूठे संकेत

मार्च १९७२ के शुरू के दिनों में अमलेन्दु के माँ-बाप एक बार फिर लम्बी और कठिन यात्रा तय करने के बाद मुझसे मिलने आये। इस बार उन्हें जेल कार्यालय के अन्दर आने की इजाज़त नहीं दी गयी; वे बाहर खड़े रहे, उनके चिंतित बूढ़े चेहरे धातु की मोटी जाली की दूसरी तरफ़ से दिखायी दे रहे थे और वे यह तय करने की कोशिश में लगे थे कि मैं पहले से कमज़ोर तो नहीं हो गयी हूँ। उन्होंने बताया कि अमलेन्दु तथा अन्य सोलह लोगों को—जिन्हें कलकत्ता पहुँचा दिया गया था—शायद अब अधिक दिनों तक कलकत्ता ही रहना पड़े क्योंकि वहाँ की भी अदालती कार्यवाहियों को देखने से यही पता चलता है कि वे बिहार की तुलना में कुछ खास कुशल नहीं हैं। इससे हमारा मुक़दमा शुरू होने में देर लगेगी और वे मेरी ज़मानत के लिए अर्ज़ी देना चाहते थे। भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार किसी महिला की ज़मानत दी जा सकती है भले ही उस पर किसी तरह के आरोप क्यों न हों। उनकी बातें सुनने के बाद मैंने मुख्तारनामे पर दस्तखत कर दिये ताकि मेरी ओर से कोई वकील ज़मानत के लिए दरख्वास्त दे सके हालाँकि मुझे उम्मीद नहीं थी कि मेरी ज़मानत की अर्ज़ी मंज़ूर हो सकेगी।

कई दिनों बाद सुपरिंटेंडेंट मुझे यह बताने आया कि मुझे २९ मार्च को जमशेदपुर की अदालत में हाज़िर होना है। इसके कुछ ही दिनों बाद मुझे अपने पिता का पत्र मिला जिससे इस समाचार की पुष्टि हो गयी। सुपरिंटेंडेंट ने मुझे बताया कि पहले मामले में अभियोग-पत्र पेश कर दिया गया है और दूसरे मामले का अभी तैयार हो रहा है। यह सुनकर मैं भौंचक्की रह गयी। मुझे यह बताया भी नहीं गया था कि मेरे खिलाफ़ एक और मामला है। सुपरिंटेंडेंट भी यह सुनकर उतना ही हैरान था जितना मैं। हम लोगों की बातचीत को सुन रहे एक क्लर्क ने बताया कि मेरे खिलाफ़ दो वारंट थे। उसने उन वारंटों को ढूंढ़ निकाला। मेरे

खिलाफ़ जो दूसरा मामला था और जिसे मुझे बताने की किसी ने ज़रूरत नहीं महसूस की थी, उसमें पहले मामले की तुलना में और भी गंभीर आरोप लगाये गये थे। इन आरोपों में राज्य के खिलाफ़ युद्ध छेड़ने का भी आरोप शामिल था जिसमें मृत्यु-दण्ड भी मिल सकता था। विभिन्न षड्यंत्रों में शामिल होने के सिलसिले में जिन तारीखों का ज़िक्र था उनमें १० जून, १९७० सहित इससे पहले की कई तारीखें थीं जबकि १० जून से लगभग दो सप्ताह पहले से ही मैं जेल में थी।

इस अप्रत्याशित घटना के कुछ दिनों के अन्दर ही मुझे फिर कार्यालय में बुलाया गया। वहाँ सादी वर्दी में पुलिस के कई लोगों के साथ सुपरिंटेंडेंट भी था जो प्रवक्ता का काम कर रहा था। उसने बातचीत यह पूछने के साथ शुरू की कि नक्सलवादी राजनीति के बारे में मेरे क्या विचार हैं और क्या रिहा किये जाने के बाद भी मैं इन गतिविधियों में हिस्सा लेती रहूँगी। उसने फिर बेहद असंगत चेतावनी देनी शुरू की कि अमलेन्दु को फांसी दे दिये जाने की आशंका है और यह कि चूंकि 'मेरे कब्जे से ढेर सारे हथियार बरामद हुए हैं' इसलिए यदि मैं मुक़दमा चलाये जाने के लिए ज़ोर देती रही तो निश्चित रूप से मुझे लम्बी सज़ा मिल जायेगी। उसने मुझे सुझाव दिया कि यदि मैं 'नक्सलवादी राजनीति छोड़ने के लिए' तैयार हो जाऊँ या इंगलैण्ड जाने के लिए राज़ी हो जाऊँ, जो कि मेरे लिए जेल में पड़े रहने से कहीं ज़्यादा अच्छा होगा, तो इन सारी आफ़तों से बच सकती हूँ। कई मिनट तक उनकी बातें सुनते रहने के बाद मैंने बीच में टोकते हुए उनसे पूछा कि दरअसल वे कहना क्या चाहते हैं। बातचीत का यह गोलमोल सिलसिला जारी रहा। उकताकर मैंने उनसे जानना चाहा कि यदि भारत सरकार मुझे इंगलैंड वापस भेजना ही उचित समझती है तो उसने मुझे दो वर्ष पहले क्यों नहीं वापस भेज दिया। उसने मुझे तब आश्वस्त किया कि कोई मुझे वापस जाने के लिए मजबूर नहीं कर रहा है लेकिन वापस जाने में मेरा हित ही है। इस गोलमोल बातचीत का कोई नतीजा नहीं निकलने वाला था और इस तरह की बातचीत से ऊबकर मैंने पूछा कि क्या मैं अपनी कोठरी में वापस जा सकती हूँ। फिर इस घटना के बारे में मुझे कुछ भी सुनने को नहीं मिला।

२९ मार्च आया और चला गया लेकिन मुझसे किसी ने अदालत में जाने की बात फिर कभी नहीं की। मुझे इस पर कोई खास आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि मुझे इन सारी बातों में शुरू से ही शंका थी। मेरे ऊपर जो दूसरे आरोप लगाये गये थे उनसे भी मुझे कोई घबराहट नहीं हुई। अब तक मेरे सामने यह स्पष्ट हो चुका था कि किसी की गिरफ़्तारी की बारीकियों से कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ता है। यह सरकार की मर्ज़ी पर है कि वह जब चाहे किसी को गिरफ़्तार कर ले और जब उचित समझे रिहा कर दे। फिर भी मुझे अपनी उस बहन के एक पत्र से बड़ी तकलीफ़ हुई। उसे मैं बहुत प्यार करती थी। उसने मुझसे अनुरोध किया था कि मैं अदालत जाने के काम में सहयोग करूँ ताकि जल्दी फ़ैसला हो जाये—इसमें स्पष्टतः यह निहित था कि यह विलम्ब मेरे व्यवहार के कारण हो रहा है। मैंने अपनी असमर्थता बताने की कोशिश करते हुए उसके नाम एक पत्र लिखा लेकिन साथ ही मैं यह भी भलीभांति जानती थी कि यह खत शायद ही उस तक पहुँचे। मैं यह सोचकर बहुत बेचैन हो उठती थी कि ऐसे समय में मैं अपने मित्रों और रिश्तेदारों से सीधा सम्बन्ध नहीं क़ायम कर पा रही हूँ। इंगलैंड वापस पहुँचने और अपने परिवार के लोगों के पास विदेश कार्यालय के अधिकारियों द्वारा समय-

समय पर लिखे पत्रों के पढ़ने के बाद ही मैं समझ सकी कि परिवार के लोग क्यों मेरी स्थिति की ग़लत व्याख्या किया करते थे। एक पत्र में बताया गया था कि 'मैं अपने विचार में दृढ़ हूँ और मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है।' एक अन्य पत्र में यह विचार प्रकट किया गया था कि 'मेरे भले के लिए' ही अमलेन्दु के परिवार से मुझे प्राय: नहीं मिलने दिया जाता है। मेरी ओर से किये गये उनके प्रयासों और कपड़े तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिए उन पर मेरी निर्भरता को देखते हुए इस तरह की टिप्पणी मुझे बहुत अजीब लगी।

सच तो यह था कि पहले ही दिन से मैं यह समझ गयी थी कि ब्रिटिश उच्चा-युक्त के.अधिकारियों से बहुत ज्यादा उम्मीद करना ग़लत होगा, इसलिए उनसे बातचीत के दौरान मैं विनम्रतापूर्वक आम विषयों तक ही अपने को सीमित रखती। लेकिन मैंने अदालत में जाने से या मुक़दमे के लिए हाज़िर होने से अथवा इंगलैंड लौटने से कभी इनकार नहीं किया। बेशक मैंने हमेशा यह कहा कि इसके लिए मेरे सामने मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई शर्त नहीं रखी जाये। पर मैंने कई बार इन अधिकारियों से यह भी शिकायत की कि भारत के क़ानून के मुताबिक़ मुझे नियमित रूप से अदालत में नहीं ले जाया जा रहा है। उनका जवाब यह था कि वे बिहार सरकार से इस बात का आश्वासन प्राप्त कर रहे हैं कि मुझे वस्तुत: हर पन्द्रह दिन पर अदालत में पेश किया जा रहा है। इन परिस्थितियों को देखते हुए यह कहना या मान लेना कि मेरा भाग्य मेरे हाथों में था, यथार्थ से आँखें मूँदना है।

उसी वर्ष अप्रैल में उच्चायुक्त के दो प्रतिनिधियों के साथ हुई एक मुलाक़ात में मेरे ऊपर अलग से मुक़दमा चलाये जाने की चर्चा शुरू हुई क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका था कि जिन व्यक्तियों को कलकत्ता पहुँचाया गया है वे निकट भविष्य में बिहार लौटने वाले नहीं हैं। मैंने अपने उन सह-अभियुक्तों से विचार-विमर्श करने की अनुमति माँगी जो अभी भी हज़ारीबाग जेल में थे। जल्दी ही मुलाक़ात कराने का वायदा किया गया। मेरे दाँतों में दर्द हो रहा था—उसी समय इस सम्बन्ध में भी तय हुआ कि मुझे दाँतों के डॉक्टर को दिखाया जायेगा। मैंने शिकायत की कि मेरे पत्रों के आने में लगातार अनियमितता हो रही है जिसे ब्रिटिश वाणिज्य दूत ने 'डाक की गड़बड़ी' कहा। वह मेरे पिता द्वारा जमा किये गये पैसों से मेरी इच्छित पुस्तकें ख़रीदने के लिए सहमत हो गये। सुपरिंटेंडेंट ने कहा कि पीकिंग से प्रकाशित पुस्तकों को छोड़कर मैं कोई भी दूसरी पुस्तक ख़रीद सकती हूँ। मेरी मित्र रूथ फोर्स्टर द्वारा भेजी गयी कुछ पुस्तकों को सेंसरशिप के लिए सुपरिंटेंडेंट के पास जमा कर दिया गया।

एक महीने बाद न तो मुझे अपने सह-अभियुक्तों से मिलाया गया, न मुझे कोई किताब मिली और न मेरे दाँतों का कोई इलाज हुआ। ब्रिटिश अधिकारियों की मौजूदगी में जो वायदे किये गए थे वे उनके जाते ही निरपवाद रूप से भुला दिये गए। मेरी डाक बेहद अनियमित हो गयी। मैंने अपने मित्रों और परिवार के सदस्यों से नियमित सम्पर्क बनाये रखने की उम्मीद बहुत पहले ही छोड़ दी थी। मेरे लिखे पत्र भी भेजे जाने से पूर्व हफ़्तों तक जेल के कार्यालय में पड़े रहते। कई पत्र तो हमेशा के लिए ग़ायब ही हो जाते। कभी-कभी ऐसा होता था कि दफ़्तर में मेरे नाम से कोई रजिस्टर्ड पत्र आता और मैं उस पर हस्ताक्षर करने के बाद दस-पंद्रह दिनों तक उसको पाने के लिए बेचैनी से इंतज़ार करती रहती। इसके बाद बार-बार याद दिलाने पर वह पत्र मुझे मिलता। इस बीच मैं लगातार सोचती

रहती कि किसका पत्र है और उसमें क्या लिखा हुआ है। मैं अकर्मण्य और भाव-शून्य नौकरशाहों की कृपा पर पल रही थी।

महिला वॉर्डरों ने मुझे बताया कि ऑफ़िस के कर्मचारियों से काम कराने का सबसे अच्छा तरीक़ा है घूस। उन्हें खुद भी अपनी तनख्वाह की पर्चियाँ बनवाने, अपना यात्रा भत्ता लेने या यहाँ तक कि अपने प्रॉविडेंट फंड से पैसा निकालने के लिए क्लर्कों को घूस देना पड़ता था। इन वॉर्डरों में से एक के लड़के की शादी थी जिसके लिए महीनों इंतज़ार करने के बाद वह पाँच सौ रुपये तब निकाल सकी जब उसने बीस रुपये घूस दिये। यदि वे किसी दूसरी जेल में अपना तबादला कराना चाहतीं तो इसके लिए उन्हें सम्बन्धित क्लर्क को घूस देना पड़ता। यदि तबादला रुकवाने की ज़रूरत पड़ती तब भी यही उपाय काम आता।

ऑफ़िस कर्मचारियों के लालचीपन के कारण क़ैदियों को भी काफ़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती। आयेदिन 'तबादले' का आतंक फैलाया जाता। उदाहरण के लिए इस तरह की खबर फैलायी जाती कि दो सौ क़ैदियों का लगभग सौ मील दूर बक्सर तबादला किया जायेगा। यह खबर सुनते ही सब डर जाते और जो किन्हीं कारणों से तबादला नहीं चाहते थे और जिनके पास पैसे थे वे मुट्ठियों में नोटों का बण्डल दबाए जल्दी से जल्दी इस अभियान के इंचार्ज सहायक जेलर के पास दौड़ पड़ते। बहुधा यह एकदम झूठा प्रचार साबित होता और एक भी क़ैदी का तबादला नहीं होता। लेकिन इस तरह की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए क़ैदियों के लिए यह ज़रूरी होता था कि वे अपने पास कुछ पैसे रखें। जेल-जीवन को केवल पैसा ही सुगम बना सकता था। यही वजह थी कि अधिकांश क़ैदियों का सारा प्रयास अधिक से अधिक पैसे इकट्ठा करने पर केन्द्रित रहता था। इनमें से अधिकांश क़ैदी अपने हिस्से की चीज़ें बेचकर या दूसरे क़ैदियों या कर्मचारियों के कपड़े धोने, खाना बनाने जैसे कामों को करके पैसा इकट्ठा करते थे। उन क़ैदियों में कुछ ऐसे भी थे जो धूर्तता और तिकड़म करके पैसे इकट्ठा करते थे।

जून के प्रारम्भ में, जेल-जीवन के अभी दो वर्ष मैंने पूरे किये ही थे कि एक सहायक जेलर मुझे यह बताने आया कि उप-उच्चायुक्त ने तार भेजकर पूछा है कि अलग से मुक़दमा चलाए जाने के बारे में मेरा क्या फ़ैसला है। मैंने जवाब दिया कि अभियुक्तों में से जो अभी हजारीबाग जेल में रह गए हैं उन सभी पर मुक़दमा चलाने, उन्हें क़ानूनी सहायता देने और मुक़दमे की कार्रवाई जब तक शुरू नहीं होती है तब तक के लिए उन्हें ज़मानत पर रिहा किये जाने के लिए मैं आवेदन देना चाहती हूँ। बाद में उन्होंने मेरे पिता को लिखा कि मैंने बड़ा 'अस्पष्ट' जवाब दिया था। इस बीच अमलेन्दु के परिवार ने मेरी ज़मानत के लिए एक अर्ज़ी दी थी जिस पर कोई सुनवाई नहीं हुई।

१० जून १९७२ को पिछले दो महीनों में पहली बार सुपरिंटेंडेंट मेरे पास आया और उसने मुझे सूचित किया कि मेरा मुक़दमा शुरू होने जा रहा है और अगले दिन जमशेदपुर के लिए रवाना होना पड़ेगा। सिलाई वर्कशाप में मेरे लिए खाकी रंग के दो बड़े-बड़े थैले तैयार किये गये ताकि मैं अपने साथ अपनी किताबें और कपड़े ले जा सकूँ। उस दिन सवेरे मुझे अपना साप्ताहिक राशन भी मिला और मैंने दोपहर बाद का सारा समय असंख्य चपातियों और एक बड़ी देगची में आलू की सब्ज़ी बनाने में बिताया ताकि विदाई के उपहार के रूप में मैं सारे क़ैदियों को बाँट सकूँ। लेकिन एक बार फिर पहले की ही तरह पूर्व निर्धारित

दिन बीत गया और मैं हज़ारीबाग जेल में ही पड़ी रही। मुझे कुछ पता नहीं चला कि क्या गड़बड़ी हो गयी है—हफ़्ते के शेष दिनों में खाने के लिए भी मेरे पास कुछ नहीं बच रहा। जहाँ तक खाने की बात थी मुझे चिंतित होने की ज़रूरत नहीं थी क्योंकि अन्य महिलाएँ बड़ी खुशी-खुशी अपने साथ मुझे खिला लेती थीं। कई दिनों के बाद मेरे बार-बार पूछने पर खतरे की झूठी चेतावनी के लिए क़ैफ़ियत दी गयी। जेलर ने बताया कि चूँकि इस मुक़दमे से सम्बद्ध सत्रह व्यक्ति कलकत्ता में हैं इसलिए मजिस्ट्रेट ने सुनवाई स्थगित कर दी है। जो अभियुक्त कलकत्ता में हैं उनसे हज़ारीबाग जेल में पड़े अभियुक्तों के मुक़दमे को अलग करने के लिए एक आवेदन दे दिया गया है।

अगली बार मुझे खबर मिली कि अगस्त में मुक़दमा शुरू होगा। एक इतवार के तीसरे पहर तक़रीबन पाँच बजे शाम को एक सहायक जेलर ने आकर मुझे बताया कि कल से मेरा मुक़दमा पटना उच्च न्यायालय में शुरू होने जा रहा है और मुझे एक वकील का इंतज़ाम करना होगा जो मेरे मामले को अदालत के सामने पेश कर सके। अभियोग पक्ष ने खुद ही मुक़दमे को हज़ारीबाग स्थानांतरित करने के लिए एक याचिका पेश की थी—उसने दलील दी थी कि जमशेदपुर जेल में सीमित स्थान होने तथा उस इलाके में नक्सलवादी गतिविधियों के बढ़ने के कारण हम लोगों को वहाँ ले जाना खतरे से खाली नहीं है। उतने कम समय में वकील का इंतज़ाम करने के लिए कलकत्ता के लोगों से सम्पर्क करने की बात तो दूर रही, जेलर या सुपरिंटेंडेंट से बात करने के लिए जेल के ऑफ़िस तक जाना भी असंभव था। इसमें इतनी दूरियाँ थीं कि कुछ भी कारगर ढंग से नहीं किया जा सकता था। परिणामस्वरूप इस याचिका पर कभी सुनवाई नहीं हो सकी और कई महीनों बाद यह पूरी तरह वापस ले ली गयी क्योंकि इस समय तक नक्सलवादी गति-विधियाँ हज़ारीबाग ज़िले तक भी फैल गयी थीं। इस बीच अदालतों में सुनवाई का सारा काम भी स्थगित कर दिया गया।

१९७१ और १९७२ की विनाशकारी वर्षा के बाद सूखा पड़ा और भयंकर तापलहर चली। हर रोज़ सवेरे सोकर उठते ही मैं बड़ी व्यग्रता के साथ आसमान की ओर देखने लगती कि कहीं कोई बादल का टुकड़ा दीख जाय जो बारिश ला सके—हम बारिश की ज़रूरत बुरी तरह महसूस कर रहे थे। मच्छरों ने शाम से सवेरे तक के समय को एक दु:स्वप्न बना दिया था। मेरा चेहरा सूजकर लाल हो गया था और नींद पूरी न होने की वजह से लगातार मेरे सर में दर्द हो रहा था। सवेरे उठने पर मैं देखती कि मेरे कपड़े और चादर के रूप में इस्तेमाल करनेवाली मेरी साड़ी पर खून के धब्बे जगह-जगह फैले रहते थे जो देखने में लड़ाई के एक छोटे-मोटे मैदान की तरह लगते थे। इससे भी कष्टदायक बात यह थी कि पानी की सप्लाई के नाम पर नल से पीले रंग की कुछ बूँदें टपककर रह जाती थीं। हमने बगीचे में अब कुछ भी उगाने की कोशिश छोड़ दी थी। सबसे बुरा समय वह होता था जब हमारे नल से पानी आना एकदम बंद हो जाता था। कभी-कभी तो यह सिलसिला कई दिनों तक चलता और हमें चार लोगों के बीच दो बाल्टी पानी से ही नहाने, कपड़ा धोने, खाना बनाने और सफ़ाई करने का काम चलाना पड़ता। अन्य महिलाओं की हालत तो और भी बुरी थी। उनके पास मिट्टी के कुछ बर्तन और जंग लगी कुछ बाल्टियाँ थीं। पानी का पीपा काफ़ी पहले से चू रहा था और उसे अलग रख दिया गया था। कई वॉर्डर यह मुसीबत मोल लेने के लिए तैयार नहीं होते थे कि वे क़ैदियों का इंतज़ाम करें जो हमारे लिए जेल के उन दो

कुओं से पानी खींचकर ला सकें जो सूखे नहीं थे—इससे हमें और दिक़्क़त होती थी। उनमें से कुछ से तो एक बाल्टी पानी के लिए भी मिन्नतें करनी पड़ती थीं।

उस वर्ष हर बार से ज़्यादा क़ैदी बीमार पड़े। हमारी कोठरी में रहने वाली एक क़ैदी को मलेरिया हो गया था और उस गरम तथा चिपचिपे मौसम में भी हम सारे कम्बल उसके ऊपर डाल देती थीं फिर भी वह काँपती रहती थी। मैं ख़ुद भी महसूस कर रही थी कि मेरा स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता जा रहा था। मुझे कई बार उल्टियाँ हुईं और प्राय: सारा दिन बीत जाता था और मैं कुछ खा नहीं पाती थी। डॉक्टर इसे गंभीरता से नहीं लेते थे और मेरी शारीरिक स्थिति के लिए मानसिक स्थिति को दोषी ठहराते थे। अंत में मुझे ख़ुद आश्चर्य होने लगा कि कहीं यह सारी गड़बड़ी इस वजह से तो नहीं है कि मैं अपनी माँ की बीमारी को लेकर चिंतित हूँ, अमलेन्दु की दु:सह स्थितियों के बारे में सोचती रहती हूँ या अपनी स्थिति के बारे में आम अनिश्चितता से परेशान हूँ।

बच्चे भी तरह-तरह के आंत्र रोगों से पीड़ित थे। एक दिन उस छोटी लड़की मूर्ती को, जिसकी शादी तय हो गयी थी, बेहद क़ै-दस्त होने लगे। दवाओं के इंचार्ज क़ैदी ने उसकी माँ को एक टिकिया देते हुए कहा कि इसका चौथाई हिस्सा बच्चे को दे दें। अपनी लड़की को जल्दी-से-जल्दी ठीक करने की चिंता में माँ ने सोचा कि शायद पूरी टिकिया एक साथ दे देने से अच्छा असर हो और उसने पूरी टिकिया एक साथ खिला दी। फलस्वरूप मूर्ती लगभग दो दिनों तक बेहोश रही। दूसरे दिन अपराह्न में हर रोज़ की तरह बीमारी के दौरे के बाद मैं लेटी हुई थी कि तभी मूर्ती की माँ बलको मेरी कोठरी में आयी और मेरे आराम में खलल डालने के लिए क्षमा माँगते हुए उसने कहा कि मूर्ती मुझे बुला रही है। वह औरत इस डर से बुरी तरह रो रही थी कि उसकी बेवक़ूफ़ी के कारण वह बच्ची मर जायेगी। मैं तेज़ी से डार्मिटरी में पहुँची जहाँ मेटिन के बिस्तर पर मूर्ती अभी भी नीम बेहोशी की हालत में पड़ी हुई थी। उसका चमकता और भरा चेहरा पीला पड़ गया था और आँखें गड्ढों में धँस गयी थीं। उसने सर घुमाकर मेरी तरफ़ देखा और आँखों में एक पहचान उभर आयी। अपने कमज़ोर हाथों को मेरी ओर बढ़ाकर उसने मुझे अपने बग़ल में लेटने का इशारा किया। मेरी आँखों में उस समय आँसू भर आये जब वहाँ खड़ी औरतों ने बताया कि होश में आते ही उसने सबसे पहले मुझे याद किया। हालाँकि रात में मुझे अलग कोठरी में बंद कर दिया जाता था फिर भी अगले कुछ दिनों मैं तब तक उसके बिस्तर के बग़ल में बैठी रहती जब तक वह इस लायक़ नहीं हो गयी कि मैं उसे चारों ओर कम्बल लपेटकर उस बग़ीचे के अवशेष तक नहीं ले जाने लगी, जहाँ हमने साथ-साथ काम किया था।

दूसरे बच्चे इतने ख़ुश क़िस्मत नहीं थे। एक दिन एक जवान औरत हज़ारी-बाग़ स तीस मील दूर चतरा की छोटी जेल से आयी जिसकी गोद में कंकाल की तरह एक बच्चा था। बच्चे की साँस अभी चल रही थी लेकिन वह लाइलाज था। उसके अंग सूखी टहनियों की तरह थे और उसकी बड़ी-बड़ी दर्द भरी आँखें झिल्ली की तरह खिंची हुई खाल वाले सर पर उभरी हुई थीं। उसकी कुहनी, घुटने और एड़ियाँ घाव से भरे हुए थे, हाथ-पाँव सफ़ेद रक्तहीन लग रहे थे। काँखों और अन्दर धँसे चूतड़ पर झुर्रीदार खाल झूल रही थी। वह अपने अशक्त पंजों से माँ की छाती को कसकर पकड़े हुए था—ऐसा लगता था जैसे वह माँ की कोख के संरक्षण में जिन्दगी में वापस आने की कोशिश कर रहा हो। उसके अन्दर रोने

तक की ताक़त नहीं थी। पिछले दो महीनों से वह अतिसार (डायरिया) से पीड़ित था और चूँकि चतरा में चिकित्सा की कोई सुविधा नहीं थी, वह दिन-ब-दिन तेज़ी से कमज़ोर होता गया। अंततः जब जेलर ने देखा कि वह अब मरने के क़रीब पहुँच चुका है उसने फ़ौरन प्रकट रूप से 'इलाज' के लिए हज़ारीबाग़ भेजने की व्यवस्था की। दो दिनों बाद मैंने उसकी माँ को थोड़ा आराम देने के लिए उसे गोद में लिया ही था कि वह चल बसा। मैं इस अनावश्यक मौत को देखकर दुःख और पछतावे से हतप्रभ रह गयी। इस अठारह महीने के बच्चे की लाश से पहले मैंने ज़िन्दगी में किसी लाश को नहीं देखा था। मैं स्तब्ध और उदास खड़ी उसे देखती रही कि तभी जमादारों ने—जो हरिजन समुदाय के होते हैं और लाशों को ठिकाने लगाने का काम करते हैं—एक कपड़े के टुकड़े में उस छोटे-से ठठरी-जैसे शरीर को लपेटा और जेल की दीवारों के पार झील के किनारे उसके अंतिम-संस्कार के लिए चले गये। मेरे साथ के क़ैदियों के लिए दुःखद होने के बावजूद इस घटना का इतना महत्त्व नहीं था जितना मेरे लिए था। जिस तरह की कठिन ज़िन्दगी वे बसर करती रही हैं उसमें कच्ची उम्र की मौत लगभग रोज़ की एक घटना थी।

इसके कुछ ही देर बाद सुपरिंटेंडेंट एक बार फिर हमारे पास आया—उसके साथ एक स्थानीय अधिकारी भी था। मैंने उससे कहा कि वह मेरा तबादला जमशेदपुर करने की व्यवस्था करे ताकि मैं ख़ुद देख सकूँ कि मेरे मुक़दमे के सिलसिले में क्या हो रहा है। उसने बहुत उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त की, "मुझसे तमीज़ से बात किया करो नहीं तो सारे दाँत बाहर निकाल लूँगा।" फिर उसने कहा, "क्यों नहीं तुम सारे नक्सलवादी सड़कर जेलों में मर जाते हो? मैं तुम लोगों से ऊब गया हूँ।" मैं समझ गयी कि पुरुषों के वॉर्ड में ज़रूर कुछ-न-कुछ हुआ होगा तभी वह इतना बौखलाया हुआ है। और कुछ ही दिनों बाद मुझे पता भी चल गया कि मामला क्या था। दरअसल १९७१ के गोलीकांड की जाँच शुरू हो गयी थी। जाँच कर रहे जज ने नक्सलवादियों के वॉर्ड का निरीक्षण किया था और नक्सलवादियों ने ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाये थे—"ख़ून का बदला ख़ून से लेंगे।" इस घटना ने उसे ग़ुस्से से पागल बना दिया था।

गोलीकांड की घटना के एक साल पूरा होने से कुछ ही पहले एक बार फिर सभी पेड़ों और झाड़ियों को काट देने का आदेश 'ऊपर' से आया। चमेली के पौधों में इक्के-दुक्के फूल खिलने शुरू ही हुए थे और अमरूद में नयी कोपलें निकलने लगी थीं। नीम के कटे हुए पेड़ में भी नयी शाखाएँ निकल रही थीं जिससे उसके थोड़े-से साये तले हम आकर बैठ जाते थे। अब यह सब हमसे फिर छीन लिया गया। २५ जुलाई को नक्सलवादी क़ैदियों ने लगातार घंटों नारे लगाये। उस दिन दक्षिणी हवा चल रही थी और नारों की गूँज हमारे कानों में प्रतिध्वनित हो रही थी। वे अपने भरसक सामने आयी चुनौती का पूरा-पूरा मुक़ाबला कर रहे थे। उसी महीने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के प्रथम महासचिव चारू मजुमदार की पुलिस-हिरासत में मृत्यु की ख़बर अख़बारों में पढ़ने को मिली। चारू मजुमदार को कुछ ही दिन पहले गिरफ़्तार किया गया था। उन्होंने इस पार्टी की १९६९ में स्थापना की थी और इस पार्टी ने नक्सलवादी आंदोलन को मुख्य नेतृत्व दिया था। चारू मजुमदार की मृत्यु के सिलसिले में लोगों की यह आम धारणा थी कि पुलिस ने उनकी हत्या की है। मुझे यह अजीब पागलपन-जैसी हरक़त लगती थी कि सेंसर वाले कभी ऐसी ख़बरों को काटने की

तक़लीफ़ नहीं उठाते थे जिनके बारे में वे सोचते थे कि उन खबरों से हम लोगों का मनोबल गिरेगा। फिर भी उनकी इस चाल का मेरे ऊपर उल्टा असर पड़ता था। मैं अपने-आप ही समाचारपत्र पर काली स्याही से पुते अंशों को अच्छी खबरें समझने लगी थी। मेरे अखबार में जितना ही ज्यादा अंश काली स्याही से पुता होता मुझे उतनी ही खुशी होती।

सितम्बर के शुरू के दिनों में मैं इतनी तेज़ बीमार पड़ी कि बिस्तर से उठने लायक़ भी नहीं रही। इतनी कमज़ोरी पहले मैंने कभी नहीं महसूस की थी। मेरा वज़न २८ पौंड कम हो गया था और हमारे वॉर्ड का इंचार्ज डॉक्टर भी यह नहीं समझ पा रहा था कि मुझे कौन-सा रोग हुआ है। हर रोज़ वह आकर मुझसे खाने का अनुरोध करता लेकिन खाना देखते ही मेरी तबियत अरुचि से भर जाती। मैं एक सप्ताह तक पड़ी रही, मेरा शरीर बुख़ार से जलता रहा और तब जेल के एक दूसरे डॉक्टर को बुलाया गया जिसने आते ही बताया कि मुझे यकृत शोथ (हैपटाइटिस) हो गया है। कुछ दिनों के लिए मैं महत्वपूर्ण व्यक्ति अर्थात् वी० आई० पी० का दर्जा पा गयी। वे सचमुच इस बात से भयभीत थे कि यदि मुझे कुछ हो गया तो सारी ज़िम्मेदारी उनके सिर पर थोप दी जायेगी। मैं अपेक्षाकृत काफ़ी जानी जाती थी, बाहर के लोग मेरे बारे में पूछताछ किया करते थे और यदि मुझे कुछ हो गया तो वे उसे छिपा नहीं पायेंगे जैसा कि अन्य क़ैदियों के मामले में कर देते हैं। लगभग एक महीने तक मुझे खूब आरामदेह बिस्तर मिला, मच्छरदानी में सोने का सुख प्राप्त हुआ और अत्यंत पौष्टिक आहार दिया गया, लेकिन मैं इतनी बीमार थी कि वह खा नहीं सकती थी।

मेरे साथ के क़ैदियों ने मेरी सेवा-शुश्रूषा करने में कुछ भी उठा नहीं रखा। उनसे जितना हो सका उतना उन्होंने किया ताकि मैं फिर से पूरी तरह स्वस्थ हो जाऊँ। वे मुझे मालिश करतीं, पंखा झलतीं, मेरे कपड़े साफ़ करतीं, कोठरी की सफ़ाई करतीं और मेरे लिए चावल का दलिया तैयार करतीं। जब कोई काम नहीं होता तो यही पूछने वे आ जातीं कि अब मेरी तबियत कैसी है। एक ने मुझसे कहा, "तुम बहुत दिनों से अपने घर से दूर हो इसीलिए तुम्हारी तबियत ऐसी हो गयी है। लेकिन तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि अब हम लोग ही तुम्हारी माँ या बहन या पूरा परिवार हैं। हम तुम्हारी पूरी देखभाल करेंगे।"

इसके बाद मैंने महसूस किया कि अपने संगी-साथियों के साथ मेरे सम्बन्धों में एक गुणात्मक परिवर्तन आया है। सितम्बर के उन अंतिम दिनों में अपने बिस्तर पर लेटे मैं उस समय बड़ी शांति महसूस करती जब मैं चुपचाप औरतों को इधर से उधर घूमती हुई देखती रहती, खुले आसमान की तरफ़ आँखें किये रहती जहाँ सफ़ेद बादलों के झुंड एक दूसरे को धक्का देते हुए अपनी तरफ़ ध्यान आकर्षित करते होते, जब पीपल के पेड़ में बने घोंसलों में चिड़ियाँ लौट रही होतीं और बच्चे नीम के पेड़ के नीचे खेल रहे होते। लेकिन यह सिलसिला ज्यादा दिन तक नहीं चल सका। यहाँ तक कि जब मैं बीमार थी उस समय भी अचानक तलाशी लेने का काम किया गया था जिसमें सारे कम्बलों और गद्दों को इधर-उधर फेंक दिया गया था और कोठरी में अखबारों के पन्ने बिखरे हुए थे। मैं समझ नहीं पाती कि ऐसे समय वे क्या सोच करके तलाशी लेने आए थे जबकि मैं बीमारी की वजह से ठीक से खड़ी भी नहीं हो सकती थी।

मैं उस समय भी बहुत कमज़ोर थी जब कुछ दिनों के लिए हमारे साथ तीन स्कूल अध्यापिकाएँ रख दी गयीं। वे तथा अन्य हज़ारों अध्यापकों को भारतीय

दण्ड संहिता की धारा १४४ के अन्तर्गत एक हड़ताल के दौरान गिरफ़्तार किया गया था। इस धारा के अनुसार पाँच से अधिक व्यक्तियों के एक स्थान पर इकट्ठा होने और सभा करने पर रोक थी। ये अध्यापकगण इस बात की माँग कर रहे थे कि सरकार प्राइवेट स्कूलों को अपने नियंत्रण में ले ले ताकि पेंशन, आवास तथा सबसे बढ़कर नियम से तनख्वाह मिलने के मामले में उन्हें कुछ सुरक्षा मिल जाय। उन्होंने मुझे बताया कि कभी-कभी तो महीनों उनकी तनख्वाह नहीं मिलती। क़ैदियों की इस बढ़ी हुई संख्या से निपटने के लिए सरकार ने हज़ारीबाग से लगभग बीस मील दूर चंदवारा में एक पुराने कैम्प जेल को फिर से खोल दिया था। मेरा खयाल है कि इस जेल का इस्तेमाल सबसे पहले अंग्रेज़ों ने किया होगा। बाद के वर्षों में चंदवारा तथा अन्य कैम्प जेलों को ज़्यादा से ज़्यादा इस्तेमाल करना पड़ा। मैंने जेल में हड़तालियों के एक के बाद एक आने वाले कई दलों को देखा जिनमें स्कूल अध्यापकों का यह पहला दल था। हालाँकि उस समय उनका मनोबल अपेक्षाकृत आसानी से गिराया जा सका और बिना शर्त काम पर लौटने के एक समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद ही उन्हें विदा किया गया लेकिन बाद में हड़तालों को इतनी आसानी से नहीं दबाया जा सका।

वही एक ऐसा समय था जब हड़तालियों को उच्च श्रेणी मिली और अन्य क़ैदियों के मुक़ाबले उन्हें खाने के लिए अच्छा खाना दिया गया। मुझे इस बात से बहुत चिढ़ हुई कि उन्हें काफ़ी कपड़े भी दिये गये थे जिन्हें जेल छोड़ते समय वे अपने साथ लेते चले गये। मेरे इस चिड़चिड़ेपन की वजह यह थी कि हर बार की तरह अभी भी कुछ औरतें चिथड़ों में ही घूम रही थीं। स्कूल-अध्यापकों के चले जाने के बाद कपड़ों के इंचार्ज सहायक जेलर से मेरी बहुत तेज़ बहस हो गयी। कुछ औरतों के पास अपने दुबले-पतले कंधों को छिपाने के लिए एक ब्लाउज़ तक नहीं है और जाड़ा आने के साथ ही उनके सामने तमाम कठिनाइयाँ पैदा हो गयी हैं। इसके बाद एक निरीक्षण के बाद सम्बद्ध अधिकारी ने आदेश दे दिया कि जिनके पास कुछ भी नहीं है उन्हें एक साड़ी और एक ब्लाउज़ दिया जाय। बस इससे ज़्यादा कुछ भी नहीं। मैंने देखा और बताना चाहा कि स्कूल अध्यापिकाओं को, जिनके पास पहले से ही काफ़ी कपड़ा था और जो महज़ कुछ दिनों के लिए जेल में आयी थीं, उन्हें कितने कपड़े दिये गये थे। अधिकारी ने जवाब दिया कि मैं अपने जिन साथियों के लिए दलील पेश कर रही हूँ वे जेल आने के पहले से ही गरीब हैं। जेल के बाहर भी वे चिथड़े ही लपेटती थीं और उन्हें यह आशा नहीं करनी चाहिए कि 'समृद्ध होने के लिए' उन्हें जेल में रखा गया है। जेल के नियमों के अनुसार क़ैदियों को मिलने वाली न्यूनतम सुविधाओं से वंचित करने का औचित्य प्रमाणित करने के लिए यह व्यक्ति यह दलीलें पेश कर रहा था कि जेल से बाहर तमाम लोग ऐसे हैं जो कड़कती ठंड में महीनों तक नंगे पैर और बिना पर्याप्त कपड़ों के जीवन बिताते हैं। लेकिन कांग्रेस सरकार ने चुनाव जीत लिया और इसके लिए उसने जिस नारे का इस्तेमाल किया, वह था "गरीबी हटाओ!"

यह सब लोग जानते थे कि सहायक जेलर और उसके अधीन काम करने वाले क़ैदी बंदियों के लिए कपड़े का कोटा बेच दे रहे हैं और रजिस्टर में उन बेची गयी चीज़ों को क़ैदियों को दी गयी चीज़ों के खाने में दर्ज कर देते हैं। बिना लम्बे संघर्ष के कपड़े उसी समय बाँटे जाते थे जब किसी मंत्री या जेलों के इंस्पेक्टर-जनरल की यात्रा की घोषणा होती थी। उस समय जेलर जल्दी-जल्दी कुछ ब्लाउज़ और साड़ियाँ उन औरतों को दे देता था जिनके पास बिलकुल ही कपड़े नहीं होते

थे और साथ ही दूसरे क़ैदियों को चेतावनी देता था कि वे शिकायत न करें। इसके साथ ही वह यह भी आश्वासन देता कि 'जैसे ही नया माल आयेगा' उन लोगों को भी कपड़े मिल जायेंगे। विशिष्ट आगंतुकों के जेल से रवाना होने के साथ ही जेलर अपने वायदे भूल जाता था।

अपनी बीमारी से अभी मैं थोड़ी-बहुत ठीक ही हुई थी कि तभी एक बार फिर एक ब्रिटिश अधिकारी मुझसे मिलने आया। वह अपने साथ एक कलम लेकर आया था। उसकी मैं काफ़ी दिन से प्रतीक्षा कर रही थी। इसके साथ ही उसने अप्रत्याशित रूप से मेरे सामने एक प्रस्ताव पेश किया कि यदि मैं बिना मुक़दमा चले 'स्वेच्छापूर्वक स्वदेश-वापसी' के लिए तैयार हो जाऊँ तो भारत-सरकार को निश्चित रूप से सहमत होने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मैंने उससे कहा कि मैं इस मामले पर विचार करूँगी और मुझे सोचने के लिए एक महीने का समय दिया जाय।

स्वदेश वापसी ?

उप-उच्चायुक्त सचिव का प्रस्ताव काफ़ी लुभावना था : उसे काफ़ी आशा थी कि यदि मैं स्वेच्छापूर्वक स्वदेश वापसी के लिए तैयार हो जाऊँ तो मेरे खिलाफ़ जो मामला है उसे वापस ले लिया जायेगा और मैं कल ही यहाँ से निकल सकती हूँ। दूसरी तरफ़ यदि मैं इस पर अड़ी रही कि मेरे ऊपर मुक़दमा चलाया जाये तो इसमें महीनों लग सकते हैं। बिहार सरकार मुझे 'खतरनाक' समझती है और वह ज़मानत के लिए मेरी तरफ़ से की जाने वाली हर कोशिश का विरोध करेगी। उसने फिर आगाह किया है कि यदि मुक़दमा चलाया गया तो मुझे बीस वर्ष की क़ैद की सज़ा हो जायेगी। ब्रिटिश अधिकारी का खयाल था कि अमलेन्दु को अब फिर देख पाने की आशा करना व्यर्थ है। इस मुद्दे पर सुपरिंटेंडेंट ने भी बड़े सामान्य लहज़े में कहा था कि हमारे मामले में कइयों को मौत की सज़ा मिल सकती है, लेकिन अब तक मैं समझ चुकी थी कि इस कथन के पीछे मुझे बस डराने की कोशिश छिपी थी। बिहार के मुख्य सचिव से मिली एक जानकारी से अवगत कराते हुए ब्रिटिश वाणिज्य अधिकारी ने मुझसे विदा ली : यदि मैंने अब कभी कलकत्ता में रहने की कोशिश की तो मेरा जीवन खतरे में पड़ जायेगा। आज वह स्थिति नहीं है जो १९७० में थी। नक्सलवादियों को अब बर्दाश्त नहीं किया जायेगा।

यह एक तरह की धमकी थी लेकिन मेरे ऊपर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। मुझे इस बात में शक था कि कलकत्ता के लोगों के मन में मेरे खिलाफ़ कोई शिकायत होगी। मैंने कोशिश की कि भावुकता के प्रवाह में बहे बग़ैर मैं स्वदेश-वापसी के प्रस्ताव पर तर्कसंगत ढंग से विचार करूँ। यह बात तो स्पष्ट थी कि भारत सरकार का कोई हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ था। मुझे रिहा करके वह विदेश में अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहती थी और साथ ही स्वदेश में अपने राजनीतिक विरोधियों को बिना मुक़दमा चलाये अनिश्चित काल के लिए जेलों में क़ैद रखना

चाहती थी। मैं इस नतीजे पर पहुँची कि यदि ऐसा ही है तो भी इस प्रस्ताव को स्वीकार करना मेरे ही हित में है। अब और अधिक समय तक मेरे जेल में पड़े रहने से कोई मक़सद पूरा होने नहीं जा रहा है। कुछ दिनों बाद अपने मामले से सम्बद्ध लोगों में से किसी एक का संदेश मुझे मिला जिसमें यह सलाह दी गयी थी कि मुझे स्वदेश वापसी के लिए सहमत हो जाना चाहिए बशर्ते इसके साथ कोई अस्वीकार करने योग्य शर्त न जुड़ी हो। मुझे खुशी हुई कि उन्होंने मेरे पास यह संदेश भेजा; मैं यह नहीं चाहती थी कि मेरे जाने के बाद लोग सोचें कि मैं भाग खड़ी हुई।

दो सप्ताह के अन्दर मैं किसी नतीजे पर पहुँच गयी थी और मैंने कलकत्ता लिख भेजा कि वे प्रस्तावित बातचीत को आगे बढ़ायें। मेरे शीघ्र ही स्वदेश रवाना होने के बारे में जेल-अधिकारियों को इस हद तक उम्मीद थी कि शुरू-शुरू में इस प्रस्ताव को अमली रूप दिये जाने के बारे में मेरे अंदर जो शंकाएँ पैदा हुई थीं, वे समाप्त हो गयीं। इंगलैंड से अपने घनिष्ठतम मित्रों के पत्र पाकर मेरे अन्दर लंदन की ज़िन्दगी के बारे में उत्सुकता बेहद बढ़ने लगी और मैं अपने माँ-बाप से तथा खासतौर से अपनी बहन के बच्चों से मिलने की घड़ी का इंतज़ार करने लगी। दूसरी तरफ़ भारत छोड़ने का विचार भी मुझे सालने लगा। अपनी कोठरी के बाहर बनाये गये मिट्टी के ऊँचे चबूतरे पर शरद की उन खुली शामों में आराम करते समय, हज़ारीबाग के नीले स्वच्छ आकाश को निहारते समय, जेल के बाहर शमशान के ऊपर अलसायी मुद्रा में चीलों का उड़ना देखते समय और मानसून की बारिश की वजह से अभी तक धरती से उठ रही सोंधी खुशबू से भरे वातावरण में साँस लेते समय मैं यह सोचकर उदास हो उठती थी कि उस देश में गुजरने वाले ये आखिरी दिन हैं, जिसे मैंने जेल की दीवारों के अंदर से लगातार प्यार किया है। यह सोचकर कि शायद मैं अब फिर कभी अमलेन्दु से न मिल सकूँ मैंने उसके परिवार से सम्पर्क बनाये रखने की व्यावहारिक योजनाएँ बनायीं और समूची घटना के बारे में उनके पास विस्तार से लिखा। मैं जानती थी कि वह इन स्थितियों को समझ लेगा।

जेल से बाहर समूचा भारत उद्वेलित था। उस शरद असम में भाषा के प्रश्न पर दंगे हुए थे, पंजाब में बड़े पैमाने पर छात्रों ने आंदोलन किया था और देश के अन्य हिस्सों से गड़बड़ी के समाचार आ रहे थे। एक दिन बिहार विधानसभा की एक सदस्या जेल लायी गयी। वह हज़ारीबाग से तीस मील दक्षिण रामगढ़ में एक धरना के दौरान पकड़ी गयी थी। हालाँकि वह हमारे साथ बहुत कम दिन रही फिर भी उसका यह अल्पकालिक साथ बहुत ज्ञानवर्द्धक था। वह रामगढ़ क्षेत्र से चुनी गयी थी। इस इलाके से पहले उसके पति निर्वाचित हुए थे जिनकी निर्वाचित होने के कुछ ही दिनों बाद पटना में हत्या कर दी गयी थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इस स्थान से इस महिला को प्रतिनिधि बनाना तय किया था और पति की हत्या के कारण लोगों के भावनात्मक ज्वार ने उसे विजयी बना दिया था। मैं उससे राजनीति पर बातचीत करना चाहती थी। उसने कभी मार्क्स, लेनिन या ऐंगिल्स का नाम नहीं सुना था। मैंने जब उससे उसके सरकारी कामकाज के बारे में पूछा तो उसने स्वीकार किया कि चूँकि वह अंग्रेज़ी कम जानती है इसलिए विधानसभा की सारी कार्यवाहियों को वह समझ नहीं पाती है।

मैंने उससे उन क़ैदियों की दुर्दशा का ज़िक्र किया जिन्हें काफ़ी दिनों से बिना मुक़दमा चलाये बन्द किया गया था—मैंने अपने साथियों की कठिनाइयों से भी

उसे अवगत किया। उसने इन बातों में बड़ी कम रुचि दिखलायी गोया इन चीज़ों से उसका कोई सरोकार नहीं था। अंग्रेज़ी ढंग से खाना बनाने तथा बुनाई के नमूनों में उसकी ज्यादा दिलचस्पी थी। इसके अलावा वह जिस दिन जेल आयी थी उसी दिन से मुसलमानों के उपवास (रोज़ा) वाला महीना रमज़ान शुरू हुआ था। मैं यह देखकर विस्मित रह गयी कि यह 'कम्युनिस्ट' औरत बड़े नियम के साथ सवेरे से शाम तक रोज़ा रखती थी—उसे क़तई यह आभास नहीं था कि इसमें क्या असंगति है।

मेरे साथ की एक भूतपूर्व सहकर्मी अध्यापिका आयरिश मार्क्स अपने पति के साथ भारत आयी हुई थीं और कई महीने पहले उन्होंने मुझे पत्र के ज़रिये सूचित किया था कि अपनी भारत-यात्रा के दौरान वे मुझसे मिलना चाहेंगी। काफ़ी समय गुज़र जाने पर भी जब वे दोनों नहीं आये तब मैंने उम्मीद छोड़ दी, लेकिन उस वर्ष अक्तूबर के अंतिम दिनों में एक दिन मुझे जेल के ऑफ़िस में बुलाया गया। केन्द्र सरकार से आवश्यक अनुमति प्राप्त करने के बाद आयरिश दंपती मुझसे मिलने आ गये थे। वे हज़ारीबाग में एक सप्ताह रुकना चाहते थे और मुझसे रोज़ मिलना चाहते थे, लेकिन सुपरिंटेंडेंट ने उनकी इस योजना को नामंज़ूर कर दिया और कहा कि केवल एक बार मुलाकात की अनुमति मिली है। इस काम के लिए उन्होंने कई सौ मील की यात्रा तय की थी। मैंने इसके लिए अपने आपको अपराधी महसूस किया लेकिन उन्होंने आश्वासन दिया कि यही उचित है। मेरी दृष्टि में यह एक अद्भुत मुलाकात थी हालाँकि हम लोगों की बातचीत के खुलेपन में कुछ हद तक स्पेशल ब्रांच के अधिकारी की मौजूदगी से बाधा पड़ जाती थी जो भाव-शून्य चेहरा लिये चुपचाप बैठकर हमारे एक-एक शब्द नोट करता जा रहा था। सुपरिंटेंडेंट बेहद अफ़सराना चेहरा बनाये बैठा था—ऐसा लगता था जैसे हम लोगों की उल्लासपूर्ण बातचीत से कुढ़ रहा हो। मैंने आयरिश को लिखा था कि वह अपने साथ रबर की एक छोटी-सी गेंद लेती आये क्योंकि यहाँ बच्चे मुझसे गेंद माँगा करते थे। अब चूँकि बच्चों के साथ खेलने की इजाज़त मुझे नहीं दी गयी थी इसलिए सुपरिंटेंडेंट ने फ़ैसला कर लिया कि आयरिश द्वारा लायी गयी गेंद या मिठाइयों में से किसी भी चीज़ को जेल के अन्दर ले जाने की 'स्वीकृति' नहीं मिल सकती।

सौभाग्य से उसने आयरिश और पीटर द्वारा मेरे व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिए लायी गयी चीज़ों को रखने की इजाज़त दे दी। हेप्टाइटिस से ठीक होने के बाद खाने-पीने में मेरी दिलचस्पी फिर से अपने पुराने रंग पर आने लगी थी। दरअसल मैं उन दिनों अपनी इस दिलचस्पी में इस तरह डूबी हुई थी कि जब भी लंदन से अखबारों का बंडल आता, मैं अपने देश की खबरों को देखने की बजाय फ़ौरन पकवानों वाला स्तंभ देखने लगती और सोचती कि अपने जेल के राशन से मैं किस तरह उन व्यंजनों को तैयार कर सकती हूँ। इसकी वजह यह नहीं थी कि मेरा अभ्यास छूट गया था बल्कि साधन इतने सीमित थे कि अखबारों में वर्णित व्यंजनों जैसे स्वाद वाला व्यंजन बनाना बहुत मुश्किल था। आयरिश और पीटर द्वारा मिठाइयों, ताज़े फल और पनीर के डिब्बों के लाने से मुझे लगा कि मेरा कोई सपना पूरा हो गया हो।

फिर भी जल्दी ही इन चीज़ों से वही पुराना पदार्थ और विचार वाला संघर्ष शुरू हो गया और मैंने उसे लिखा, "मिठाइयाँ काफ़ी स्वादिष्ट थीं लेकिन जब भी मुझे कोई ऐशो-आराम वाली चीज़ मिलती है तो मैं बहुत दुःखी महसूस करती हूँ।

आमतौर से मैं इन चीज़ों को बाँट देती हूँ ताकि इनसे मुझे जल्दी छुटकारा मिल जाये और फिर मैं जो थोड़ा-बहुत खाती हूँ उसके कारण भी अपराध-बोध से ग्रस्त रहती हूँ। मैं समझती हूँ कि लंदन वापस आने पर मैं स्वयं को दूसरों का माल हड़पनेवाला एक घिनौना धनी व्यक्ति महसूस किए बिना सामान्य भोजन ग्रहण कर सकूँगी। तब तक के लिए मैं सम्भवतः अपनी चपातियों और दाल के पानी से काफ़ी संतुष्ट हूँ।"

जेल के अस्त-व्यस्त जीवन में रचनात्मकता की मेरी ज़रूरत को समझते हुए आयरिश ने थोड़ा कपड़ा और धागा ला दिया था ताकि मैं कसीदाकारी कर सकूँ। उसने थोड़े पेस्टल और ड्राइंग पेपर भी ला दिये थे। हालाँकि उन्होंने मुझसे बार-बार पूछा कि मुझे किस चीज़ की ज़रूरत है लेकिन मुझे आशा थी कि बहुत थोड़े ही दिनों में मुझे स्वदेश रवाना कर दिया जायेगा इसलिए मैंने खासतौर से किसी चीज़ की फ़रमाइश नहीं की। मैंने उससे वायदा किया कि जल्दी ही लंदन के अपने पुराने अड्डों में हम मिलेंगे। तीन साल बाद जब मैं वापस लंदन पहुँची तो मुझे पता चला कि मुझसे मिलने से पहले आयरिश और पीटर दोनों बेहद प्रसन्न-चित्त थे और यह कि कलकत्ता में आयरिश के अदालत में अमलेन्दु से मिलने के लिए जाने के बाद पुलिस उनके होटल में आयी और उसे पूछताछ के लिए थाने ले गयी।

•

उस शरद काल में हमारे साथ कुछ और युवा तथा उत्साही क़ैदियों को रख दिया गया और दोपहर बाद हम बहुधा आँखमिचौनी, कबड्डी, ऊँची कूद आदि खेलते रहते। इनमें से एक उन्नीसवर्षीया मुसलमान युवती बिल्किश ने हम लोगों की ज़िंदगी को सबसे ज़्यादा उल्लसित किया। वह अपने पड़ोस के एक हिन्दू लड़के के साथ भाग गयी थी—भागने से पहले दोनों में कुछ दिनों तक प्रेम-पत्रों के ज़रिये और नौकरों द्वारा एक-दूसरे के पास खबरें भेज-भेजकर प्यार चलता रहा था। लड़की के अभिभावक—उसके चाचा—की कोशिश पर अब दोनों जेल में पड़े थे। चाचा के इस काम में मुसलिम सम्प्रदाय के लोगों ने भी मदद की थी। चाचा ने धमकी भी दी थी कि यदि दोनों ने ज़िले की सरहद में प्रवेश करने की कोशिश की तो उन्हें सरेआम मार डाला जायेगा। साम्प्रदायिक दंगे के डर से मजिस्ट्रेट ने उन्हें ज़मानत देने से इनकार कर दिया था और कहा था कि यदि उन्हें रिहा किया गया तो उनकी ज़िन्दगी खतरे में पड़ जायेगी।

बिल्किश के पति पर अपहरण और बलात्कार का आरोप लगाया गया था। पर इस आरोप में तब तक कोई दम नहीं होता जब तक बिल्किश खुद यह बयान न देती कि उसे उसकी मर्ज़ी के बग़ैर भगाया गया। उसकी उम्र पता करने के लिए बड़ी बारीक़ी के साथ डॉक्टरी जाँच की गयी थी। अठारह वर्ष से कम आयु की किसी भी महिला को नाबालिग़ समझा जाता है और उसे विवाह के लिए अपने अभिभावक की सहमति लेनी ज़रूरी होती है लेकिन स्पष्ट रूप से बिल्किश इतनी बड़ी थी कि वह अपने पति का चुनाव कर सके। उसने मुझे बताया कि स्कूल की पढ़ाई अभी वह खत्म करने वाली थी कि उसके चाचा ने उसके एक चचेरे भाई से विवाह तय कर दिया। इस स्थिति से बचने के लिए वह अपने प्रेमी के साथ घर से भाग गयी। बिल्किश बड़ी दिलेर लड़की थी और अपने चाचा की हर धमकियों के खिलाफ़ डटे रहने के उस संकल्प की मैं सचमुच तारीफ़ किये बिना नहीं रह सकती। उसका चाचा उससे तब तक हर रोज़ मिलने आता रहा जब

तक उसने यह कहला नहीं दिया कि वह अब उनसे नहीं मिलेगी। इसके बाद उसके चाचा ने एक सहायक जेलर को पटा लिया और उससे अपनी बातें बिल्किश तक पहुँचाने लगा। यह अधिकारी अक्सर हमारे वॉर्ड में आ जाता और बिल्किश को बताता कि ग़ैर सम्प्रदाय के साथ शादी करने से भविष्य में कितनी मुसीबतों और दुःखों का सामना करना पड़ता है। उसने बिल्किश को चेतावनी दी कि उसके प्रेमी के परिवार के लोग न तो उसके हाथ का बनाया खाना खाएँगे और न उसके छुए बर्तन का पानी पिएँगे। उसने भरसक इस लड़की को हतोत्साहित करने और उसका मनोबल गिराने की कोशिश की ताकि उसे अपनी करनी पर पछतावा हो और अपने पति के खिलाफ़ एक झूठा बयान दे दे जिससे उसके पति को बलात्कार के जुर्म में दस साल की सज़ा हो जाये। साथ ही वह अपने चाचा के घर लौटने के लिए राज़ी हो जाये जहाँ उसे अपने 'अपराध' के लिए निश्चित रूप से उचित 'सज़ा' मिलनी ही थी।

जेल-कर्मचारियों में इन दोनों के दोस्त और दुश्मन दोनों थे लेकिन दुश्मनों की तुलना में ये दोस्त कहीं ज्यादा ही बुरे थे। इनमें कुछ बूढ़े ब्राह्मण वॉर्डर थे जो अपने अत्याचार के लिए और अपने अधीन क़ैदियों की खुशहाली के खिलाफ़ काम करने के लिए क़ैदियों के बीच काफ़ी बदनाम थे। अन्य क़ैदियों के प्रति अपने व्यवहार के विपरीत वे हर तरह से कोशिश करते थे कि बिल्किश और उसके पति को जेल में कोई तकलीफ़ न रहे। जहाँ तक मैं समझ पायी थी कि उनकी इस कृपा का कारण यह था कि एक हिन्दू लड़के के साथ बिल्किश की शादी को वे हिन्दुओं की जीत और मुसलमानों की हार मानते थे। हालाँकि यदि उनकी भी लड़कियाँ किसी दूसरी जाति में विवाह कर लेतीं तो वे शायद उन्हें कभी माफ़ नहीं करते और क्रोध से पागल हो उठते। अलग-अलग तरफ़ से पड़ने वाले इन दबावों के बावजूद बिल्किश अपने फ़ैसले पर अड़ी रही और पाँच महीनों तक अपना पक्ष लेकर लड़ती रही। पाँच महीनों बाद उसे इस शर्त पर रिहा कर दिया गया कि वह अपने पति के साथ किसी और इलाक़े में जाकर रहेगी। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि क़ानून के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है और उन्होंने किसी भी रूप में कोई अपराध नहीं किया था।

मोहिनी की ज़मानत पर रिहाई के बाद मेरी कोठरी में गंझू जनजाति की दो आदिवासी औरतें राजकुमारी और सोमरी कुछ दिनों के लिए आ गयीं। मैं राजकुमारी की बड़ी इज़्ज़त करती थी। जिन आदिवासियों से मेरी भेंट हुई उनमें से अधिकांश की ही तरह यह औरत लड़ाई-झगड़े से दूर रहती थी, बेहद परिश्रमी थी और बड़ी स्पष्टवक्ता थी। उसके बारे में कोई शिकायत नहीं थी और वह पूरी तरह विश्वसनीय थी। शाम को जब हमें अन्दर बन्द कर दिया जाता, वह दरवाज़े के सींखचों को पकड़कर चुपचाप खड़ी रहती। ऐसे ही क्षणों में वह हर रोज़ अपने गाँव-घर को याद करती थी। फिर सोमरी उसे बुलाकर खाने के लिए और सारी तकलीफ़ें भुला देने के लिए कहती। कभी-कभी वह रात में आदिवासियों के गीत गाती। मैं पूरी कोशिश करने के बावजूद उसकी मधुर और तेज़ आवाज़ में गाये जाने वाले गीतों के दुःखपूर्ण किन्तु समस्वर उतार-चढाव की नकल नहीं कर पाती। मेरी फिर कभी इतनी सुन्दर गाने वाली किसी क़ैदी से मुलाक़ात नहीं हुई।

मधुर स्वभाव वाली सोमरी की उम्र लगभग पैंतीस वर्ष थी। वह विधवा थी और उसके पन्द्रह वर्ष का एक लड़का था जो खुद भी जेल में था। वह बड़ी

दिलदार औरत थी और हमेशा मुझे 'वच्ची' कहती थी। वह मेरे लिए खाना पकाती, नहाते समय मेरी पीठ मलती और जाड़े की ठंडी रातों में अपने कम्बल से मुझे भी ढँक लेती। कीड़े-मकोड़ों और भूत-प्रेतों से डरने वाली इस औरत को लोग हमेशा अपनी हँसी-मजाक का एक साधन बनाए रहते। मुझे लगता था कि उसके ममता-भरे सान्निध्य ने मुझे और भी वच्चा बना दिया था और कभी-कभी तो मैं अपना वाल का ब्रुश उसके बिस्तर में छिपाकर या उससे यह बताकर कि शौचालय में एक भूत है, जिससे वह घंटों शौचालय की तरफ़ जाती ही नहीं, इतना हँसती कि पेट दर्द करने लगता। फिर भी वह कभी क्रोधित नहीं हुई। उसका पूरा रूप ही काफ़ी हद तक हँसाने वाला था। तमाम ग्रामीण औरतों की तरह वह अपनी नाक में सोने का नथ पहनती थी। यह नथ उसके आगे के दाँतों के वीच की एक खाली जगह के ठीक ऊपर आकर लटकता होता। दाँतों के बीच की इस खाली जगह के बारे में उसने मुझसे कभी वताया था कि एक रात देसी शराव पीकर सर पर चावल की गठरी रखे वह कहीं जा रही थी कि अँधेरे में ठोकर लगी और वह गिर पड़ी जिससे दाँत टूट गया।

भारत के तीन-चौथाई किसानों की तरह वह भी एक ऐसे इलाक़े की रहने वाली थी जहाँ सिंचाई का साधन महज़ वर्षा है। खेती के नाम पर केवल धान, ज्वार और मक्का पैदा होता था और शेष 'भगवान' के आसरे पर था। खाने के नाम पर वह केवल इन्हीं अनाजों तथा जंगल से चुनी गयी खाने लायक पत्तियों, जड़ों, फलों और फूलों को ही जानती थी। जेल आने से पहले उसने कभी आलू या प्याज नहीं खाया था। केला और नारियल जैसे आम फलों का तो उसने नाम तक नहीं सुना था। फिर भी अपने सीमित अनुभवों के आधार पर ही वह काफ़ी चालाक थी। सरकारी अधिकारियों के बारे में उसकी वहुत अच्छी राय नहीं थी—उसने देखा था कि ये लोग गाँवों में जाकर नौजवानों को सेना में भर्ती करते थे ताकि ये नौजवान "बड़े आदमियों के लिए लड़ सकें," या उनसे कहते थे कि अधिक वच्चे न पैदा करो या ज़मीन देने का वायदा करते थे जो कभी पूरा नहीं होता था। उसकी निगाह में सरकार ही एक ऐसी चीज़ थी जो गाँव वालों को जंगल से जलाने की लकड़ी लाने पर रोक लगाती थी, तालाबों में मछली मारने से रोकती थी और जहाँ चावल की ज़रूरत है वहाँ कपास उगाने को क़हती थी।

कुछ अन्य क़ैदियों की तरह विदेश के नाम पर सोमरी ने भी केवल चीन और पाकिस्तान का नाम सुना था। उसने सुना था कि चीनी लोग अपने यहाँ के बूढ़े लोगों को खा जाते हैं या मार डालते हैं और वे साँप और वन्दर खाते हैं जो उसकी निगाह में पवित्र जीव हैं। चीन के बारे में मैं जो जानती थी, मैंने उसे वताया और उस लम्बे संघर्ष के वारे में समझाया जिसे चीनी जनता ने अपने पुराने समाज का कायाकल्प करने के लिए चलाया था। भारत की सीमा में प्रवेश करने के पहले ही दिन से स्टेशन के बुक स्टालों तथा अन्य स्थानों में चीन-विरोधी प्रचार सामग्रियों को याद करते हुए मैंने सोचा कि सोमरी तथा अन्य क़ैदियों से चीन के बारे में मुझे जो अजीबोग़रीव कहानियाँ सुनने को मिली हैं वह महज़ इत्तफ़ाक नहीं है।

मेरी वातचीत केवल राजनीति तक सीमित नहीं रहती थी। एक दिन उसने रोंगटे खड़े कर देने वाली एक कहानी सुनायी कि किस तरह उसके भानजे की मुठभेड़ एक बार जंगल में लकड़ी इकट्ठा करते समय शेर से हो गयी थी और वह मारा गया था। विहार के कुछ ज़िलों में अभी भी तमाम जंगली जानवर हैं और मैं

ग्रामीण लोगों की खतरनाक परिस्थितियों में पल रही ज़िन्दगी और उस आसान ज़िन्दगी के बीच विरोधाभास की तुलना करने लगी जिसे मैं स्वीकार कर चुकी थी। उसने मुझे यह भी बताया कि किस तरह अप्रैल के महीने में सवेरे से शाम तक गाँव के लोग महुआ के फूल इकट्ठा करते हैं, उसे धूप में सुखाकर रखते हैं और जुलाई में जब तक मक्का तैयार नहीं हो जाता उसे उबालकर या भूनकर दिन में दोनों पहर खाने के काम लाते हैं। परिवार का हर सदस्य इस काम में जुटा रहता है और किसी को नहाने तक की फुर्सत नहीं मिलती क्योंकि नहाने के लिए नज़दीक-से-नज़दीक के स्थान तक जाने के लिए भी लम्बी दूरी तय करनी पड़ती है। उसने बताया कि महुआ के मौसम में अकसर उसे जुएँ पड़ जाती थीं क्योंकि अपने को साफ़ रखने का समय ही नहीं मिलता था।

अधिकांश समय सोमरी एक स्थानीय सूदखोर के लिए दूकान चलाकर अपना खर्च जुटाती थी। इसके एवज़ में उसे बस खाना और कभी अपने और अपने बच्चे के लिए कपड़ा मिल जाता था। उसके जेल में आने का कारण यह था कि उसने डकैतों के एक गिरोह को ज़रूरत के सामान की सप्लाई की थी। यह गिरोह उस इलाक़े में घूमता रहता और बाज़ार जाने और बाज़ार से आने वाले लोगों को अकसर लूट लेता था और उनके मकान पर हमला कर देता जो किसी वजह से घर से बाहर होते। इनमें से कुछ डकैत भी जंगल के अपने ठिकानों से पकड़े गए थे और उनमें से तीन की पत्नियाँ हमारे साथ कुछ दिनों तक रही थीं। वे पहाड़ी जन-जाति के थे जिन्हें पहाड़िया कहा जाता था। कई पीढ़ियों से वे घूम-घूमकर खेती करते थे और हर बार कुछ मौसम एक जगह गुज़ारने के बाद वे किसी दूसरे स्थान पर चले जाते थे। वे औरतें ही भीरु स्वभाव की थीं और यह कल्पना करना बड़ा मुश्किल लगता था कि वे डकैती में लूटी गयी सामग्री के सहारे अपने पतियों के साथ जंगलों की कठिन ज़िन्दगी गुज़ारती होंगी।

हमारी कोठरी की दूसरी तरफ़ बनी छोटी-सी झोंपड़ी में कबूतरों का एक जोड़ा रहता था जो बहुत जल्दी-जल्दी बच्चे देता था। इन दस दिनों पूर्व पैदा छोटी चिड़ियों का माँस उन क़ैदियों को बहुत पसन्द था जो माँस की शौक़ीन थीं लेकिन इसे आमतौर से मेटिन के आदेश का उल्लंघन माना जाता था। हमने एक तरीका ढूंढ़ निकाला था जिससे जब तक मेटिन जान सके कि ये पैदा हुए हैं, हम इन छोटे कबूतरों को उसी समय ग़ायब कर देते थे। चोरी-छिपे दावत उड़ाने के लिए हमने शनिवार की रात को चुना था। ताला बंद होने के समय से थोड़ा पहले जब किसी की निगाह हम पर नहीं होती थी, हममें से एक पहरा देने के लिए खड़ी हो जाती और अन्य दो औरतें मिट्टी की अँगीठी को चुपके से कोठरी में उठा लातीं। जब तक चीफ़-हैड वॉर्डर अपना शाम का चक्कर पूरा नहीं कर जाता इस अँगीठी को हम अपने शौचालय की सीढ़ियों पर छिपा कर रखे रहतीं। जैसे ही वह चला जाता हमारा खाना बनाने का कार्यक्रम शुरू होता। जिस दिन कोई कबूतर नहीं होता हम आलू की खिचड़ी बनातीं या किसी महिला वॉर्डर से बाज़ार से कुछ मौसमी सब्ज़ियाँ मँगा लेतीं। इन दावतों के बाद जब मैं सोने के लिए लेटती तो मुझे अकसर अमलेन्दु की याद आती और मैं लेटी-लेटी सोचती रहती कि पता नहीं उसके पास कुछ संगी-साथी हैं या नहीं, लेकिन मैं जानती थी कि उसकी हालत चाहे कैसी भी क्यों न हो वह कभी यह नहीं चाहेगा कि मैं दुखी रहूँ और उसे यह जानकर खुशी होगी कि मैंने किसी तरह अपना 'इन्तज़ाम कर लिया है।'

१९७२ के क्रिसमस से थोड़ा पहले बिहार सरकार के अराजपत्रित कर्मचारियों से जेल भर गया। इनमें मानसिक चिकित्सालयों की तमाम नर्सें और अस्पताल कर्मचारी थे जो बेहतर वेतन, निःशुल्क चिकित्सा सुविधा और विकसित आवास-व्यवस्था की माँग को लेकर हड़ताल कर रहे थे। वे अपनी माँगों के समर्थन में प्रदर्शन कर रहे थे और उन्हें धारा १४४ तोड़ने के चिरपरिचित आरोप में गिरफ़्तार किया गया था।

हर बार की तरह जब भी बड़ी संख्या में नये क़ैदियों का आगमन होता था हमारे अन्दर तरह-तरह की भावनाएँ उठती थीं। उनके आने से हमारे जीवन में जो विविधता आती थी उसे हम पसन्द करते थे पर साथ ही पानी की कमी और सफ़ाई की समुचित व्यवस्था न होने से पैदा कठिनाइयों को भी हम बहुत महसूस करते थे। अब हम अस्सी लोग उसी नल से पानी लेने के लिए होड़ लगाती थीं और मेरे बग़ल की कोठरी में चौंतीस औरतें सोती थीं। एक क्षण भी शान्ति नहीं रहती थी। मैंने पढ़ने की सारी कोशिशें छोड़ दी थीं और सारा समय मैं अपनी नयी आगंतुकों के साथ बातचीत में बिताती। एक यूनियन की सदस्य होने के नाते उनमें जुझारूपन था और वे संगठित थीं तथा चीफ़-हैड वॉर्डर को लगातार अपनी माँगों से थका देती थीं। अधिकारियों तक जिस निर्भीकता के साथ वे अपनी शिकायत पहुँचाती थीं वह अन्य क़ैदियों के लिए एक मिसाल था जो अब ख़ुद भी ख़ासतौर से खाने के मामले में आवाज़ उठाने लगे थे। उन दिनों की रोज़ की सब्ज़ी बैंगन थी जिसे एक लोहे के ड्रम में तब तक उबाला जाता था जब तक वह काला और लसलसेदार नहीं हो जाता था। सबसे बुरी बात यह थी कि इसमें अक्सर लाल रंग के मोटे-मोटे कीड़े मिलते थे जिससे अधिकांश औरतें इन 'व्यंजनों' को बेमन से चबाने की बजाय सादा चावल या चपातियाँ खाना पसन्द करती थीं।

मानसिक चिकित्सालय की नर्स का काम और अस्पताल की सफ़ाई का काम अवांछनीय तथा गंदा काम समझा जाता था और अधिकाँश 'अराजपत्रित अधिकारी' या तो इसाई थीं या हरिजन। फिर भी उन अनगढ़ लोगों के बीच एक उल्लेखनीय अपवाद था—उनके बीच एक हिन्दू औरत थी जो भक्तिन थी। मैं नहीं कह सकती कि उसे कैसे यह पद मिल गया। उसे ईश्वर-भक्त के नाते विशेष अधिकारों का हक़दार मान लिया गया था और खाने से पहले वह हमेशा तरह-तरह के मंत्र आदि पढ़ती थी। वह ग़ैर-हिन्दुओं या हरिजनों के हाथ का पकाया खाना नहीं छूती थी इसलिए जब वह अपने साथ कुछ ऐसी महिलाओं को लेकर खाना बनाने लगती, जिसे वह 'स्वीकार्य' मानती थी, तो अधिकांश अराजपत्रित कर्मचारी चुपचाप बैठे रहते। अपने मिट्टी के बर्तन के साथ जब वह नल तक जाती तो सब लोग दूर-दूर रहते कि कहीं उसका पानी अपवित्र न हो जाए। एक दिन सवेरे उसने पानी की भरी बाल्टी महज़ इसलिए उलट दी क्योंकि ग़लती से सोमरी से धक्का लग गया था। खाना तैयार होने के बाद वह अलग बैठकर सबसे पहले खाती थी और दूसरों के बर्तनों से अलग उसके बर्तन रखे जाते थे ताकि वे कहीं एक दूसरे में मिल न जायें।

मैं इस तथाकथित धर्मनिरपेक्ष भारत में जाति के महत्त्व को ज्यादा-से-ज्यादा समझने लगी थी। इससे पहले मुझे जाति-प्रथा की जटिलताओं के बारे में कुछ भी पता नहीं था। जैसा कि मैंने इतिहास की पुस्तकों में पढ़ा था, मैं बड़े भोलेपन से समझती थी कि हिन्दुओं में केवल चार ही जातियाँ होती हैं। मुझे यह नहीं पता

था कि ये जातियाँ तक़रीबन ढाई हज़ार उपजातियों में बँटी हैं और इनमें से प्रत्येक जाति के लोग व्यापक नियमों के अनुसार केवल अपनी ही जाति में विवाह कर सकते हैं। हर जाति के अपने सख्त नियम हैं कि वह किस जाति के साथ किस सीमा तक मिल सकती है। राजकुमारी ने मुझे बताया कि जेल से बाहर वह अपनी जाति के किसी सदस्य या किसी ब्राह्मण के हाथ के बनाये चावल के अलावा और किसी का बनाया चावल नहीं खा सकती जबकि कुछ अन्य जाति के लोगों के हाथ का बनाया सूखा खाना वह खा सकती है।

महिला वॉर्डरों में से एक बूढ़ी हिन्दू वॉर्डर इतने वर्षों तक जेल में रहने के बावजूद अभी भी अपने ढकोसले से चिपकी रहती थी। वह किसी ऐसे बिस्तर पर सोने से साफ़ इनकार करती थी जिस पर माँस, मछली या अंडा खाने वाला कोई व्यक्ति सो चुका हो या उस अँगीठी पर बना खाना नहीं खाती थी जिस पर ये चीज़ें बनायी गयी हों। जब भी हम कोई कबूतर फँसाते थे तो इस बात का इत्मीनान कर लेते थे कि उसे इस बारे में कुछ पता न चले। उसे यदि हमारी हरक़तों का पता चल जाता तो हमारी बुराइयों के बारे में प्रलाप करने और बेसिर-पैर की बातें करने के लिए उसे अच्छा-ख़ासा विषय मिल जाता। वह किसी भी क़ैदी के कपड़े नहीं छूती थी और अपने कम्बलों तथा बिस्तर को लपेटकर एक कोने में डाल देती थी जहाँ कोई उसे 'अपवित्र' न कर सके। रात की ड्यूटी वाली महिला वॉर्डरों को जेल के अन्दर सोने की व्यवस्था की गयी थी क्योंकि चीफ़-हैड वॉर्डर द्वारा महिला वॉर्ड का ताला बाहर से बंद कर दिये जाने के बाद अगले दिन सवेरे छः बजे तक निकलने के लिए कोई रास्ता नहीं रह जाता था।

जब भी कोई नयी क़ैदी आती तो उसके चारों तरफ़ उत्सुकता भरी भीड़ का पहला सवाल होता—**"क्या जात है ?"** इस महत्त्वपूर्ण जानकारी के आधार पर ही उसके समूचे व्यवहार का मूल्यांकन किया जाता। अलग-अलग जातियों के लोगों की अलग-अलग विशेषताओं और ख़ूबियों के बारे में पहले से ही तय की गयी धारणाएँ भी उसी हद तक सच थीं जिस हद तक अंग्रेज़ों की यह धारणा कि सभी स्काटलैण्डवासी नीच होते हैं अथवा सभी आयरिश क़ाहिल होते हैं।

कुल मिलाकर अन्य औरतों के साथ मेरे सम्बन्धों के सन्दर्भ में जाति कभी कोई बड़ा मुद्दा नहीं रहा। मेरे ऐसे व्यवहार के प्रति, जिन्हें वे प्रायः अजीबोग़रीब और स्वच्छन्द समझती रही होंगी, सहिष्णुता का रवैया अपनाया और हँसकर टाल दिया। फिर भी एक-दो बार जेल कर्मचारियों में से कुछ हिन्दू शुद्धतावादियों से मेरी मुठभेड़ हो ही गयी। चीफ़-हैड वॉर्डर को ब्रिटेन के बारे में जो थोड़ी-बहुत बातें मालूम थीं उनमें एक बात यह भी थी कि वहाँ के लोग गाय का माँस खाते हैं। कभी-कभी वह मेरी ओर देखकर 'धत्-धत्' करती, फिर अपना सिर हिलाकर बोलती, 'बहुत खराब जात'। मुझे खुशी थी कि वह मुझे पसन्द नहीं करती है। इसका अर्थ कम-से-कम यह तो था ही कि मेरे मिलने वाले कभी-कभी मेरे लिए जो मिठाइयाँ तथा अन्य खाद्य सामग्री लाते थे उन पर उसकी लालच भरी आँखें नहीं टिकती थीं एक बार ब्रिटिश उच्चायुक्त का एक आगंतुक शायद बिना किसी चालाकी के मेरे लिए नमक़ीन गोमाँस का एक डिब्बा और माँस के रस का एक ज़ार लाया। इन सामानों को मेरे पास तक पहुँचने की स्वीकृति नहीं मिली क्योंकि बाहर से आने वाले सामानों की जाँच के लिए तैनात स्पेशल ब्रांच के पुलिस के लोग कट्टर हिन्दू थे और उन्होंने इन सामानों को छूने से इनकार कर दिया।

जाति-प्रथा किस प्रकार समाज के उन तत्वों का मक़सद पूरा करती है जो

किसी न किसी कारण प्रगति को रोकना चाहते हैं—इसका उदाहरण मुझे एक वार एक महिला वॉर्डर द्वारा बतायी गयी एक घटना से चला। उसने बताया कि उसके गाँव में हिन्दुओं में 'सर्वोच्च' माने जाने वाली जाति के लोग अर्थात् ब्राह्मणों ने लोगों को आगाह किया कि वे स्थानीय स्कूल में अपने बच्चों को पढ़ने न भेजें क्योंकि वहाँ कुछ ईसाई और हरिजन अध्यापक हैं—इसके सम्पर्क से लोगों की जाति 'नष्ट' हो जायेगी।

उस वर्ष अराजपत्रित कर्मचारियों ने मेरे क्रिसमस में रंग ला दिया। मेरी कोठरी के बाहर आँगन में इन अराजपत्रित अधिकारियों में से जो इसाई थे, वे सवेरे से लेकर शाम तक, जब तक वॉर्डर ने इन्हें रात भर के लिए बंद नहीं कर दिया, नाचते-गाते रहे। छुट्टियों के कुछ दिनों वाद मुझे अपने राशन में छिपी एक चिट्ठी मिली जिसमें मुझे 'मेरी प्रिय बहन' करके सम्बोधित किया था और मुझे हर तरह की सहायता देने का प्रस्ताव था। इस अप्रत्याशित पत्र से मेरी उन नौजवान क़ैदियों में से एक से गाढ़ी दोस्ती हो गयी जो कभी-कभी हमारे वॉर्ड में आ जाया करता था। उसने मुझे बताया कि क्रिसमस की सुबह मैंने उसे जो थोड़ी मिठाइयाँ दी थीं उससे प्रेरित होकर उसने खत लिखने का खतरा मोल लिया। अगर उसका यह पत्र अधिकारियों के हाथ में पड़ जाता तो शायद उसकी खूब पिटाई होती, उसे निश्चित रूप से बेड़ियों में जकड़ दिया जाता और क़ैद-तनहाई की सज़ा दे दी जाती। वाद में कई महीनों तक हमारे बीच गुप्त रूप से पत्राचार होता रहा। हमने पत्र-व्यवहार अभी शुरू ही किया था कि उसकी बच्ची की मृत्यु हो गयी। उसे रिहा किया जाना था कि इस काम के लिए नियुक्त सहायक जेलर ने उससे एक महीने पहले होने वाली रिहाई की क़ीमत के रूप में पच्चीस रुपये की फ़र्माइश की। यदि वह पच्चीस रुपये नहीं देता है तो उसे एक महीने और जेल में ही काटने पड़ेंगे। अपनी बच्ची की मृत्यु के वाद वह अपनी पत्नी तक पहुँचने के लिए बेताब था और उसने सहायक जेलर की फ़र्माइश पूरी की। जिस दिन वह जेल से गया मुझे ऐसा लगा जैसे मेरा कोई भाई यहाँ से विदा हो गया।

उसकी निर्भीकता के ज़रिये मैं भी अपने आसपास के वॉर्डों में रह रहे कुछ नक्सलवादी क़ैदियों से सम्पर्क बना सकी। इसी दौरान मुझे पता चला कि इन नक्सलवादियों में से एक असीम चटर्जी को 'कंडेम्ड सेल' में बेड़ियाँ पहनाकर क़ैद-तनहाई में रखा गया है। असीम के साथ सिवाय उन दो वॉर्डरों और एक हैड वॉर्डर के, जो उसकी लगातार निगरानी करते थे, अन्य किसी को नहीं रखा गया था। उस समय एक तरफ़ तो भारत सरकार इस बात पर बेहद चिल्ल-पों मचा रही थी कि शेख मुजीबुर्रहमान को पाकिस्तान की जेल में अपने साथ रेडियो रखने की भी इजाज़त नहीं दी गयी है और दूसरी तरफ़ असीम को पेंसिल और काग़ज़ तक अपने पास नहीं रखने दिया गया था। मुक़दमा चलाये जाने से पहले ही सज़ायाफ़्ता लोगों की कोठरी में राजनीतिक बंदियों के रखने की इस प्रणाली से मुझे लगा कि इस सिद्धान्त का यह ज़बर्दस्त मखौल है कि जब तक कोई व्यक्ति अपराधी साबित नहीं हो जाता वह निर्दोष है।

अंततः सरकारी कर्मचारियों ने अपनी हड़ताल वापस ले ली और उन्हें रिहा कर दिया गया, हालांकि काम पर वापस आने के सरकार के पहले ज़ारी किये गये आदेश का उल्लंघन करने के आरोप में कुछ को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा और ग़ैरहाज़िर रहने के लिए कुछ का वेतन काट लिया गया। भौतिक दृष्टि से उन्होंने कुछ भी उपलब्ध नहीं किया था लेकिन लगातार एक के बाद एक हो रही

हड़तालों तथा अन्य गड़बड़ियों से सरकार उलझन में पड़ गयी थी। स्वयं जेल का जीवन दिनोंदिन अराजक होता जा रहा था क्योंकि प्रायः एक-एक रात में तरह-तरह के ऐसे क़ैदी भारी संख्या में जेलों में भर जाते थे जो उन क़ैदियों से सर्वथा भिन्न होते थे जिन पर जेल अधिकारी बड़े आराम से धौंस जमाया करते थे। इन नये क़ैदियों में जुझारूपन था, एकजुटता थी—वे अपने अधिकारों को अच्छी तरह समझते थे और इनके लिए लड़ने से वे डरते नहीं थे। जेल-प्रशासन के लिए ये लगातार सरदर्द थे क्योंकि अधिकारियों के पास एक तरफ़ तो ऐसे सरकारी निर्देश होते कि इन जुझारुओं को कोई रियायत न दी जाये और दूसरी तरफ़ क़ैदियों की अपनी माँगें होतीं कि उनके साथ किस तरह का सलूक किया जाये। जेल-अधिकारियों ने इस समस्या को हल करने का एक तरीका ढूंढ़ा—वे जहाँ तक सम्भव होता कभी-कभार ही जेल के अन्दर आते ताकि इन उत्पाती क़ैदियों के सामने न पड़ें क्योंकि ये शांत रहने वाले क़ैदी नहीं थे।

जेल में ज़रूरत से ज़्यादा भीड़ की वजह से होने वाले शारीरिक कष्टों के बावजूद मैं इस नयी स्थिति का स्वागत करती थी। इसके दो कारण थे—पहली बात तो यह थी कि ये नये क़ैदी भारतीय जनता की संघर्षरत चेतना के जीवित सबूत थे और दूसरे इनकी मौजूदगी से अधिकारियों का ध्यान हम लोगों की तरफ़ से बँटा दिया था जिसके फलस्वरूप हमें अपने दैनिक जीवन में काफ़ी छूट मिल गयी थी।

फिर भी हमें तनाव से ज़्यादा समय तक मुक्ति नहीं मिलती थी और अराजपत्रित अधिकारियों के जाने के कुछ ही दिनों बाद मुझे फिर अचानक एक झटका दिया गया। एक दिन सवेरे कुछ औरतों ने मुझसे बताया कि पिछली रात डार्मिटरी में वे काफ़ी देर तक आपस में विचार-विमर्श करती रहीं। उनमें से अनेक औरतें कई वर्षों से बिना मुक़दमा चलाये बंद हैं और चूंकि उनके मामलों की अदालती कार्रवाई के कोई आसार नहीं नज़र आ रहे हैं इसलिए उन्हें यह भी उम्मीद नहीं है कि वे कभी रिहा भी हो पायेंगी या नहीं। उन्होंने बताया कि आज से उन्होंने भूख-हड़ताल का निश्चय किया है। उनकी माँग है कि उनके मामले तेज़ी से निवटाये जायें और साथ ही जेल से मिलने वाले खाने और सुविधाओं में कुछ सुधार किया जाये। मैंने उन्हें सतर्क किया कि चाहे कुछ हो जाये लेकिन उन्हें अपनी एकजुटता बनाये रखनी होगी और वॉर्डरों की धमकी तथा धौंस के आगे झुकना नहीं होगा वरना उन्हें कुछ भी हासिल नहीं हो सकेगा। मैं भी भूख-हड़ताल में भाग लेने पर राज़ी हो गयी।

उस दिन सवेरे मेटिन को छोड़कर सबने रोज़ मिलने वाले मटर के दाने और शीरा लेने से इनकार कर दिया और चूंकि चीफ़-हैड वॉर्डर छुट्टी पर था इसलिए दुबले-पतले और कठोर दिख रहे डिप्टी चीफ़ हैड वॉर्डर को बुलाया गया ताकि वह मामला निपटाये। हमारे वॉर्ड में घुसते ही उसने सबसे पहले कहा—"इन क़ैदियों के साथ यह नक्सलवादी क्या कर रही है? उसी ने इनको यह सब सिखाया है। बंद करो उसे कोठरी में।" निस्संदेह उसका आशय मुझसे ही था। मैंने कोई जवाब नहीं दिया और एक दूसरी महिला को मैंने अपनी माँगें रखने दीं। महिला ने अभी बोलना शुरू ही किया था कि वॉर्डर ने तेज़ आवाज़ में चीखना शुरू किया और अपना आदेश दुहराया कि मुझे ताले के अन्दर बन्द कर दिया जाये। जिस महिला ने माँग को पेश किया था उसे भी बंद कर दिया गया। इसके बाद वह दूसरी क़ैदियों पर चीखता-चिल्लाता रहा और उन्हें गालियाँ बकता रहा

और कहता रहा कि तमाम जुर्म करने के बावजूद सरकार इनको खाना और रहने के लिए जगह दे रही है पर ये औरतें कितनी अहसान-फ़रामोश हैं। शिकायत करने की हिम्मत कैसे पड़ी ? आखिरकार एक-एक करके औरतें मटर और शीरा खाने पर राज़ी होती गयीं और भूख-हड़ताल की बात भूल गयीं। वॉर्डर ने उन्हें आखिरी बार चेतावनी दी कि वे नक्सलवादियों से न घुलें-मिलें और हालाँकि महिला वॉर्डर से मेरा ताला खोलने को वह कहता गया पर साथ ही उसने यह भी हिदायत दी कि मुझसे कोई बात न करे।

उस शाम जब वह दुबला-पतला वॉर्डर हमारा वॉर्ड बंद करने आया तो बिल्किश ने जान-बूझकर उसके सामने ही मेरा हाथ पकड़ लिया और वह बोली, "आओ दीदी, ताला बंद होने से पहले हम लोग एक बार फिर बगीचे का चक्कर लगा लें।" राजकुमारी और सोमरी ने उस एकमात्र महिला वॉर्डर का बिस्तर लगाने से इनकार कर दिया जिसने लोगों को मुझसे दूर रखने के वॉर्डर के आदेश के पालन की कोशिश की थी और इन दोनों ने उससे न बोलने का निश्चय किया। मैंने उनसे कहा कि बचकानी हरकतें न करें—वह तो अपनी ड्यूटी पूरा कर रही है, लेकिन भीतर ही भीतर मैं उनके द्वारा की गयी अफ़सरशाही के उल्लंघन की घटना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

इस घटना से मुझे पता चला कि नक्सलवादियों के भूत से अभी भी सरकार परेशान है हालाँकि उसने आंदोलन का पूरी तरह सफ़ाया करने का दावा किया है। विभिन्न स्रोतों से छनकर आने वाली छुटपुट सूचनाओं से मेरे इस संदेह की पुष्टि हो गयी थी कि नक्सलवादियों का अभी पूरी तरह अस्तित्व क़ायम है। अनेक अवसरों पर गृहमंत्री ने सरकार को आश्वासन दिया था कि 'उग्रवादियों' पर 'कड़ी नज़र' रखी जा रही है। उत्तरी बंगाल में राइफल छीनने की घटनाओं की खबर मिली थी और पश्चिमी बंगाल के बर्दवान ज़िले के काकसे इलाके में—जहाँ आदिवासियों को सामंती ज़मींदारों के ख़िलाफ़ आंदोलित करने में नक्सलवादियों को खासतौर से सफलता मिली थी—चारों तरफ़ से घेरा बनाकर पुलिस के विशेष कैम्प स्थापित किये गये थे। इन आदिवासियों को ज़मींदारों ने गुलामी जैसे बंधनों में क़ैद कर रखा था। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री सिद्धार्थशंकर राय ने अपनी पुलिस से अनुरोध किया था कि वह ग्रामीणों के साथ दोस्ती करे और उनका दिल जीते लेकिन गांव के लोग १९७० और १९७१ का आतंक देख चुके थे इसलिए अब पुलिस के साथ सम्बन्ध सुधारने के सिलसिले में ज़रूरत से ज़्यादा देर हो गयी थी। १९६७ से १९६९ के बीच जबर्दस्त क्रांतिकारी उभार के बाद आंदोलन को जो सफलता मिली थी और उसने जो आधार तैयार कर लिया था उसे फिर से प्राप्त करने में मुमकिन है कि ज़्यादा समय लग जाये लेकिन एक बार फिर हलचल शुरू हो गयी थी।

इस समय तक सरकार आंतरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा) तथा निरोधक नज़रबंदी क़ानूनों के अन्तर्गत अपने अधिकारों का व्यापक इस्तेमाल करने लगी थी। एक दिन कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' ने खबर दी कि अकेले बंगाल राज्य में तीन महीने के अन्दर ७७५ लोगों को मीसा के तहत गिरफ़्तार किया गया। १९७३ शुरू होते-होते दक्षिण में आंध्र प्रदेश राज्य में भी दंगे भड़क उठे थे। जनता ने रेलवे स्टेशनों और पोस्ट ऑफ़िसों को जला दिया था और उन्हें शांत करने के लिए भेजी गयी पुलिस टुकड़ियों और फ़ौजी दस्तों पर हमला बोल दिया था। समूचे देश में विस्फोटक स्थिति थी।

हड़तालों तथा अन्य गड़बड़ियों से सरकार उलझन में पड़ गयी थी। स्वयं जेल का जीवन दिनोंदिन अराजक होता जा रहा था क्योंकि प्राय: एक-एक रात में तरह-तरह के ऐसे क़ैदी भारी संख्या में जेलों में भर जाते थे जो उन क़ैदियों से सर्वथा भिन्न होते थे जिन पर जेल अधिकारी बड़े आराम से धौंस जमाया करते थे। इन नये क़ैदियों में जुझारूपन था, एकजुटता थी—वे अपने अधिकारों को अच्छी तरह समझते थे और इनके लिए लड़ने से वे डरते नहीं थे। जेल-प्रशासन के लिए ये लगातार सरदर्द थे क्योंकि अधिकारियों के पास एक तरफ़ तो ऐसे सरकारी निर्देश होते कि इन जुझारुओं को कोई रियायत न दी जाये और दूसरी तरफ़ क़ैदियों की अपनी माँगें होतीं कि उनके साथ किस तरह का सलूक किया जाये। जेल-अधिकारियों ने इस समस्या को हल करने का एक तरीका ढूँढ़ा—वे जहाँ तक सम्भव होता कभी-कभार ही जेल के अन्दर आते ताकि इन उत्पाती क़ैदियों के सामने न पड़ें क्योंकि ये शांत रहने वाले क़ैदी नहीं थे।

जेल में ज़रूरत से ज़्यादा भीड़ की वजह से होने वाले शारीरिक कष्टों के बावजूद मैं इस नयी स्थिति का स्वागत करती थी। इसके दो कारण थे—पहली बात तो यह थी कि ये नये क़ैदी भारतीय जनता की संघर्षरत चेतना के जीवित सबूत थे और दूसरे इनकी मौजूदगी से अधिकारियों का ध्यान हम लोगों की तरफ़ से बँटा दिया था जिसके फलस्वरूप हमें अपने दैनिक जीवन में काफ़ी छूट मिल गयी थी।

फिर भी हमें तनाव से ज़्यादा समय तक मुक्ति नहीं मिलती थी और अराजपत्रित अधिकारियों के जाने के कुछ ही दिनों बाद मुझे फिर अचानक एक झटका दिया गया। एक दिन सवेरे कुछ औरतों ने मुझसे बताया कि पिछली रात डार्मिटरी में वे काफ़ी देर तक आपस में विचार-विमर्श करती रहीं। उनमें से अनेक औरतें कई वर्षों से बिना मुक़दमा चलाये बंद हैं और चूँकि उनके मामलों की अदालती कार्रवाई के कोई आसार नहीं नज़र आ रहे हैं इसलिए उन्हें यह भी उम्मीद नहीं है कि वे कभी रिहा भी हो पायेंगी या नहीं। उन्होंने बताया कि आज से उन्होंने भूख-हड़ताल का निश्चय किया है। उनकी माँग है कि उनके मामले तेज़ी से निबटाये जायें और साथ ही जेल से मिलने वाले खाने और सुविधाओं में कुछ सुधार किया जाये। मैंने उन्हें सतर्क किया कि चाहे कुछ हो जाये लेकिन उन्हें अपनी एकजुटता बनाये रखनी होगी और वॉर्डरों की धमकी तथा धौंस के आगे झुकना नहीं होगा वरना उन्हें कुछ भी हासिल नहीं हो सकेगा। मैं भी भूख-हड़ताल में भाग लेने पर राज़ी हो गयी।

उस दिन सवेरे मेटिन को छोड़कर सबने रोज़ मिलने वाले मटर के दाने और शीरा लेने से इनकार कर दिया और चूँकि चीफ़-हैड वॉर्डर छुट्टी पर था इसलिए दुबले-पतले और कठोर दिख रहे डिप्टी चीफ़ हैड वॉर्डर को बुलाया गया ताकि वह मामला निपटाये। हमारे वॉर्ड में घुसते ही उसने सबसे पहले कहा—"इन क़ैदियों के साथ यह नक्सलवादी क्या कर रही है? उसी ने इनको यह सब सिखाया है। बंद करो उसे कोठरी में।" निस्संदेह उसका आशय मुझसे ही था। मैंने कोई जवाब नहीं दिया और एक दूसरी महिला को मैंने अपनी माँगें रखने दीं। महिला ने अभी बोलना शुरू ही किया था कि वॉर्डर ने तेज़ आवाज़ में चीखना शुरू किया और अपना आदेश दुहराया कि मुझे ताले के अन्दर बन्द कर दिया जाये। जिस महिला ने माँग को पेश किया था उसे भी बंद कर दिया गया। इसके बाद वह दूसरी क़ैदियों पर चीखता-चिल्लाता रहा और उन्हें गालियाँ बकता रहा

और कहता रहा कि तमाम जुर्म करने के बावजूद सरकार इनको खाना और रहने के लिए जगह दे रही है पर ये औरतें कितनी अहसान-फ़रामोश हैं। शिकायत करने की हिम्मत कैसे पड़ी ? आखिरकार एक-एक करके औरतें मटर और शीरा खाने पर राज़ी होती गयीं और भूख-हड़ताल की बात भूल गयीं। वॉर्डर ने उन्हें आखिरी बार चेतावनी दी कि वे नक्सलवादियों से न घुलें-मिलें और हालांकि महिला वॉर्डर से मेरा ताला खोलने को वह कहता गया पर साथ ही उसने यह भी हिदायत दी कि मुझसे कोई बात न करे।

उस शाम जब वह दुबला-पतला वॉर्डर हमारा वॉर्ड बंद करने आया तो बिल्किश ने जान-बूझकर उसके सामने ही मेरा हाथ पकड़ लिया और वह बोली, "आओ दीदी, ताला बंद होने से पहले हम लोग एक बार फिर बगीचे का चक्कर लगा लें।" राजकुमारी और सोमरी ने उस एकमात्र महिला वॉर्डर का बिस्तर लगाने से इनकार कर दिया जिसने लोगों को मुझसे दूर रखने के वॉर्डर के आदेश के पालन की कोशिश की थी और इन दोनों ने उससे न बोलने का निश्चय किया। मैंने उनसे कहा कि बचकानी हरकतें न करें—वह तो अपनी ड्यूटी पूरा कर रही है, लेकिन भीतर ही भीतर मैं उनके द्वारा की गयी अफ़सरशाही के उल्लंघन की घटना से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

इस घटना से मुझे पता चला कि नक्सलवादियों के भूत से अभी भी सरकार परेशान है हालांकि उसने आंदोलन का पूरी तरह सफ़ाया करने का दावा किया है। विभिन्न स्रोतों से छनकर आने वाली छुटपुट सूचनाओं से मेरे इस संदेह की पुष्टि हो गयी थी कि नक्सलवादियों का अभी पूरी तरह अस्तित्व क़ायम है। अनेक अवसरों पर गृहमंत्री ने सरकार को आश्वासन दिया था कि 'उग्रवादियों' पर 'कड़ी नज़र' रखी जा रही है। उत्तरी बंगाल में राइफल छीनने की घटनाओं की खबर मिली थी और पश्चिमी बंगाल के बर्दवान ज़िले के काकसे इलाके में—जहाँ आदिवासियों को सामंती ज़मींदारों के खिलाफ़ आंदोलित करने में नक्सलवादियों को खासतौर से सफलता मिली थी—चारों तरफ़ से घेरा बनाकर पुलिस के विशेष कैम्प स्थापित किये गये थे। इन आदिवासियों को ज़मींदारों ने गुलामी जैसे बंधनों में क़ैद कर रखा था। पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री सिद्धार्थशंकर राय ने अपनी पुलिस से अनुरोध किया था कि वह ग्रामीणों के साथ दोस्ती करे और उनका दिल जीते लेकिन गाँव के लोग १९७० और १९७१ का आतंक देख चुके थे इसलिए अब पुलिस के साथ सम्बन्ध सुधारने के सिलसिले में ज़रूरत से ज़्यादा देर हो गयी थी। १९६७ से १९६९ के बीच ज़बर्दस्त क्रांतिकारी उभार के बाद आंदोलन को जो सफलता मिली थी और उसने जो आधार तैयार कर लिया था उसे फिर से प्राप्त करने में मुमकिन है कि ज़्यादा समय लग जाये लेकिन एक बार फिर हलचल शुरू हो गयी थी।

इस समय तक सरकार आंतरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा) तथा निरोधक नज़रबंदी क़ानूनों के अन्तर्गत अपने अधिकारों का व्यापक इस्तेमाल करने लगी थी। एक दिन कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' ने खबर दी कि अकेले बंगाल राज्य में तीन महीने के अन्दर ७७५ लोगों को मीसा के तहत गिरफ़्तार किया गया। १९७३ शुरू होते-होते दक्षिण में आंध्र प्रदेश राज्य में भी दंगे भड़क उठे थे। जनता ने रेलवे स्टेशनों और पोस्ट ऑफ़िसों को जला दिया था और उन्हें शांत करने के लिए भेजी गयी पुलिस टुकड़ियों और फ़ौजी दस्तों पर हमला बोल दिया था। समूचे देश में विस्फोटक स्थिति थी।

मैं स्वदेश वापसी वाली योजना को लगभग भूल ही चुकी थी कि एक दिन कलकत्ता से फिर उप-उच्चायुक्त सचिव मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि वे लोग अभी भी अपनी तरफ़ से भरपूर प्रयास कर रहे हैं और चीज़ें 'ठीक दिशा में आगे बढ़ रही हैं।' उनका कहना था कि 'सरकारी चक्कर' कुछ ऐसा है कि देर हो रही है, फिर भी आशा है कि जल्दी ही कोई अनुकूल परिणाम निकलेगा। उन्होंने पूछा कि क्या मैं बता सकती हूँ कि मेरी हवाई-यात्रा का खर्च कौन दे सकेगा? मैं अपने दोस्तों या परिवार के सदस्यों से पैसे की माँग करने में हिचकिचा रही थी ख़ासतौर से ऐसे समय जबकि कलकत्ता में पुलिस ने मेरे पैसे ज़ब्त कर लिये हों। फिर भी जब ब्रिटिश अधिकारी ने संकेत दिया कि यदि मैं अपना किराया देने के लिए किसी को तैयार नहीं कर पाऊँगी तो सारी योजना खटाई में पड़ जायेगी, तब मैंने लंदन की अपनी दोस्त रूथ फोर्स्टर को एक पत्र लिखकर उससे पैसों का इंतज़ाम करने को कहा। बाद में कई वर्ष बाद वापस पहुँचने पर मुझे पता चला कि विदेश कार्यालय ने मेरी उस दोस्त से कहा था कि वह दिन-रात पैसे लेकर तैयार रहे। मेरे घर वापस आने के बारे में वह इतनी निश्चित थी कि उसने मेरे लिए कुछ नयी चप्पलें भी खरीद ली थीं।

इसके बाद कई महीनों तक मुझे इस सिलसिले में कुछ भी सुनने को नहीं मिला। मैंने ब्रिटेन शीघ्र लौटने के विचार को भुला दिया। यदाकदा जब दोस्तों या परिवार के किसी सदस्य का कोई पत्र आता तो मैं उच्चायुक्त के अधिकारियों पर बौखला उठती कि उन्होंने स्वदेश वापसी की योजना क्यों मेरे सामने रखी। मेरे माँ-बाप रूथ फोर्स्टर तथा अन्य मित्र मुझसे कहीं ज्यादा चिंतित थे और ऑपरेशन के बाद अभी भी मेरी माँ का स्वास्थ्य काफ़ी खराब था। एक बार मैंने ख़ुद ही उप-उच्चायुक्त को पत्र लिखकर पूछा कि इस योजना के सिलसिले में क्या हुआ और अनुरोध किया कि वह उसे छोड़े नहीं। शायद उन्हें मेरा पत्र मिला ही नहीं, जो भी हो मेरे पास कोई जवाब नहीं आया।

१९७३ की फरवरी में दो क़ैदी—जिन्हें लगभग दो वर्ष पहले ज़मानत पर रिहा किया गया था— फिर जेल में वापस आ गयीं। इनमें एक थी बुधनी जो २५ वर्ष की नौजवान औरत थी और दूसरी थी उसकी बूढ़ी सास। उनकी गिरफ़्तारी के समय से ही बुधनी का पति जेल में था लेकिन उनके पास इतना पैसा ही नहीं हो सका कि पिछले एक वर्ष से भी अधिक समय से वे उसे देखने आ पातीं। दोनों औरतों को ज़मानत का उल्लंघन करने के आरोप में फिर गिरफ़्तार कर लिया गया था। अदालत में हाज़िर होने के लिए उन्हें हज़ारीबाग आना था और घर से हज़ारीबाग तक बस का छः रुपये किराया लगता था —वे छः रुपये का इंतज़ाम नहीं कर पायी थीं और अदालत में हाज़िर नहीं हो सकी थीं। अपने मामले के निबटारे के लिए उन्होंने सारी ज़मीन, घर का सारा सामान और सारे ज़ेवर बेच दिये थे। उन पर बिना लाइसेंस वाले हथियार रखने का आरोप था। अंततः वे कंगाल हो गयीं और उस समय तक भी मामले की अदालत में सुनवाई नहीं हो सकी थी। दोनों औरतों ने पिछला साल घर-घर में छोटे-से-छोटे काम करके गुज़ारा था ताकि वे अपना पेट भर सकें। जेल में उनकी वापसी से मुझे बेहद दुःख हुआ।

मार्च में हिन्दुओं का पर्व होली भी आ गया लेकिन मुझे अभी तक स्वदेश वापसी के बारे में कोई समाचार नहीं मिला। पहली बार जब यह प्रस्ताव रखा गया था तब से छः महीने बीत गये। मैंने सोचा कि अब उप-उच्चायुक्त के यहाँ से

आने वाले अधिकारियों से मिलने से इनकार कर दूंगी या इंग्लैण्ड जाने के लिए दी गयी सहमति वापस ले लूंगी, लेकिन इतना कड़ा कदम उठाने में हिचकिचाहट हुई क्योंकि मैं जानती थी कि यदि मैं इस तरह का कोई कदम उठाऊँगी तो इसका इस्तेमाल मुझे बदनाम करने के लिए किया जायेगा और अपने परिवार तथा ब्रिटेन के अपने दोस्तों से मेरा सम्पर्क पूरी तरह टूट जायेगा क्योंकि मेरी सारी चिट्ठियाँ उप-उच्चायुक्त के कलकत्ता कार्यालय के ज़रिए भेजी जाती हैं।

मैं अभी यही सोचने में लगी थी कि अपनी स्थिति को सुधारने के लिए लाभप्रद ढंग से मैं क्या कर सकती हूँ कि तभी ३० अप्रैल १९७३ की शाम को मुझे बताया गया कि मेरा तबादला जमशेदपुर कर दिया गया है और अगली सुबह मुझे रवाना हो जाना है।

टाटा

उस रात राजकुमारी ने थोड़ा-सा चावल पानी में भिगोकर रख दिया। इसे उसने एक-एक मुट्ठी बचाकर इकट्ठा किया था ताकि अपनी मिट्टी की चिलम के लिए वह इन चावलों के बदले तम्बाकू ले सके। अगले दिन वह भोर से काफ़ी पहले जाग गयी और भिगोये गये चावल को सिलवट्टे पर रगड़ने लगी ताकि मेरे लिए मेरा मनपसंद चिल्का बना सके। उस वर्ष नागो की रिहाई के बाद बल्को ने मेटिन का कार्य-भार संभाला था—उसने आटा और शीरा मिलाकर मेरे लिए हलवा तैयार किया। फिर डार्मिटरी के फर्श पर उन्होंने कम्बल बिछाया और विदाई के नाश्ते में साथ देने के लिए उन्होंने मुझे बुलाया। मैंने उनके साथ लगभग तीन वर्ष गुज़ारे थे -- दिन-रात हम लोग साथ-साथ रहे थे। खाना खाने के बाद मुझे आॅफ़िस में बुलाया गया। मुझे जाते देखकर राजकुमारी और लेउनी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी थीं—खुद मेरी भी आँखों में आँसू भर आये थे।

लेकिन शीघ्र ही मेरे भावुकता भरे विचार अचानक चूर-चूर हो गये। जेल के फाटक पर मेरी प्रतीक्षा में हथियारों से लैस संतरी और स्पेशल ब्रांच पुलिस के लोग खड़े थे। आॅफ़िस कर्मचारियों, क़ैदियों और जेल के फाटक से झाँकते तमाशबीनों के सामने खुलेआम उन्होंने मेरे थैलों, बिखरे हुए पत्रों, वस्त्रों और मासिक धर्म के दिनों मे इस्तेमाल किये जाने वाले कपड़ों की तलाशी ली। दो पुलिस-महिलाएँ पटना से ही मेरे साथ जाने के लिए आ पहुँची थीं। सुपरिंटेंडेंट के आॅफ़िस के पीछे बने शौच गृह में ले जाकर उन्होंने मेरे नीचे के कपड़ों के अन्दर बड़े बेढंगे तरीक़े से हाथ घुसेड़ कर तलाशी ली। मेरे शरीर पर एक सस्ती-सी साड़ी थी—उनमें से एक ने मेरी साड़ी पकड़ते हुए बड़ी तिरस्कार भरी मुद्रा में पूछा कि मेरे पति ने मेरे लिए अच्छी-सी साड़ी क्यों नहीं खरीद दी? दरअसल यह वही साड़ी थी जो मैंने एक महिला क़ैदी से बदल ली थी क्योंकि उसे मेरी साड़ी पसंद आ गयी थी।

मेरे साथ-साथ पुलिस की तीन गाड़ियाँ चल रही थीं जिनमें सत्रह हथियारबंद संतरी, स्पेशल ब्रांच के अनेक लोग, दो महिला पुलिस तथा एक महिला वॉर्डर थी फिर भी इतने दिनों से जेल की दीवारों के अन्दर क़ैद रहने के बाद पहली बार खुली सड़क और दूर-दूर तक फैले खेतों को देखकर मैं उल्लास और उत्तेजना से भर गयी। मेरे साथ के संतरियों में से एक ने गाना शुरू कर दिया, दूसरे बातचीत में लग गये और ड्राइवर गाड़ी रोककर रास्ते में हमारे खाने के लिए कुछ लेने चला गया। थोड़ी ही देर बाद वे मुझसे अमलेन्दु के बारे में, मेरे परिवार तथा ब्रिटेन के बारे में पूछने लगे। और जब हम राजनीतिक विषय पर आये तो मैंने पाया कि वे किसी भी अर्थ में नक्सलवादियों के प्रति पूरी तरह असहानुभूतिपूर्ण नहीं थे—बाद की यात्राओं में भी मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ।

हज़ारीबाग से दक्षिण-पूर्व में १३० मील दूर स्थित जमशेदपुर हम लोग रात के वक़्त पहुँचे। जेलर को मेरे आने की आशा थी और वह अपने छोटे-से फूहड़ ऑफ़िस में बैठा इंतज़ार कर रहा था। उसने मेरा ब्यौरा दर्ज किया और कहा कि मैं रात भर के लिए अपने खाकी थैले उसके ऑफ़िस में छोड़ जाऊँ ताकि एक बार फिर ठीक से तलाशी ले सकें। एक वॉर्डर ने मुझे मेरी कोठरी तक छोड़ दिया। यह हज़ारीबाग जेल की मेरी कोठरी की लगभग आधी थी और उसमें नपे-तुले सामान रखे थे। इसका अपना आँगन और दीवारें थीं और इसलिए वह महिला विभाग के शेष हिस्से से पूरी तरह अलग था। मैंने अपने चिरपरिचित भूरे कम्बलों को तह लगाकर पथरीले फ़र्श पर बिछाया और सोने की कोशिश की। जीप की अनभ्यस्त यात्रा के कारण मेरा शरीर अभी भी दर्द कर रहा था। एक बूढ़ी वॉर्डर आयी—उसने ताले की जाँच की और मुझसे दोस्ताना लहजे में दो-चार शब्द कहे। अंततः मैं शुरू होने वाले अपने मुक़दमे के बारे में सोचते-

जमशेदपुर जेल में नक्सलवादियों का विभाग
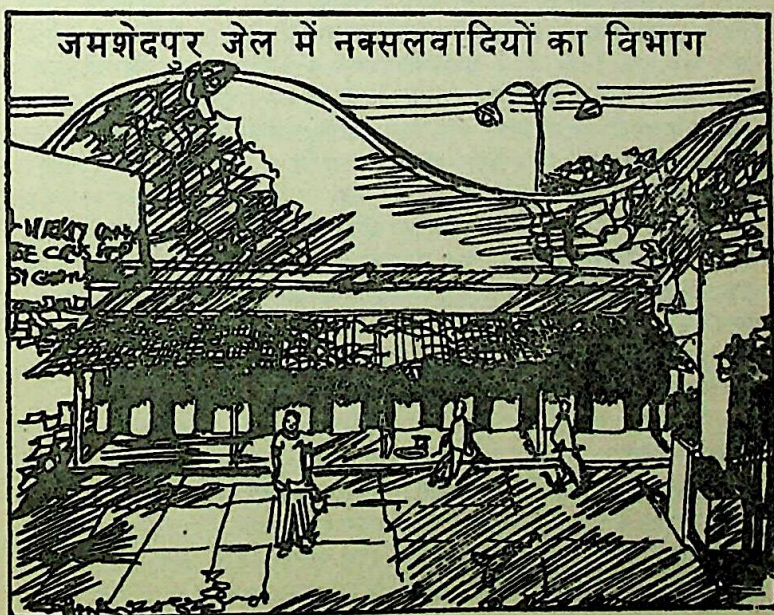
सोचते सो गयी। जेलर ने बताया था कि दो दिन के अन्दर मेरा मुक़दमा शुरू हो जायेगा।

जब मैं जागी तो हल्की रोशनी फैली हुई थी। घड़ी के बग़ैर समय का अनुमान लगाने में मैं अभ्यस्त हो गयी थी इसलिए मैंने अपने कम्बलों को मोड़कर रखा और वॉर्डर का इंतज़ार करने लगी कि वह अभी आकर ताला खोलेगी। घंटों बीत गये और रोशनी थोड़ी भी तेज़ नहीं हुई। बाद में मुझे पता चला कि जिसे मैं प्रातःकालीन प्रकाश की लाली समझ रही थी, वह शहर की दूसरी तरफ़ बने इस्पात कारखाने की भट्ठी का प्रकाश था।

हज़ारीबाग और जमशेदपुर के जेल तथा कस्बे में बहुत विषमता थी। हज़ारीबाग शांत और ग्रामीण इलाका था जहाँ की अपेक्षाकृत ठंडी जलवायु ने ईसाई मिशनरियों तथा अवकाशप्राप्त सरकारी अफ़सरों को आकर्षित कर लिया था। अब मैं भारत के सबसे प्रारंभिक औद्योगिक शहरों में से एक में थी। यह इस्पात कारखाना इस सदी की शुरुआत के दिनों में टाटा-परिवार ने स्थापित किया था जो आज भी भारत के सबसे बड़े उद्योगपतियों में से एक है। इसके बाद इस स्थान पर, जो कभी आदिवासी इलाक़े का गाँव था, अनेक औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित होते गए। ताँबा और यूरेनियम सहित इस इलाक़े की प्रचुर खनिज सम्पदा ने भारतीय और विदेशी पूँजी को इस तरफ़ आकर्षित किया और जैसे-जैसे जमशेदपुर दिनों-दिन फैलता गया, यहाँ के मूल निवासियों को पीछे हटते जाना पड़ा और आसपास के जंगलों में रहने की जगह बनानी पड़ी। टाटा-परिवार द्वारा निर्मित नगर का अधिकांश हिस्सा आज भी उन्हीं लोगों की सम्पत्ति है और लोग इसे 'टाटा' के नाम से जानते हैं, यहाँ तक कि जेल भी जहाँ बनाया गया है वह भी कभी उन्हीं लोगों की जागीर थी।

जमशेदपुर की जेल छोटी थी और क़ैदियों से भरी हुई थी। उस समय जेल की इमारत के अन्दर सात सौ क़ैदी थे जबकि केवल एक सौ सैंतीस क़ैदियों के रहने के लिए जगह निर्धारित थी। इनमें केवल मैं ही ऐसी थी जिसे एक कोठरी पाने का सुख मिला था। जेल-कर्मचारियों की संख्या बेहद कम थी जिसके फलस्वरूप समूचा प्रशासन हज़ारीबाग जेल से भी ज़्यादा अव्यवस्थित था। मुझे अन्य महिला क़ैदियों से अलग करने वाली आठ फुट ऊँची दीवार में लगे सलाख-दार फाटक से पहली सुबह झाँकने पर मैंने देखा कि एकमंज़िली वर्गाकार कटघरे-जैसी इमारत में अन्य महिला क़ैदियों को रखा गया है। यहाँ हज़ारीबाग-जैसा खुलापन भी नहीं था। चारों तरफ़ ऊँची-ऊँची दीवारें ही दिखायी देती थीं। मेरी अपनी कोठरी और उसके आसपास का अहाता काफ़ी साफ़-सुथरा था, दीवारों पर ताज़ा पुताई की हुई थी और मेरे लिए पानी का एक नल तथा कांक्रीट का बना एक हौज़ था जिसकी मैंने कभी आशा नहीं की थी। बाद में मुझे पता चला कि पुरुषों के विभाग में उस समय भी सैकड़ों क़ैदी केवल दो नलों से काम चला रहे थे।

महिलाओं की हालत और भी ख़राब थी। ऐसा कभी नहीं हुआ कि महिला क़ैदियों की संख्या तीस से कम रही हो और दो वर्ष बाद जब मैं अंतिम रूप से जमशेदपुर से विदा हुई तो पन्द्रह वर्ग फुट के एक कटघरे में ४४ औरतें और १२ बच्चे रह रहे थे। रात में वे एक-दूसरे से सटकर लेट जाते और इतनी कम जगह रहती कि वे करवट भी बड़ी मुश्किल से बदल पाते। जवान और बूढ़ी, बीमार और स्वस्थ, पागल और सामान्य सबको ठूँस-ठूँसकर एक साथ उस पिंजरे में भर

दिया जाता। सबके शौच जाने के लिए केवल एक शौचालय था और इसके सामने जो औरतें सोयी रहती थीं उनको फाँदकर ही वहाँ तक पहुँचा जा सकता था। शौचालय से निकली हुई नाली पीछे अहाते की तरफ़ जाती थी और खुली होने की वजह से उससे निकलती वदबू उस कोठरी में चारों तरफ़ से भर जाती।

दिन, रातों से ज़्यादा वेहतर नहीं थे। जमशेदपुर गर्मी और चिपचिपाहट के लिए वदनाम है। गर्मियों के मौसम में तापक्रम ४५ डिग्री सेंटीग्रेड तक पहुँच जाता है। सूरज निकलने के वाद से हमारे अहाते में शायद ही ऐसी कोई जगह थी जहाँ थोड़ा भी साया दिखायी देता। औरतें और वच्चे पेशाब और सड़ते हुए भोजन, भिनभिनाती मक्खियों, पसीने से तरवतर शरीर, वीमारी, घाव और कीचड़दार डवरों से घिरे पानी के नलों के वीच वैठकर या लेटकर सारा दिन विता देते। नल से निकलता हुआ पानी कांक्रीट के एक टूटे-फूटे हौज़ में इकट्ठा होता जिसके एक कोने पर फटे कम्वल का एक टुकड़ा डाट के रूप में फँसा दिया गया था। कहीं भी आराम से वैठने या कुछ खाने की जगह नहीं थी, करने के लिए कोई काम नहीं था, कपड़े धोने के लिए कोई वाल्टी नहीं थी और न तो शांति या एकांत की कोई उम्मीद ही वची थी।

पहली वार अदालत में भरी हाज़िरी की तारीख तय हुई और मंगलवार ३ अप्रैल, १९७३ को मुझे अदालत में ले जाने का निश्चय किया गया। इससे पहले एक व्यक्ति मुझसे मिलने मेरी कोठरी में आया। वह सादी वर्दी में एक पुलिस अफ़सर था जिसे देखते ही मैंने पहचान लिया कि यह वही व्यक्ति है जिसने मेरी गिरफ़्तारी के वाद पूछताछ में भाग लिया था। अब वह नक्सलवादियों के मामले का इंचार्ज था। मिलते ही उसने बड़ी विनम्रता के साथ मुझसे मेरा हालचाल पूछा और मेरा वज़न कम होने पर बड़े भद्र अंदाज़ में टिप्पणी की। इसके बाद वह असली मुद्दे पर आया : मेरा मुक़दमा अब शुरू होने जा रहा है और वक़ौल उस अफ़सर के 'आम राय' यही है कि मैं अपना अपराध क़वूल कर लूंगी और मुझे माफ़ कर दिया जाएगा। ऐसा करने से अनावश्यक औपचारिकताओं और विलम्ब से वचा जा सकेगा और स्वदेश वापसी का काम तेज़ी से हो सकेगा। मैंने उससे पूछा कि यदि मैं अपराध क़वूल न करूँ तो क्या होगा? उसने अपने कंधे उचकाये और कहा, "तुम तो जानती ही हो कि देशद्रोह और राजद्रोह की क्या सज़ा मिलती है? पूरे वीस साल की कैद हो जायेगी।" मैंने उससे कहा कि आप अपने सिद्धान्तों के अनुसार काम करते रहिए और मैं अपने सिद्धान्तों के अनुसार काम करती रहूँगी।

उस रात मैं लेटी हुई उसकी बातों को सोचती रही और उसके कथन में छिपे अर्थों पर ग़ौर करती रही। पुलिस ने कल्पना और अमलेन्दु सहित ५१ अन्य लोगों के साथ मेरे ऊपर आरोप लगाया था। ये सभी मुकदमे की इंतज़ार में आज भी जेल में पड़े हुए हैं। मेरी ओर से की गयी कोशिशों के प्रति सरकार ने अनुकूल रवैया दिखाया था और इसकी अभिव्यक्ति के रूप में मेरे मुकदमे को अलग तो कर दिया लेकिन ब्रिटेन वापस जाने की मेरी इच्छा को वह मुझसे 'अपराध' क़वूल कराकर भुनाने की कोशिश कर रही थी। मुमकिन है कि इससे मुझे व्यक्तिगत आज़ादी हासिल हो जाये लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि मेरी स्वीकारोक्ति का इस्तेमाल उन लोगों को फँसाने के लिए किया जायेगा जिन्हें उसी इलाके से पकड़ा गया है, जिनमें मैं थी। अभी तक मैं यह भी नहीं समझ पायी थी कि वे मुझसे क्या 'क़वूल' कराना चाहते थे लेकिन इस पर विचार करने की कोई ज़रूरत भी नहीं

है। यदि वे मेरे ऊपर मुक़दमा चला सकते हैं तो औरों पर क्यों नहीं चलाते ? उनमें से कुछ का तबादला उसी समय किया गया था जब कल्पना को कलकत्ता भेजा गया था। बंगाल पुलिस भी चाहती थी कि उनके खिलाफ़ आरोपों को प्रस्तुत किया जाये। लेकिन ३५ लोगों को हज़ारीबाग़ में ही छोड़ दिया गया। उनकी स्थिति लाज़िमी तौर पर मेरी ही जैसी थी, लेकिन एक तरफ़ जहाँ मेरे ऊपर 'मुक़दमा' चलाया जाने वाला था और सम्भव है कि मुझे 'रिहा' कर दिया जाता, उन्हें बेड़ियों में जकड़ कर जेलों में ही रखा जाना था और यह कोई नहीं जानता था कि कितने वर्षों तक वे ऐसी हालत में पड़े रह सकते हैं।

इन सारी बातों पर विचार करने के बाद मैंने फ़ैसला किया कि अगले दिन मैं मजिस्ट्रेट से कहूँगी कि मेरे जो सह-प्रतिवादी अभी भी हज़ारीबाग़ जेल में हैं उन्हें मुक़दमा चलाने के लिए जमशेदपुर बुलाये जाने का आदेश ज़ारी किया जाये। अगली सुबह संगीनों की खटखटाहट, चाबियों और लोहे के फाटकों की झनझनाहट के बीच मुझे पुलिस के एक ट्रक में बैठाकर स्थानीय अदालत तक ले जाया गया और कटघरे में पहुँचा दिया गया। कुछ लिखते हुए मजिस्ट्रेट ने निगाह ऊपर उठायी, मेरी तरफ देखा, फिर पुलिस दस्ते की तरफ़ चेहरा घुमा लिया और दस मिनट के अन्दर मैं अपनी कोठरी में वापस पहुँचा दी गयी थी। लगभग तीन वर्षों बाद यह अदालत में मेरी पहली 'पेशी' थी। मुझे यह भी पता नहीं कि अगली पेशी के लिए कौन-सी तारीख़ तय की गयी है। जेलर ने मेरे वारंट को देखकर बताया कि अगली तारीख़ १७ अप्रैल है। इस तारीख़ से पहले मुझसे मिलने अमलेन्दु की बहन और अमलेन्दु के परिवार द्वारा मेरे लिए तय किए गये वकील महोदय आये। बहन ने बताया कि अमलेन्दु को मेरे तबादले की खबर किसी तरह मिल गयी थी और उसे पूरा यक़ीन था कि मुझे जल्दी-से-जल्दी इंग्लैण्ड भेजने की तैयारियाँ की जा रही हैं। इसीलिए उसने अपनी बहन से आग्रह किया था कि वह आखिरी बार मुझसे आकर मिल ले। मैंने उसे आश्वासन दिया की इतनी जल्दी कुछ नहीं होने जा रहा है।

मुझे अमलेन्दु का लिखा एक और पोस्टकार्ड मिला। उसे अलीपुर सैंट्रल जेल में रखा गया था। उसने मुझे और भी पत्र लिखे लेकिन मुझे कोई पत्र नहीं मिल सका। मुझे इसमें कोई तुक नज़र नहीं आ रही थी कि मेरे ऊपर सेंसरशिप क्यों थोपी गयी है और मैंने एक बार एक अर्ज़ी लिखकर अधिकारियों से स्पष्ट तौर पर यह जानना चाहा था कि मुझे क्या लिखने की छूट है। तमाम क़ैदियों की अर्जियों की तरह इसका भी कोई जवाब नहीं आया। इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरी यह अर्ज़ी भी हज़ारीबाग़ जेल में मुख्य वाच टावर के नीचे बने कमरे में इकट्ठे रद्दी कागज़ में मिला दी गयी होगी। एक बार हज़ारीबाग़ में चीफ़ हैड-वॉर्डर ने एक कागज़ में लपेटकर थोड़ा-सा पालक मुझे दिया जिसे खोलने पर मैंने देखा कि यह वही अर्ज़ी थी जिसे एक या दो सप्ताह पहले मैंने अपने साथ की किसी महिला क़ैदी के लिए लिखा था।

१७ अप्रैल को मुझे अदालत में भी प्रवेश नहीं करने दिया गया। मुझे अदालत तक पुलिस की गाड़ी में पहुँचाया गया और मजिस्ट्रेट ने बाहर आकर सीढ़ियों पर से ही मुझे देखकर मेरे वहाँ मौजूद होने की पुष्टि कर ली फिर पीछे मुड़कर अपने कक्ष में चले गये। सौभाग्यवश मेरा वकील वहाँ मौजूद था और मैंने उससे अनुरोध किया कि वह मेरे सह-प्रतिवादियों की ओर से एक अर्ज़ी लिखे कि उन्हें भी हज़ारीबाग़ से यहाँ बुला लिया जाये। मजिस्ट्रेट ने १५ दिनों बाद अपना फ़ैसला

सुनाने का वायदा किया। इस बीच अभियोग पक्ष ने एक याचिका देकर माँग की थी कि मेरे मुक़दमे की सुनवाई जेल के अन्दर हो और इस याचिका को मजिस्ट्रेट ने स्वीकार भी कर लिया था, इसलिए जेल के अन्दर ही एक अदालत-कक्ष तैयार किया जा रहा था। इस कक्ष के तैयार होने तथा हज़ारीबाग़ जेल से अन्य क़ैदियों के यहाँ बुलाने में हो रही देर को देखते हुए अगले लगभग तीन महीनों के लिए सिपुर्दगी कार्यवाही को स्थगित कर दिया गया।

जिस दिन मैं जमशेदपुर आयी उस पहली सुबह ही बीना ने मुझे अपना परिचय दिया और परिचय देते समय इस बात का वह पूरा-पूरा अहतियात बरत रही थी कि कहीं मेटिन मुझसे बात करते उसे देख न ले। बीना से ही मुझे भारतीय किसानों के जीवन के बारे में अधिकांश बातों की जानकारी मिली और बाद के महीनों में मैं उसे और भी ज़्यादा प्यार तथा आदर देने लगी। बीना की उम्र भी मेरी जितनी थी और वह एक भूमिहीन किसान परिवार की थी। बचपन से ही उसने अपने इलाक़े के ज़मींदारों के खेतों में मज़दूरी करके दिन बिताये थे। जवान होने पर उसकी शादी हुई लेकिन उसके पिता इतने ग़रीब थे कि वह ज़्यादा दहेज़ न दे सके जिसका नतीजा यह हुआ कि उसे अपने पति और सास के दुर्व्यवहार को लगातार झेलना पड़ा। वह इतनी दृढ़ इच्छा-शक्ति की महिला थी कि इस तरह के व्यवहार को वह बर्दाश्त नहीं कर सकी और अपनी गोद की बच्ची को लेकर वह बंगाल के मेदिनीपुर ज़िले में अपने पिता के घर वापस लौट आयी। मेदिनीपुर ज़िले में १९७० में नक्सलवादियों का ज़ोर काफ़ी था और वे अपना दूसरा मुक्त अंचल स्थापित करने ही वाले थे।

१९७१ के उत्तरार्द्ध में पुलिस ने बीना को गिरफ़्तार कर लिया और उस पर नक्सलवादी होने का आरोप लगाया। उसे एक सप्ताह तक पुलिस थाने में रखा गया जहाँ पूछताछ के दौरान प्रतिदिन उसे पीटा जाता था और जब वह खून और घावों से सराबोर हो जाती थी तो उसे लगभग बेहोशी की हालत में जेल भेज दिया जाता था। थोड़ी तबियत ठीक हो जाने पर उसे फिर थाने बुलाया जाता था और अगले एक सप्ताह तक पूछताछ और मारपीट का सिलसिला जारी रहता। जिस समय उससे मेरी मुलाकात हुई उस समय भी उसके शरीर पर चोट के निशान मौजूद थे और मार पड़ने से उसकी सुनने की क्षमता काफ़ी कम हो गयी थी जिसके कारण उसे कभी-कभी चक्कर आ जाता, सिर में दर्द होने लगता और अक्सर बुखार से उसका शरीर जलने लगता। लेकिन बीना बड़ी साहसी औरत थी। उसे सबसे ज़्यादा चिढ़ इस बात पर होती थी कि पुलिस ने उसे मासिक धर्म के दिनों में एक कपड़े का टुकड़ा तक नहीं दिया। जेल के अन्दर भी कोई बेहतर हालत नहीं थी। हज़ारीबाग़ में कभी-कभी महिलाओं के लिए उनके वॉर्ड के दरवाज़े पर गन्दे, जुएँ लगे और पसीने से तरबतर उतारे गये कपड़ों का एक बंडल फेंक दिया जाता था ताकि वे अपने लिए उनमें से कपड़े छाँट लें और उसे धोकर मासिक धर्म के दिनों में इस्तेमाल करें। जमशेदपुर में तो ऐसी भी व्यवस्था नहीं थी। यहाँ औरतें अपनी साड़ी फाड़कर काम चलाती थीं या फटे-पुराने कम्बलों में से कोई टुकड़ा निकाल लेती थीं। इस्तेमाल करने के बाद उन्हीं कपड़ों को वे धोकर सुखा लेती थीं और अगले महीने के लिए रख लेती थीं।

बीना से मेरी जब भेंट हुई उससे कुछ ही दिन पहले उसके पिता की मृत्यु हुई थी। जेल में आने के बाद से उसकी मुलाक़ात अपने परिवार के किसी भी सदस्य

से नहीं हुई क्योंकि वे इतने ग़रीब थे कि जमशेदपुर आने तक का दस रुपया किराया नहीं खर्च कर सकते थे। इसके अलावा मुलाक़ात करने के लिए जेल के फाटक पर घूस के रूप में भी कुछ पैसे खर्च करने पड़ते। बीना के चेहरे के भावों को देखकर ही मैं बता सकती थी कि वह किस समय अपने परिवार के लोगों के बारे में सोचती रहती थी। मौसम में जब भी कोई तबदीली होती तो वह विचार-मग्न हो जाती और सोचती रहती कि फ़सल पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा और फलस्वरूप उसके परिवार के लिए यह सौभाग्य का कारण बनेगा या दुर्भाग्य का यदि खेतों में कुछ काम नहीं रहेगा और वे मुसीबत में पड़ जायेंगे तो उनके सामने स्थानीय सूदखोर महाजन से कर्ज़ के रूप में धान लेने के अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा। महाजन भी शत-प्रतिशत सूद लेने से बाज़ नहीं आएगा। जब तक बीना से मेरी मुलाक़ात नहीं हुई थी मैं किसी भी खुशगवार मौसम या अचानक आये तूफ़ान से बहुत खुश होती थी और इसे जेल की एकरसता से मुक्ति तथा भयंकर गर्मी से छुटकारा समझती थी। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि मौसम की एक सनक से रातों-रात फ़सलें बरबाद हो सकती हैं और लोग कंगाल हो सकते हैं।

मुझसे बात करते समय बीना का मेटिन से चौकस रहना उचित ही था। मेरी साथ की क़ैदियों में मेटिन ही एक ऐसी औरत थी जिसे मैं सचमुच नापसन्द करती थी। वह एक सिल्क की साड़ी पहनती थी जिसका रंग कभी काफ़ी गाढ़ा रहा होगा लेकिन अब धुँधला हो गया था और उसके चिकने गोल-मटोल हाथों में सोने की चूड़ियाँ पड़ी रहती थीं। कमर से लटकती हुई चर्बी साड़ी के ऊपरी सिरे को छूती रहती थी जिसे वह हमेशा अपनी नाभि से नीचे बाँधती थी। उसे देखते ही मुझे लगता था कि यह किसी वेश्यालय की संचालिका है। मेरा सोचना ज़्यादा ग़लत भी नहीं था। शीघ्र ही मुझे पता चला कि वह एक कुटनी थी और जवान लड़कियों को धनी व्यापारियों या धनी किसानों अथवा देश के विभिन्न हिस्सों में स्थित वेश्यालयों को बेचकर काफ़ी पैसे कमाती थी। इस काम में वह और उसकी चार लड़कियाँ शामिल थीं लेकिन लड़कियों का तिजारत करने वाले एक बहुत बड़े जाल का यह एक मामूली हिस्सा थीं। वह ग़रीब घरों की लड़कियों से पहले दोस्ती करती थी और उन्हें अच्छा खाने, पहनने तथा मेहनत-मज़दूरी से बचने का लालच देती थीं और इसके बाद उन्हें अपने जाल में पूरी तरह फँसा लेती थीं। जिन लड़कियों को उसने बेचने की योजना बनायी थी उनमें से तीन को चाईबासा जेल में रखा गया था जहाँ उन्हें तब तक पड़े रहना था जब तक उनका मामला अदालत में नहीं पेश होता और उनके बयान नहीं ले लिए जाते। बाद में दो वर्ष बाद भारत से मेरे रवाना होने के समय तक वह कुटनी तो रिहा हो गयी थी लेकिन वे लड़कियाँ जेल में ही पड़ी रहीं। उन लड़कियों के खिलाफ़ कोई आरोप नहीं थे फिर भी उन्हें लगातार हिरासत में रखा गया। उन दिनों जब भी किसी क़ैदी का जमशेदपुर से चाईबासा तबादला होता तो यह मेटिन लड़कियों के पास चेतावनी देते हुए संदेश भिजवाती कि वे उसके खिलाफ़ किसी तरह का बयान न दें वरना इसका अंजाम बहुत बुरा होगा।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए और दूसरे क़ैदियों के प्रति इस औरत के व्यवहार पर मैं ग़ौर करने लगी, मुझे उससे अधिक-से-अधिक नफ़रत होने लगी। हज़ारीबाग़ जेल में भी मेटिन का यही काम था कि वह नयी क़ैदियों की तलाशी लेती थी और

तलाशी में जो सामान मिलते थे उन्हें लौटा दिया जाता था तथा बहुमूल्य चीज़ों को जेल के ऑफ़िस में जमा कर दिया जाता था, लेकिन इस कुटनी का अपना ही तरीक़ा था। वह नये क़ैदियों के पैसे, तम्बाकू, ज़ेवर, माचिस, रूमाल या कोई भी ऐसी चीज़ जिसे वह बेच सके अथवा अपने ज़खीरे में डाल सके, ज़ब्त कर लेती थी। बाद में मुझे पता चला कि उसने ज़ेवरों सहित अपने शरीर पर जो कुछ भी पहन रखा है उसे या तो वह क़ैदियों को धमकी देकर या चोरी करके अथवा चापलूसी के ज़रिए प्राप्त कर सकी है। महिलाओं पर वह शासन करने के लिए लोहे की एक छड़ अपने हाथ में लिये रहती थी, उन्हें गालियाँ देती थी, मारती थी, उनके राशन चुराकर बेच देती थी और इन सबसे बड़ी बात यह थी जिसकी वजह से उसने काफ़ी दुश्मनी मोल ले ली थी कि वॉर्डरों से वह क़ैदियों की चुगली करती रहती। अनेक बार मैंने देखा कि मेटिन से झूठी-गढ़ी कहानियाँ सुनकर वॉर्डर औरतों को पीटते थे, बाद में मेरे विरोध करने पर सुपरिंटेंडेंट ने वॉर्डरों को आदेश दिया कि वे महिला क़ैदियों को कभी हाथ न लगायें।

शुरू से ही वह इस बात पर असंतुष्ट रहती थी कि बीना और मैं क्यों घंटों एक साथ गुज़ारती हैं। बीना के प्रति उसका व्यवहार इस हद तक अनुचित हो गया था कि मुझे एक दिन उससे कहना पड़ा कि हमारे मामले में वह दखल न दिया करे। उस शाम उसने वॉर्डर को बताया कि मैंने उसे पीटा है। इसमें कोई शक नहीं कि यह एक झूठी शिकायत थी लेकिन क्योंकि वॉर्डर को भी मेटिन के मुनाफ़े में से हिस्सा मिलता था इसलिए यह स्वाभाविक था कि वह मेटिन का पक्ष ले। उसने ऐसा ही किया और सारी कहानी जेलर को सुना दी। दूसरी महिलाओं से मुझे अलग रखने के लिए जो फाटक बना था, और शुरू में मेरे अनुरोध पर जिसे खोल दिया गया था, उसमें फिर ताला बंद कर दिया गया। जो कुछ भी हो अब तक मैं समझ गयी थी कि जेल की मौजूदा परिस्थितियों में अधिक से अधिक मैं यही कर सकती हूँ कि इस बात की इजाज़त माँगूँ कि दिन के समय बीना के साथ मुझे रहने दिया जाये। मैंने सुपरिंटेंडेंट से कहा था कि मैं अपनी कोठरी की सफ़ाई अकेले नहीं कर सकती हूँ, अहाते में झाड़ू नहीं लगा सकती हूँ और इस तरह के कामों के लिए मुझे एक साथी चाहिए। मैं जानती थी कि इस तरह के बहाने में दम होगा क्योंकि सुपरिंटेंडेंट किसी 'पढ़ी-लिखी' महिला से शारीरिक श्रम की अपेक्षा नहीं कर सकता। उसने परिचारिका' के रूप में बीना को मेरे साथ रखने की इजाज़त दे दी। हमें इस बात की परवाह नहीं थी कि सुपरिंटेंडेंट इस काम के लिए कौन-सा नाम दे रहा है। इस अवसर पर अथवा अनेक अवसरों पर जिस सहजता के साथ मैं चालाकी कर जाती, वह मेरे लिए एक बिलकुल अजनबी बात थी। जेल आने से पहले मैं इतनी चालाक नहीं थी लेकिन अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते समय यह एक ज़रूरी हथियार था जिसे अधिकांश क़ैदियों ने शीघ्र ही अपना लिया था।

अब अपेक्षाकृत शांति का वातावरण था, अतः मैंने बंगला के अपने सीमित ज्ञान के आधार पर बीना को पढ़ना-लिखना सिखाना शुरू किया। वह बड़ी तेज़ी से सीखती रही। हमने कुछ चाक खरीदे ताकि पथरीले फ़र्श पर उससे लिख सकें और कागज़ की बचत करें। मुझे बंगला के सारे अक्षरों का ज्ञान तक नहीं था हालाँकि यह पता था कि कौन-सी ध्वनि किस अक्षर को अभिव्यक्त करती है। लेकिन मेरा पढ़ाने का तरीका बहुत अपारम्परिक था जिससे कुछ ही महीनों के अन्दर बीना अपनी माँ को पोस्टकार्ड लिखने लायक हो गयी। यह पोस्टकार्ड कभी निर्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सके। जेल-दफ़्तर के खाते में दर्ज डाक टिकट के पैसे

क्लर्कों की ही जेबों में गये।

वीना एक अत्यंत व्यावहारिक महिला थी। गाँव के जीवन के बारे में मुझको तमाम बातों की जानकारी देने के अलावा उसने बताया कि अल्यूमीनियम की तश्तरियों को बालू लेकर कैसे तब तक रगड़ा जाता है जब तक वे चाँदी की तरह चमकने न लग जायें. लैम्प को किस तरह चमकाया जाता है और साबुन न रहने पर भी कपड़े कैसे साफ़ किये जाते हैं। रात में उसे दूसरी महिलाओं के साथ बंद कर दिया जाता था। लेकिन हमने इस व्यवस्था का स्वागत किया क्योंकि इससे वीना को अन्य क़ैदियों के साथ सम्पर्क बनाये रखने में सुविधा होती थी तथा मैं अपनी पढ़ाई जारी रख सकती थी जिसे दिन में नहीं पूरा कर पाती थी।

हज़ारीबाग़ में हमने उन दंगों के बारे में सुना था जिन्होंने १९७० की शरद में जमशेदपूर जेल को हिलाकर रख दिया था। जिन क़ैदियों ने दंगे किये थे उनकी तीन मुख्य शिकायत थीं—जलों में भारी भीड़, पानी की कमी और चिकित्सा सुविधाओं का न होना। अधिकारियों ने स्थिति को शांत करने के लिए वायदा किया था कि ये माँगें पूरी हो जायेंगी लेकिन उलटे उन्होंने क़ैदियों के नेताओं का दूसरी जेलों में तबादला कर दिया और फिर सब-कुछ पूर्ववत् हो गया। पुरुषों के विभाग में महिलाओं की ही साइज़ की कोठरी में लगभग एक सौ क़ैदियों को बंद रखा गया था और यहाँ संक्रामक रोगों के फैलने के फलस्वरूप रोज़ कम-से-कम एक लाश जेल से बाहर निकाली जाती थी। दूसरी तरफ़ किसी 'वफ़ादार' क़ैदी को घूस देकर सोने के लिए अपेक्षाकृत आरामदेह जगह तथा खाने के लिए दो आदमियों का खाना मिल सकता था जिसे उन लोगों के राशन में कटौती करके हासिल किया गया था जो गरीब थे और कुछ पैसा नहीं दे सकते थे तथा इतने कमज़ोर थे कि लड़ नहीं सकते थे। जेल में सामानों की सप्लाई करने वाले ठेकेदार के आदमी इन सामानों की जाँच के लिए नियुक्त 'वफ़ादार' क़ैदियों को घूस देते थे ताकि निर्धारित मात्रा से कम मात्रा में सामान होने पर या घटिया क़िस्म का माल होने पर बिना रोक-टोक के अन्दर भेज दिया जाये। कई अवसरों पर मैंने दुर्व्यवहार या अन्याय के खिलाफ़ हज़ारीबाग़ और जमशेदपुर दोनों जेलों में पुरुष क़ैदियों का विरोध करते देखा। बहुधा विरोध का तरीक़ा उनका यह था कि वे छत पर या किसी पेड़ पर चढ़ जाते और तब तक नीचे आने से इंकार करते जब तक उनकी शिकायतें दूर नहीं हो जातीं। लेकिन इसके फलस्वरूप जो सुधार होता था वह बहुत अल्पकालिक साबित होता था और यह व्यवस्था इस पर फिर हावी हो जाती थी।

जमशेदपुर जेल में अपना खाना अलग बनाने की कोई सुविधा नहीं थी और मैंने अपने लिए कोई अलग इंतज़ाम कराने की बजाय सबके साथ ही खाना ठीक समझा। फिर भी यहाँ चूंकि सामान्य तौर पर चाय नहीं दी जाती थी इसलिए मैं अपने लिए एक छोटे प्राइमस स्टोव पर चाय बना लेती थी। जेल का रसोई-घर मेरी कोठरी के सामने दीवार के उस पार था। सवेरे लगभग तीन बजे अक्सर मेरी नींद उस समय खुल जाती थी जब बड़े-बड़े लोहे के पीपों को, जिनमें हमारा चावल पकाया जाता था, लुढ़काते हुए पानी के नल तक लोग ले जाते थे और उससे तेज़ आवाज़ पैदा होती थी। रसोइयों को बहुत सवेरे ही काम शुरू करना पड़ता था क्योंकि रसोईघर की क्षमता इतनी ही थी कि एक बार में जेल के कुछ क़ैदियों की एक-चौथाई संख्या के लिए खाना तैयार किया जा सके। इसलिए थोड़े-थोड़े लोगों के लिए बारी-बारी खाना बनाना पड़ता था। लगभग साढ़े चार

बजे सवेरे आग पर चढ़े बग़ैर धुले चावलों की गंध चारों तरफ़ फैल जाती थी। इसके बाद उबले हुए चावल को रसोईघर के सामने वाले बरामदे में बिछे बोरों पर फैला दिया जाता था जहाँ दस-ग्यारह बजे दिन तक पड़ा रहता था और उस पर मक्खियाँ लगती थीं, धूल जमती थी और चिड़ियाँ उसे खाती रहती थीं।

पतले चावल और अधपकी चपातियों ने मेरी पाचन-क्षमता पर ज़बर्दस्त मुसीबत ढा दी और आने के कुछ ही सप्ताह के अन्दर इस स्थिति ने और जमशेदपुर की गर्मी ने मुझे बिस्तर पर पटक दिया। बुखार से मैं पड़ रही जिसके बाद मुझे पेचिश शुरू हो गयी। मई में गर्मी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। चौबीसों घंटे मैं पसीने में डूबी रहती और इस डर से अपने बालों को नहीं धोती कि वे सूख नहीं पायेंगे। नतीजा यह होता था कि मेरे बाल हमेशा सीधे और चिपचिपाहट से भरे रहते और गर्दन के ऊपर चिपके रहते जिससे घाव बन गये थे। हम सबके शरीर पर गर्मी की वजह से छोटे-छोटे दाने पड़ गये थे। अधिकांश समय मैं बहुत परेशान और चिढ़ी रहती। कुछ देर बैठना और पढ़ना बेहद कठिन काम था—मुझे लगता कि मेरा सर भारी होता जा रहा है और नीचे की तरफ़ लगातार झुकता जा रहा है। एक बार लेट जाने के बाद उठकर बैठना बहुत मुश्किल होता था। गर्मी की वजह से मेरी नसें सूज गयी थीं और ऐसा लगता था कि मेरे रक्त-प्रवाह में वे रुकावट बन रही हैं। शरीर के जोड़ों में लगातार दर्द हो रहा था और अपनी कोठरी तक पहुँचने के लिए दो सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए घुटने मोड़ने में भी मुझे बेहद कठिनाई महसूस हो रही थी। रात में मैं लगभग बिना कुछ पहने पथरीले फ़र्श पर पड़ी रहती और लोहे की भारी बेड़ियों में जकड़े नक्सलवादी बंदियों तथा अपनी दीवार के उस पार बनी कोठरी में ठूँस-ठूँसकर भरे महिलाओं और बच्चों की असह्य स्थिति के बारे में सोचती रहती। उनकी तुलना में मैं ज़्यादा आराम से रह रही थी।

बीना जिस ज़िले की रहने वाली थी, उसी ज़िले के दो नक्सलवादी बंदियों को चेचक निकल आयी थी। अन्य तमाम पुरुष बंदी भी इससे प्रभावित थे लेकिन यह एक करिश्मा ही था कि महिला क़ैदियों पर इसका कोई असर नहीं पड़ा था। हाँ, एक चीज़ से हममें से कोई नहीं बच सका था और वह थी खुजली। अक्सर आधी रात में मेरी नींद टूट जाती और समूचे शरीर को खुजलाना शुरू करती और तब तक मैं दोबारा सो नहीं पाती जब तक अपने बालों का ब्रुश लेकर पागल की तरह से मैं पूरे शरीर पर रगड़ने नहीं लगती। दवा के नाम पर डॉक्टर ने कुछ सफ़ेद गोलियाँ दी थीं जिनसे कोई फ़ायदा नहीं था। दरअसल मैं अंतिम रूप से तब तक ठीक नहीं हो सकी जब तक उस वर्ष जाड़े में मुझे वापस हज़ारीबाग़ नहीं पहुँचा दिया गया और एक उचित मलहम नहीं दे दिया गया। अन्य क़ैदी इतने सौभाग्यशाली नहीं थे। कइयों के शरीर पर ज़हरीले घाव हो गये थे और एक दिन ऑफ़िस में मैंने एक क़ैदी को देखा जिसके पैरों में इतनी सूजन आ गयी थी और इतने ज़हरीले घाव बन गये थे कि उसका चलना-फिरना मुश्किल था। जेलर ने मुझसे बताया कि उनका इलाज करना बेकार है क्योंकि वे 'अपने को साफ़-सुथरा' नहीं रखते। जेल बुरी तरह भरा हुआ था और मैं यह नहीं समझ पाती थी कि साबुन, पानी या बदलने के लिए कपड़ों के बिना यह कैसे आशा की जा सकती है कि कोई अपने को साफ़-सुथरा रख सकेगा।

जून के मध्य में अंततः मेरे सह-प्रतिवादियों को हज़ारीबाग़ से यहाँ बुला लिया गया। कुछ दिनों बाद १९ जून, १९७३ को हम रोज़ की तरह अपने आस-

पास की सफ़ाई करने में और नहाने-धोने में लगे थे कि तभी बेड़ियों की झनझनाहट के बीच नारे लगने की आवाज़ें आयीं और "मारो ! मार डालो !" की चीखती आवाज़ें कानों में पड़ीं। यह सब सुनकर हम लोग सन्न रह गयीं और यह जानने की कोशिश करने लगीं कि बाहर क्या हो रहा है। आवाज़ें हमारे और नज़दीक आती गयीं तथा ऊँची दीवार के उस पार मेरी कोठरी के सामने आकर रुक गयीं। इसके बाद लगभग दस मिनट तक भयंकर चीख़-पुकार और ज़ोर-ज़ोर से मारने की आवाज़ें आती रहीं। हमें एक लड़के की चीखती हुई आवाज़ सुनायी दी, "पानी ! मुझे पानी पिलाओ !" एक दूसरी आवाज़ में घोर आर्तनाद था, "अरे माँ !" वीना और मैं चुपचाप एक-दूसरे की तरफ़ पूछती निगाहों से देखती हुई खड़ी रहीं। अन्य महिलाएँ दौड़कर फाटक के पास इकट्ठी हो गयी थीं ताकि सारा कुछ नज़दीक से देख सकें। हम सबको एक बात के बारे में पक्का यक़ीन था—इस मारपीट का शिकार नक्सलवादियों को बनाया गया है। हमें इसका अंदाज़ा उनके नारों से हो गया था जबकि अन्य महिलाओं को अपने सहज ज्ञान से ही यह पता चल गया था। पीटने की क्रिया पूरी तरह समाप्त हो जाने के बाद ही ख़तरे की घंटी बजायी गयी। ज़ाहिर है कि ऐसा इसलिए किया गया था ताकि बाद में ज़रूरत पड़ने पर जेल के अधिकारी अपनी सफ़ाई में यह कह सकें कि क़ैदियों ने दंगा कर दिया था जिसके खिलाफ़ हिंसा का सहारा लेना पड़ा।

हो-हल्ला शांत हो जाने पर हम अपने छोटे-से अहाते में बेचैनी के साथ इधर-उधर टहलती रहीं। मेरी बेहद इच्छा हो रही थी कि मैं दौड़कर बाहर जाऊँ और देखूँ कि क्या हो रहा है लेकिन मैं दीवारों के अन्दर रहने के लिए मजबूर थी और ऐसा लग रहा था कि मेरा दम घुट रहा है। धीरे-धीरे अलग-अलग कामों से हमारे वॉर्ड में आने वाले क़ैदियों ने फुसफुसाहट भरे स्वरों में बताया कि वॉर्डरों और 'वफ़ादारों' द्वारा छह क़ैदियों को पीटा गया है। एक अभी भी दीवार के पास आम के पेड़ के नीचे बेहोश पड़ा था। दिन में दो बजे कचहरी से लौटने वाली औरतों ने बताया कि उन्हें लगा, जैसे वह मर गया हो।

मैंने महसूस किया कि मारपीट में आगे बढ़कर हिस्सा लेने वाले इन वॉर्डरों को सज़ा देने के लिए मुझे कोई क़दम उठाना चाहिए लेकिन मैं ख़ुद भी उनके चंगुल में फँसी थी। अधिक से अधिक मैं यही कर सकती थी कि उनको पुकारते समय अब तक मैं जिस सामान्य विनम्रता का परिचय दिया करती थी उसे अब रोक दूँ। उस दिन जब चीफ़ हैड वॉर्डर मेरे कमरे में ताला बंद करने आया तो हर बार की तरह उससे दो-चार शब्द बोलने की बजाय मैंने उसकी उपेक्षा की और गला फाड़कर गाते हुए अपनी कोठरी में टहलती रही।

अगले दिन हमें जेल की 'अदालत' में हाज़िर होना था। जेल अधिकारियों ने मेरे सह-प्रतिवादियों को न पेश कर पाने के लिए कुछ बहुत कमज़ोर बहाना बनाया। जेल कार्यालय में बनाये गये उस तात्कालिक 'अदालत' में केवल मुझे पेश किया गया। हमारे वकील भी उस दिन काफ़ी चुस्त थे। जेल के एक हमदर्द कर्मचारी ने हमारे वकील को घटना का विवरण देते हुए बताया था कि जिन छः लोगों को मारा गया था वे हमारे ही मामले के अभियुक्त थे। वकीलों को हमसे मिलने की इजाज़त नहीं दी गयी लेकिन जो कुछ हुआ उसके बारे में स्थानीय समाचारपत्रों को जानकारी दे दी गयी। मैंने जब इस समूची घटना पर विरोध प्रकट किया तो मजिस्ट्रेट एकदम ख़ामोश रहा। मैंने जब अपनी बात पूरी कर ली तो उसने केवल 'अच्छा' कहा और फिर लिखने में मशगूल हो गया।

सुनवाई के बाद मुझे यह पता चल सका कि दरअसल हुआ क्या था। चूंकि बिहार की जेलों में चाय नहीं दी जाती है, इसलिए मेरे सह-प्रतिवादियों को हज़ारीबाग़ में इस बात की इजाज़त दी गयी थी कि वे यदि चाहें तो अपने खर्च से चाय बना सकते हैं, लेकिन जमशेदपुर के जेलर ने ऐसा करने के लिए भी मना कर दिया। इन क़ैदियों में से कइयों ने रात में अपनी कोठरी के बाहर बरामदे में लटक रहे लैम्प के ऊपर बर्तन रखकर चाय बनाने का प्रयोग किया। ड्यूटी पर तैनात वॉर्डर ने जेलर को इसकी सूचना दी और जेलर ने अगले दिन सवेरे डंडों और छड़ों से लैस वॉर्डरों और क़ैदियों के एक दल को निर्देश दिया कि उनको पीटें। इन नक्सलवादी क़ैदियों के पैरों में पहले से बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं फिर भी उनके हाथों में हथकड़ी डाली गयी और घसीटते हुए मुख्य आँगन के बीचोंबीच लाकर खड़ा कर दिया गया ताकि मार पड़ने की आवाज़ समूची जेल में सुनायी पड़ सके और दूसरे क़ैदियों के लिए यह एक मिसाल का काम करे। मुझे यह भी पता चला कि आम के पेड़ के नीचे जो लड़का पड़ा था वह मरा नहीं था बल्कि बेहोश था। उसकी बाँह टूट गयी थी और एक दूसरे लड़के की आँख में गम्भीर चोट आयी थी। यही वजह थी कि जेल के अधिकारी यह नहीं चाहते थे कि वे अदालत में हाज़िर किये जायें।

इस मारपीट की घटना के कई दिनों बाद तक मेरे सर में भयंकर दर्द होता रहा। मुझे जमशेदपुर जेल से, मुझे बंद करने आने वाले वॉर्डर से, मेरी तरफ़ बुरी दृष्टि से देखने वाले और ऑफ़िस में जाने पर हर समय मेरे एक-एक शब्द को ध्यान से सुनने वाले स्पेशल ब्रांच के लोगों से, जेलर से, जिसने मेरी किताबें और काग़ज़ात अपने लड़कों के लिए रख ली थीं तथा जो मेरे आगंतुकों द्वारा लायी गयी हर चीज़ को जो ललचायी दृष्टि से देखता था, बेहद घृणा हो गयी थी। मैं नहीं चाहती थी कि इन लोगों पर मैं निर्भर रहूँ इसलिए प्राइमस स्टोव को जलाने के लिए माचिस माँगने की बजाय मैं चाय पिये बग़ैर रहना ज़्यादा बेहतर समझती थी और वॉर्डर को अखबार के लिए याद दिलाने की बजाय मैं अखबार पढ़े बिना ही काम चला लेने में संतुष्ट रहती थी।

जेल में तीन साल से भी अधिक समय तक रहने के बाद ३० जून, १९७३ को मैंने पहली बार अपने उन पैंतीसों सह-अभियुक्तों को देखा जो उस समय भी हज़ारीबाग़ में ही रख छोड़े गये थे जब कल्पना तथा दूसरों को कलकत्ता भेज दिया गया था। मानसून खत्म होने के बाद की गर्मी और चिपचिपाहट शुरू हो गयी थी। सवेरे छः बजे भी मेरे हाथ पर पसीने की बूंदें चिपकी रहती थीं और साड़ी की चुन्नटें ठीक करते समय साड़ी से ही मैं पसीना सुखा लेती थी। मुक़दमे की सम्भावना में मुझे कोई यक़ीन नहीं था फिर भी एक उत्तेजना में मैं पुरुष क़ैदियों के क्वार्टरों से होती हुई वॉर्डर के पीछे-पीछे अस्थायी अदालत के कमरे की तरफ़ बढ़ रही थी, जिसे अंततः एक डार्मिटरी में बनाया गया था। यह भी हर इमारत की तरह लम्बी पिंजड़े जैसी इमारत थी जिसे फ़र्श से लेकर छत तक इस्पात की जाली लगाकर बीच से विभाजित कर दिया गया था। जाली की एक तरफ़ कुछ मेज़ और कुर्सियाँ रखी हुई थीं और मजिस्ट्रेट के बैठने की जगह बनायी गयी थी। ऊपर बिजली के पंखे चल रहे थे। जाली की दूसरी तरफ़ का हिस्सा बिलकुल खाली था और यहाँ मुझे खड़ा किया गया था। मैंने सींखचों के रास्ते देखा कि इस अहाते के उस पार स्थित ब्लॉक में बनी कोठरियों में से हमारे सह-प्रतिवादी निकलकर एक क़तार में आ रहे हैं। अदालत-कक्ष के बाहर खड़े

एक आम के पेड़ के नीचे वे दो-दो की संख्या में आये और दो 'वफ़ादार' क़ैदियों ने उन्हें पहनायी गयी लोहे की भारी बेड़ियों को छेनी और हथौड़े से अलग किया। सारी बेड़ियों को पेड़ की जड़ के पास एक जगह रख दिया गया ताकि अदालत से वापस आने पर इन्हें पहनाकर कोठरियों में डाल दिया जाये। जैसे-जैसे अदालत-कक्ष में क़ैदियों का एक-एक जोड़ा आता गया मैं इतना समय निकाल सकी कि उनके चेहरे के भावों का अध्ययन कर सकूँ। उनमें से अधिकांश की उम्र बीस वर्ष से भी ज्यादा नहीं थी। बेड़ियों से मुक्त होने का अद्भुत अवसर पाकर वे इधर-उधर टहल रहे थे। उनमें से कुछ ने मुझसे हँसकर संकेत किया। हजारीबाग़ में जिन लोगों के साथ मैं गुप्त रूप से सम्बन्ध बना सकी थी उन्होंने यहाँ अपना परिचय दिया और पहली बार मैं यह जान सकी कि अमुक नाम का व्यक्ति अमुक है। मैंने उस लड़के को पहचाना जिसे अपनी गिरफ़्तारी के बाद मैंने पुलिस स्टेशन पर बुखार से काँपते हुए देखा था। वे सब बड़े साफ़-सुथरे थे और उनका मनोबल काफ़ी ऊँचा था। फिर भी मैं उनके अन्दर की व्यग्रता का अनुमान लगा सकती थी। सुनवाई के बाद उनके पैरों में जब फिर बेड़ियाँ डाली जा रही थीं मैंने वॉर्डर से अनुरोध किया कि मुझे सरसरी तौर पर उस ब्लॉक को वह देखने दे जहाँ मेरे इन साथियों तथा अन्य नक्सलवादी क़ैदियों को रखा गया है। अपनी कोठरी में वापस लौटने के बाद मैंने अपनी डायरी में वह सब लिखा जिसे मैंने देखा था।

वे लोग बड़ी भयंकर स्थितियों में रह रहे हैं। उनके अहाते इतने भयावह और वीरान तथा इतने गंदे हैं जिसकी कोई भी कल्पना कर सकता है—सीमेंट का बना एक आँगन, पानी का एक नल और अँधेरी छोटी कोठरियों की एक कतार है जिसमें उन्हें तालों के अन्दर रखा गया है। एक-एक कोठरी में पाँच-पाँच, छः-छः क़ैदी हैं जिन्हें दिन में चौबीसों घंटे बेड़ियों में रखा जाता है। दिन के समय भी यहाँ अँधेरा रहता है। सींखचेदार फाटक के पास आने पर ही उन्हें कुछ पढ़ने लायक रोशनी मिल सकती है। रात के समय अपनी कोठरियों में रोशनी के लिए उनके पास कोई भी साधन नहीं है। इससे भी बड़ी बात यह है कि इनके साथ एक पागल व्यक्ति को भी बन्द कर दिया गया है फिर भी वे हँसते हैं, हंसी-मज़ाक करते हैं और उन सारी चीज़ों को बड़े आराम से झेलते हैं। उनके अन्दर जीवन्तता है और उमंग है लेकिन उनमें से कुछ के चेहरों पर एक दूसरी ही कहानी लिखी हुई दिखायी देती है। उनकी दो जवान चमकती आँखों के नीचे काले धब्बे पड़ गये हैं, बहादुराना और लापरवाह मुस्कराहट भरे चेहरे के नीचे एक फीकापन है, चेहरे की माँसपेशियाँ खिच गयी हैं। हाथों या पैरों में बेचैनी की झलक है—इन सबसे उनकी सही स्थिति का पता चलता है। शारीरिक तौर पर देखें तो इनमें से सब पर बुरा असर पड़ा है। वे सब दुबले हो गये हैं, चेहरे पर पीलापन छा गया है और किसी न किसी जानी-अनजानी बीमारी के वे शिकार हो गये हैं।
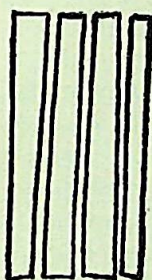
सिपुर्दगी

सिपुर्दगी की कार्यवाही लम्बी खिंचती रही। आखिरकार पुलिस ने आरोप-पत्र पेश कर दिया और मेरे मामले से सम्बन्धित कागजात का एक बंडल मुझे पकड़ा दिया। इनमें मेरी गिरफ़्तारी तक की घटनाओं का वर्णन किया गया था कि किस तरह मैं उन्हें जंगल में घूमती मिली, किस तरह उन्हें मेरे पास से विस्फोटक पर्चे मिले—ये सारी बातें एकदम मनगढ़ंत थीं। मुझपर आरोप लगाया गया था कि मैं उस ग़ैरक़ानूनी भीड़ में शामिल थी जिसने एक पुलिस थाने पर बम फेंके थे और साथ ही यह भी आरोप लगाया था कि मैंने "जानबूझ कर अपने पास पिकरिक एसिड ऐसी परिस्थितियों में रखा था जिससे पर्याप्त रूप से यह संदेह होता है कि यह एसिड किसी वैध इस्तेमाल के लिए नहीं था।" मैंने कभी पिकरिक एसिड का नाम तक नहीं सुना था पर मुझे किंचित् ही संदेह था कि मजिस्ट्रेट पुलिस की इस कहानी पर विश्वास कर लेगा। अभी तक अभियोग पक्ष लगभग इस मामले में मनमानी करता रहा था और २० साल की सजा की जो चेतावनी मुझे दी गयी थी वह अभी मेरी स्मृति में थी।

इसी समय मुझे एक ऐसे व्यक्ति का समर्थन मिला, जिसकी कोई आशा नहीं थी। एक नौजवान वॉर्डर ने मेरे पास चुपके से लिखा कि हालांकि वह एक सरकारी कर्मचारी है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सभी सरकारी विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार और अन्याय के बारे में उसे पता नहीं है। उसे इस बात में काफ़ी संदेह था कि मेरे मामले की निष्पक्ष सुनवाई हो पायेगी और उसने सुझाव दिया था कि यदि मुझे अपनी सफ़ाई पेश करने का कोई मौक़ा मिले तो मुझे पटना या कलकत्ता के किसी अत्यन्त कुशल बैरिस्टर की मदद ले लेनी चाहिए। मैंने अपने धन्यवाद के साथ उसके पत्र का जवाब दे दिया पर यह भी लिख दिया कि मेरे मुक़दमे के फ़ैसले में जितना ज्यादा समय लगने की आशंका है उसे देखते हुए तो मैं कोई लखपती होऊँ तभी बैरिस्टर रख सकती हूँ ताकि उसकी फ़ीस दे सकूं। मुझे इस

बात में भी संदेह था कि कोई तेज़ से तेज़ वकील भी मेरे लिए कुछ कर सकता है। मैंने यही बेहतर समझा कि सारे मामले को अपने तरीक़े से चलने दूँ और यह सोचने में ज़्यादा समय न लगाऊँ कि क्या नतीजा निकलने जा रहा है।

कठघरे के दूसरी तरफ़ की विलम्बकारी कार्यवाहियों पर ध्यान न देते हुए मैं अदालत में अपनी पेशी का इस्तेमाल बंगला बोलने के अभ्यास में और अपने सह-प्रतिवादियों के साथ बातचीत में करती थी। इन राजनीतिक घटनाक्रमों पर विचार-विमर्श करते और हज़ारीबाग़ के तीन वर्षों के अनुभवों की तुलना करते अपने सह-अभियुक्तों से हर मुलाक़ात के बाद उनके प्रति मेरा सम्मान बढ़ जाता। अपने साथी क़ैदियों के प्रति उनका व्यवहार बहुत विचारशील था और अधिकारियों के प्रति वे बहुत विनम्र थे फिर भी बेहद निर्भीक थे। वे हमेशा मेरे स्वास्थ्य और हालचाल के बारे में जानने के लिए उत्सुक रहते थे और ज़रूरत के समय अपनी मदद के लिए प्रस्तुत थे। भारत के सर्वोत्कृष्ट युवा वर्ग के अन्दर आत्म-बलिदान की भावना और लगन तथा जनता की भलाई के लिए काम करने की उनकी वास्तविक उत्कट इच्छा को देखकर कलकत्ता आने के शुरू के दिनों में मैंने जो उत्साह महसूस किया था, उसे एक बार यहाँ फिर नये सिरे से मैंने महसूस किया।

बावजूद इस तथ्य के कि नक्सलवादी होने के संदेह में हज़ारों लोगों को मारा जा चुका है और गिरफ्तार किया गया है और हम लोग खुद रिहा होने की किसी आशा के बिना जेल में पड़े हुए हैं. मैंने फिर यह महसूस किया कि भारत का भविष्य ऐसे ही लोगों के हाथों में है जो ईमानदार हैं, भ्रष्टाचार से दूर हैं, जाति और वर्ग के विद्वेषों से मुक्त हैं तथा देश की रीढ़ यानी दलित वर्ग के साथ तादात्म्य स्थापित करने में सक्षम हैं।

ब्रिटिश अधिकारियों का बीच-बीच में आना जारी रहा पर वे अदालती कार्यवाही को तेज़ कराने की दिशा में कुछ भी करने में असमर्थ थे। मेरे दोस्त और रिश्तेदार यह समझ नहीं पा रहे थे कि मेरे ऊपर मुक़दमा चलाने में देर क्यों हो रही है। मुझे जमशेदपुर ले जाये जाने पर उन्होंने आशा की थी कि जल्दी ही मेरे मुक़दमे का फ़ैसला हो जायेगा। अपने माँ-बाप के उलझन और निराशा भरे पत्रों को पाकर मैं बेचैन हो उठती थी क्योंकि उनको वास्तविक स्थिति से अवगत कराना असंभव था। एक दिन सवेरे मेरे वकील ने मुझे बताया कि ब्रिटिश समाचारपत्रों ने अपनी खबरों में बताया कि मुझे आजीवन कारावास हो गया है। यह सोचते हुए कि इस खबर का मेरी माँ के स्वास्थ्य पर कितना बुरा असर पड़ेगा, मैंने उससे फ़ौरन एक पत्र लिखने को कहा हालाँकि मुझे बड़ी धुँधली-सी उम्मीद थी कि यह पत्र मेरे घर तक पहुँच पायेगा और हुआ भी वही—वह पत्र इंगलैण्ड नहीं ही पहुँच सका।

बाद में मुझे पता चला कि उच्चायोग के लोगों का खयाल है कि अपने साथी अभियुक्तों के साथ मुक़दमा चलाए जाने का अनुरोध करके मैंने अपने ऊपर अलग मुक़दमा चलाए जाने के प्रस्ताव को 'नामंजूर' किया है और इस प्रकार अपने पहले के रुख से मुकर गयी हूँ। मैं यह नहीं समझती कि 'स्वेच्छापूर्वक स्वदेश वापसी' और 'अलग से मुक़दमा चलाये जाने' का प्रश्न किसी भी रूप में एक है। दर-असल उनका प्रस्ताव यह था कि यदि मैं इंगलैण्ड वापस जाने के लिए राज़ी हो जाऊँगी तो मेरे ऊपर लगाए गए आरोप वापस ले लिए जायेंगे। अलग से मुक़दमा चलाए जाने के लिए मुझे जमशेदपुर ले जाने की घटना कम से कम मेरे लिए

एकदम अप्रत्याशित थी जिससे खासतौर से 'अपराध कबूल करने' की पुलिस की माँग को ध्यान में रखकर देखें तो सारी स्थिति पर एक नयी रोशनी पड़ती थी। यहाँ तक कि हज़ारीबाग़ से अपने सह-प्रतिवादियों को जमशेदपुर बुलाए जाने के सिलसिले में मैंने जो अर्ज़ी दी थी, उसका भी यह क़तई अर्थ नहीं होता था कि मैं मुक़दमे से 'इन्कार' कर रही हूँ। लेकिन अधिकारियों की निगाह में इन सारी बातों से एक ही नतीजा निकलता था कि मैं हठी हूँ। दुर्भाग्यवश मेरी खातिर ब्रिटेन के मित्रों द्वारा की जा रही कोशिशों के लिए भी यह रवैया अत्यन्त असुविधाजनक साबित हुआ। मेरी मदद के लिए जो कोई विदेश कार्यालय से सम्पर्क करता उसे एक घिसा-पिटा जवाब मिल जाता कि मैंने अलग से मुक़दमा चलाए जाने की बात नामंज़ूर कर दी है और इस प्रकार जल्दी रिहा होने की सम्भावना नष्ट कर दी है। उन्होंने कभी झूठी 'स्वीकारोक्ति' के मसले को ध्यान में नहीं रखा।

मेरी मित्र आयरिश मार्क्स एक बार फिर मुझसे मिलने आयीं और मुझे उन्हें यह बताने का मौक़ा मिला कि मेरे मुक़दमे में देर क्यों हो रही है। इंग्लैण्ड वापस लौटने पर उन्होंने मेरे अन्य मित्रों से भी ये बातें बतलायीं और उन्होंने अंतत: महसूस किया कि निकट भविष्य में मुक़दमा चलाये जाने की कोई सम्भावना नज़र नहीं आती। वे भारत में राजनीतिक बंदियों के समूचे मसले के प्रति समाचारपत्रों की दिलचस्पी पैदा करने के काम में लग गयीं। हालांकि उन्हें अपने इन प्रयासों में कई अड़चनों और निराशा का सामना करना पड़ा लेकिन उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि वे अपना प्रयास छोड़ेंगे नहीं। वे अपनी कोशिश में लगे हैं—इस तथ्य को उनके सफल होने के बारे में मेरे अन्दर कोई आशा पैदा करने की बजाय मेरे मनोबल को ही ज्यादा बढ़ाया। भारत में भी हमारे लिए कोशिशें की जा रही थीं। अमलेन्दु के परिवार ने तो श्रीमती गांधी को भी एक पत्र लिखा था और उन्हें एक आश्वासन भरा जवाब प्राप्त हुआ था कि 'आवश्यक' क़दम उठाये जायेंगे। इसके बाद इस सिलसिले में कुछ भी सुनने को नहीं मिला।

समाचारपत्रों ने हमारे मामले में फिर दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी लेकिन यह घटनाओं का कोई अनुकूल विकास नहीं था। लंदन के एक दैनिक पत्र ने एक पत्रकार का लेख प्रकाशित किया जिसने मुझसे बातचीत करने का दावा किया था लेकिन वास्तविकता यह थी कि इस पत्रकार से मेरी कभी भेंट भी नहीं हुई थी। गार्जियन के संवाददाता वाल्टर स्वार्ज़ ने जमशेदपुर आने की तकलीफ़ उठायी लेकिन मुझसे मिलने की इजाज़त उसे नहीं मिल सकी। फिर भी वह पर्याप्त जानकारी इकट्ठा कर सका ताकि काफ़ी विस्तार से लिख सके। मुझे लगा कि सारे पत्रकारों में वही एक ऐसा था जो यह समझ सका कि मैं क्यों नहीं अलग से मुक़दमा चलाये जाने के पक्ष में हूँ। अन्य तमाम पत्रकारों में कुछ ने तो मेरे व्यक्तिगत जीवन और मेरी वेषभूषा पर ही लम्बे-लम्बे लेख लिखने में समय लगाया। कुछ का रवैया तो खुले तौर पर शत्रुतापूर्ण था। एक पत्रकार ने, जिसे मैंने अपनी तस्वीर खींचने की इजाज़त नहीं दी थी, खासतौर से बड़ा गन्दा लेख लिखा था जिसमें मुझे इस रूप में चित्रित किया गया था कि मैं बड़ी बेरहमी से आतंकवाद की हिमायत करती हूँ। लेकिन इस ग़लतबयानी के बावजूद इस लेख से मुझे फ़ायदा ही हुआ। उस लेख से यह जानकर कि स्थानीय जेल में मैं पड़ी हूँ, शहर का एक अमरीकी पादरी मुझसे मिलने की अनुमति प्राप्त करने के बाद मेरे पास आया। मेरे धर्म-परिवर्तन की न्यून सम्भावना को देखते हुए उसका रवैया बहुत उदारतापूर्ण था और उसने फल तथा मिठाइयों के उपहार से मुझे मुग्ध तो कर

ही दिया—सबसे बड़ी बात यह हुई कि उसने विभिन्न पुस्तकालयों से मेरे लिए पुस्तकें ला दीं।

धीरे-धीरे स्थितियाँ फिर सामान्य हुईं और मैं दूसरी महिला क़ैदियों से बात-चीत करने लगी। हज़ारीबाग़ की ही तरह यहाँ भी अधिकांश 'अंडर ट्रायल' थीं और उन्हें किसी मजिस्ट्रेट को देखने तक की आशा नहीं थी। अक्सर हर पन्द्रह दिन पर उन्हें ट्रकों में भरकर स्थानीय अदालतों में ले जाया जाता था जहाँ ये औरतें दिन भर बरामदे में बैठी रहती थीं और महिला वॉर्डर इतनी निगरानी करती रहती थीं जबकि पुरुष बंदियों को अदालत के लॉकअप में डाल दिया जाता था जहाँ के भीड़ भरे दमघोंट वातावरण में वे अक्सर बेहोश हो जाते थे। लेकिन इस दुर्दशा से बचने के भी उपाय थे। आमतौर से पहरे पर तैनात सिपाही तीन रुपये के बदले में एक व्यक्ति को दो घंटे के लिए खोल देता था—पाँच रुपये देने पर चार घंटे के लिए उस दमघोंट वातावरण से निजात मिल जाती थी। जो रिश्तेदार अपने सम्बन्धी क़ैदियों से मिलने आते थे उन्हें सिपाही को दो रुपये देने पड़ते थे—कुछ और पैसे देने पर उन्हें अपने क़ैदी तक खाना पहुँचाने की रियायत मिल जाती थी। जिस समय की यह बात है उस समय भारत में एक अकुशल मजदूर की औसत दैनिक मजदूरी तीन से चार रुपये तक होती थी।

अपना मामला जल्दी निपटवाने के भी तरीक़े थे। छोटे-छोटे अपराध के मामले में सबसे अच्छा तरीक़ा यह था कि बीस रुपये निकालकर कोर्ट के क्लर्क को दे दिये जायें ताकि मजिस्ट्रेट के सामने मामला पहुँच जाए, फिर और ज़्यादा देर से बचने के लिए अपना अपराध कबूल ले। घिसे-पिटे तरीक़े से मजिस्ट्रेट के सामने मामला पेश होने में और सुनवाई शुरू होने के इन्तज़ार में जितने दिन जेल में रहना पड़ता, उससे जल्दी अपराध क़बूल कर सज़ा काटकर जेल से बाहर आया जा सकता था। एक औरत पर एक जवान लड़की को भगाने और फिर उसे बेचने का आरोप था, लेकिन वह मामले के इंचार्ज पुलिस अफ़सर, अदालत के क्लर्क और स्वयं जज को दो हज़ार से भी अधिक रुपये देकर अपना मामला जल्दी निपटाने में सफल हो गयी और जुर्म से बरी हो गयी।

हीरा नाम की संथाल जनजाति की एक बेहद ख़ूबसूरत नौजवान औरत थी, जिसे मैं बहुत पसन्द करती थी। वह बहुत शालीन, भव्य और उदार थी। कोमल और चौड़े शरीर वाली इस लम्बी-इकहरी औरत के समूचे रूप में एक अद्भुत नैसर्गिक आभा थी। वह कभी हँसती नहीं थी हालाँकि कभी-कभी एक संकोच भरी मुस्कान उसके अधरों पर फैल जाती थी। वह ऐसे धर्म-संकट में फँसी थी जिसका प्रत्यक्षत: कोई समाधान नहीं था। बग़ैर इस इंतज़ार के कि ग़रीबी में बसर कर रहे घर वाले उसकी शादी ठीक करें, वह अपनी जाति के एक नौजवान लड़के के साथ रहने लगी। लड़के के माँ-बाप उसकी शादी किसी धनी घर में करना चाहते थे इसलिए इस घटना के पहले दिन से ही वे असंतुष्ट रहने लगे और उन्होंने जान-बूझकर लड़के की शादी कहीं और तय कर दी। इस बीच हीरा गर्भ-वती हो चुकी थी और पड़ोस की एक औरत जब-तब उस पर ताने मारा करती थी कि उसका प्रेमी जल्दी ही उसे घर से निकालकर फेंक देगा। एक दिन इसी बात पर काफ़ी तू-तू, मैं-मैं हो गयी, हीरा ने उस बूढ़ी औरत को मार दिया और वह बुढ़िया मर गयी। इसके बाद हीरा हत्या के आरोप में जेल में डाल दी गयी।

गिरफ़्तारी के कुछ ही दिनों बाद हीरा को एक लड़का पैदा हुआ लेकिन इस बीच हीरा के प्रेमी पति की शादी उसके माँ-बाप ने अपनी मर्ज़ी की लड़की से कर

दी थी। गाँव की रीति के अनुसार उसे हीरा के बच्चे का पितृत्व स्वीकार करना चाहिए था लेकिन उसके परिवार के लोगों ने गाँव की पंचायत को कुछ पैसे देकर उसे इस ज़िम्मेदारी से मुक्त करा लिया। हीरा के भाई उसकी मदद करना चाहते थे लेकिन हीरा की ज़मानत लेने में डरते थे क्योंकि गाँव के बड़े-बूढ़ों ने उनकी बहन को कुजात घोषित कर दिया था और ज़मानत लेकर के वे गाँव वालों को नाराज़ नहीं करना चाहते थे। यदि गाँव के इस फ़ैसले का वे उल्लंघन करते तो उन्हें ख़ुद भी जाति से बहिष्कृत होने की सज़ा भुगतनी पड़ती और ऐसा होने पर अपनी जीविका से भी हाथ धो बैठने की आशंका थी। वे बीच-बीच में उससे मिलने आते थे, और गाँव की परम्परा के दायरे में रहते हुए अपने भरसक वे पूरी मदद करते थे, पर परिवार के एक सदस्य के लिए समूचे परिवार को तबाह करने का ख़तरा मोल लेना नहीं चाहते थे। इसलिए हीरा से उन्हें अपने को वंचित करना पड़ा था।

मेरी कोठरी में अक्सर आने वाली औरतों में एक और औरत थी जिसका नाम था गुलाबी। उसकी उम्र लगभग पचास साल थी और वह देहात की रहने वाली थी। दूसरी औरतें उसे आमतौर से 'गुलाबी बुढ़िया' कहकर सम्बोधित करती थीं क्योंकि उनके पैमाने से अब उसकी उम्र काफ़ी हो चुकी थी। मेरे जमशेदपुर पहुँचने के कुछ ही सप्ताह पूर्व उसे एक वॉर्डर ने मार दिया था जिससे वह ज़ोर से गिर पड़ी थी और उसके कंधे की हड्डी खिसक गयी थी। जेल में दर्द से छुटकारा पाने की कोई सम्भावना नहीं थी। गुलाबी के परिवार के लोग बेहद गरीब थे और वह जानती थी कि उनसे यह आशा करना बेकार है कि वे उसकी ज़मानत के लिए पैसे इकट्ठे कर पायेंगे। इसलिए वह अपनी ही कोशिशों पर निर्भर करती थी और अपना तेल तथा साबुन आदि बेचकर एक-एक पैसा बचाती थी ताकि घूस दे सके। दुर्भाग्यवश मामले निपटाने की कीमत जिस दर से बढ़ रही थी, उस दर से वह पैसे नहीं इकट्ठे कर पा रही थी। बाद में जब मैं जमशेदपुर से रवाना हुई, उस समय भी उसने जेल में तीन वर्ष गुज़ार लिये थे और एक बार भी मजिस्ट्रेट के सामने पेश नहीं हुई थी।

अन्य तमाम क़ैदियों की तरह वह भी बिलकुल बेगुनाह थी। वह चार मज़दूरों के साथ एक ज़मींदर के खेत में धान काट रही थी और उसे यह पता नहीं था कि इस ज़मीन के मालिक का उसके चचेरे भाई से झगड़ा चल रहा है और यह विवादास्पद ज़मीन है। नतीजा यह हुआ कि झगड़े के दूसरे पक्ष ने पुलिस की मदद ली और इन चारों मज़दूरों को धान चुराने के आरोप में गिरफ़्तार करा दिया। साथ में वह व्यक्ति भी गिरफ़्तार हुआ जिसने इन्हें काम पर लगाया था। मज़े की बात यह है कि ज़मीन के दोनों मालिकों ने अपने झगड़े सुलझा लिये और गुलाबी को जिसने काम पर लगाया था वह तो रिहा हो गया लेकिन सारे मज़दूर जेल में ही पड़े रहे। जब मैं भारत से रवाना हुई तब तक गुलाबी जेल में लगभग तीन वर्ष काट चुकी थी। उसने फटे-पुराने कपड़ों के टुकड़ों को इकट्ठा किया था और उनमें किसी तरह 'पैबन्द' लगाकर अपनी पोती के लिए जमा कर रखा था। दरअसल ये कपड़े एकदम फटे-पुराने थे। पहनने लायक कोई भी चीज़ जेल से बाहर ले जाने के लिए मेट्रिन कभी इजाज़त नहीं देती।

जैसे-जैसे शरद ऋतु निकट आती गयी और धान काटने का समय पास आता गया गुलाबी बहुधा यही बताया करती कि इस मौसम में यदि वह जेल से बाहर होती तो अपने परिवार वालों के लिए कुछ पैसे कमा लेती। लेकिन यदि ज़िदा

रहते जेल से रिहा हो भी गयी तो उसके शरीर में इतनी ताक़त नहीं रह जायेगी कि वह खेतों में फिर काम कर सके या पास के गाँव में बेचने के लिए जंगल से लकड़ी इकट्ठा कर सके। अपना एक हाथ बेकार हो जाने की वजह से वह अपनी साड़ी तक नहीं धो सकती और इस प्रकार अपने लड़कों पर वह एक और बोझ ही बन जायेगी।

हज़ारीबाग में मैंने सबसे पहले किसी लाश को देखा था। यहाँ सितम्बर १९७३ में मैंने सबसे पहले इतने निकट से कोई बच्चा पैदा होते देखा। उस दिन सवेरे मेरी कोठरी का दरवाज़ा ज्यों ही खोला गया और मैं बाहर आयी तो मुझे खून से लथपथ चादर दिखायी दी। बच्चा पैदा होने के सिलसिले में मैंने अब तक जितनी कल्पनाएँ की थीं उनसे इसका कोई मेल नहीं बैठता था। क़ैदियों में से एक महिला को कुछ ही मिनट पहले एक लड़की पैदा हुई थी। अब माँ दीवार की टेक लेकर खड़ी थी, उसके कपड़े कमर के गिर्द लिपटे हुए थे, शरीर पसीने में डूबा हुआ था और पैरों से होता हुआ खून वह रहा था। उसके चारों तरफ़ फ़र्श पर खून, गंदगी और खेड़ी फैली हुई थी। कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दू लोग प्रसूति के काम को गंदा काम समझते हैं और इसके लिए वे हरिजनों के एक वर्ग चमारों के घर की औरतों को नियुक्त करते हैं। क़ैदियों में इस जाति का कोई नहीं था लेकिन मेटिन के अन्दर इतनी बुद्धि थी कि वह बच्चा पैदा होने के ठीक मौक़े पर उस औरत की मदद कर सकी। फिर भी अब उस नवजात शिशु को छूने और सफ़ाई के काम में मदद करने में सब लोग हिचकिचा रहे थे। वीना और मैंने अपने भरसक पूरी मेहनत से सफ़ाई की हालाँकि न तो हमारे पास सफ़ाई के लिए कोई चीज़ थी और न कोई कपड़ा था, जिसमें हम बच्चे को लपेट पातीं। इस बीच पुरुष क़ैदियों द्वारा महिलाओं के लिए नाश्ता लाया गया और वे क़ैदी दीवार के सहारे खड़ी उस औरत पर या चारों तरफ़ बिखरे खून पर निगाह डाले बग़ैर हर रोज़ की तरह मटर के दाने और शीरे बाँटते हुए तेज़ी से बाहर निकल गये। इसके बाद डॉक्टर आया। चूँकि वह एक कट्टर ब्राह्मण था इसलिए मां या बच्चे को छूकर वह खुद को 'अपवित्र' नहीं करना चाहता था लेकिन साथ के पुरुष क़ैदी को उसने कुछ हिदायतें दीं और चला गया। मुझे यक़ीन है कि उस बेचारे क़ैदी को अपने जीवन में पहली बार इस तरह का काम करना पड़ रहा होगा। वस्तुतः उसे दवा आदि के बारे में कोई जानकारी नहीं थी लेकिन चूँकि वह गिने-चुने शिक्षित क़ैदियों में से था, इसलिए उसे अस्पताल का इंचार्ज बना दिया गया था। अस्पताल के नाम पर एक छोटी-सी कोठरी थी जिसमें एसपिरिन तथा कुछ अन्य दवाइयाँ रखी हुई थीं जो गंभीर रूप से बीमार क़ैदियों को दी जाती थीं।

उस वर्ष मानसून देर से आया। आमतौर से जून में बारिश हो जाती है ताकि धान की बुआई और रोपाई का काम किया जा सके लेकिन उस साल सितम्बर में बारिश हुई और उसने पकी फ़सलों को नष्ट कर दिया। सारे दिन हम लोग अपनी कोठरी में चुपचाप बैठी रहतीं और बारिश का पानी छत से टपकता रहता; यदि हवा चलती होती तो दरवाज़े की सलाखों से पानी के झोंके बार-बार अंदर आ जाते। उन दिनों हमें हर रोज़ देर से खाना मिलता था और हम घंटों भूखे-प्यासे खाने का इंतज़ार करते रहते और पेट में उठ रही हूक के अलावा दूसरी किसी चीज़ के बारे में सोच भी नहीं पाते थे। बारिश की वजह से दर्जनों की संख्या में चूहे अपने बिलों से बाहर निकलकर इधर-उधर भागते और

नौजवान क़ैदी हँसते-चीखते हुए कीचड़ के बीच उन्हें दौड़ाते रहते। कुछ आदि-वासियों और हरिजनों में चूहे का माँस काफ़ी स्वादिष्ट व्यंजन माना जाता था और हम जो चूहे पकड़ती थीं, उन्हें प्रोटीन के लिए लालायित हमारे साथी क़ैदी आग पर पकाकर खा जाते थे। वे मुझसे भी चखने को कहते और बताते कि चूहे शाकाहारी भोजन में आते हैं और इनके खाने से कोई नुकसान नहीं होता। एक दिन मैंने भी कुछ टुकड़े लेकर चख लिये और इसके स्वाद में तथा मेंढक की टाँगों से बने व्यंजन में या खरगोश के माँस में मुझे कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं लगा। मेंढक की टाँगों का स्वाद मैंने एक बार फ्रांस में लिया था।

बरसात के उन दिनों में मैं घंटों बीना के साथ बैठी रहती और उसकी अतीत की ज़िन्दगी की कहानियाँ सुनती रहती। वह मुझे बताती कि किस तरह धान बोने के मौसम में वह सवेरे से शाम तक खेतों में काम करती थी, गाँव के पोखर में नहाती थी और नहाने के बाद उसी गीली साड़ी को पहन लेती थी जिसे उसने कुछ देर पहले साफ़ किया था। इसके बाद वापस घर लौटकर दिन-भर की कमाई में मिले चावल को पकाती थी। आधा चावल उसी रात खा लिया जाता था और आधा अगले दिन सवेरे के लिए बचाकर रख लिया जाता था। जब वह बिस्तर पर जाती तो दिन-भर घुटने तक कीचड़ भरे पानी में खड़ी रहने के कारण वह थककर चूर हो गयी रहती। हाथ सूजे रहते और समूचा बदन दर्द से टूटता होता। बरसात के दिनों में चूंकि बदलने के लिए कोई दूसरा कपड़ा नहीं होता था इसलिए बारिश का पानी दिन भर उसके बदन में सूखता रहता। यह किसी एक दिन की कहानी नहीं थी बल्कि रोज़-बरोज़ और साल-दर-साल यह दुख और यातना भरी कहानी चलती रहती।

बीना से मुझे पता चला कि गिरफ़्तार होने से पहले गाँव की स्थिति के बारे में मैंने जो कुछ पढ़ा था वह अक्षरशः सच था। गाँवों में स्थानीय ज़मींदारों के पास ही हमेशा इतना पैसा होता था कि वे कर्ज़ दे सकें। बीना के इलाक़े के ये ज़मींदार सौ प्रतिशत सूद लेते थे। कभी-कभी अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोगों को सरकार की ओर से कर्ज़ बाँटा जाता था पर यह वितरण भी गाँव के एक मुखिया के ज़रिये होता जिसे लगभग निरपवाद रूप से ज़मींदार नामज़द करता था। वह क़र्ज़ का एक काफ़ी बड़ा हिस्सा अपने पास रख लेता और साल के जिस महीने में धान सस्ता होता वह इसके बदले धान ले लेता। ज़मींदार के कर्ज़ के बोझ से जो अभागे दबे रहते थे उन्हें शायद ज़िन्दगी भर ज़मींदार के लिए बंधुआ मज़दूर के रूप में काम करना पड़ता था। जो किसान अगली फ़सल होने के वायदे पर कर्ज़ लिये रहते थे वे जब अपनी फ़सल काटने जाते तो ज़मींदार के आदमियों को खेत पर मौजूद पाते—वे खेत से ही अपना हिस्सा वसूल ले जाते थे। बटाईदार के रूप में काम करने वालों को खुद ही हल-बैल, बीज, खाद आदि का इंतज़ाम करना पड़ता था और फिर भी फ़सल का आधा या दो-तिहाई हिस्सा ज़मीन के मालिक को देना पड़ता था। अपने ज़िन्दा रहने के लिए गाँव के लोगों के एक बहुत बड़े हिस्से को ज़मींदारों और सूदखोरों पर निर्भर रहना पड़ता था और यह देखकर मुझे ऐसा लगता था कि गाँव पंचायतों या राज्य व केन्द्र की सरकारों के लिए होने वाले चुनाव एक औपचारिकता मात्र हैं जिनमें उन तत्त्वों का बना रहना लाज़िमी तौर पर ज़रूरी होता है जिनके पास आर्थिक शक्ति का नागफाँस है।

१९७२ में फ़सल बर्बाद हो गयी थी और जिस समय हम देर से खाना मिलने

पर अधीर हो जाते थे और शिकायत करते थे, उस समय भारत में उस वर्ष बीस करोड़ लोग अकाल की कगार पर खड़े थे। गेहूँ काफ़ी पहले से ही बाज़ार से 'ग़ायब' हो गया था और केवल काला बाज़ार में अधिक दाम पर उपलब्ध था। चावल का दाम कुछ ही महीनों के अन्दर दुगुना हो गया था। सरकार बार-बार इस बात पर ज़ोर देती थी कि यह अभाव वास्तविक नहीं है लेकिन इससे उन लोगों को कोई राहत नहीं मिल रही थी जो भुखमरी की आशंका से ग्रस्त थे। काफ़ी बड़े पैमाने पर हैज़ा, चेचक, मलेरिया और मस्तिष्क-शोथ फैला हुआ था और आमतौर पर इसके शिकार वही लोग होते थे जो न उचित भोजन, न दवाएँ और न मच्छरदानियाँ जुटा सकते थे।

फिर भी भारतीय जनता यह सारा कष्ट चुपचाप नहीं झेल रही थी। देश एक उफनते हुए कड़ाहे की तरह था जिसका उबाल रोकने के लिए सरकार किसी जादूगर की तरह कड़ाहे को हिलाती जा रही थी पर अन्दर की आग बुझाने में वह असमर्थ थी। अनाज, पानी और ईंधन—सब चीज़ का संकट था। महाराष्ट्र के अनेक शहरों में खाद्यान्नों को लेकर दंगे हुए थे, बिहार के ताप-बिजली घर में हड़ताल और तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ हुई थीं तथा परिवहन एवं स्थानीय सरकार के कर्मचारियों, कारखाना मज़दूरों, टैक्सी ड्राइवरों और डाक-कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी थी। अखबारों में छपी खबरों के अनुसार ज़मींदारों के अनाज के गोदामों पर हमले हुए थे और उनकी रक्षा के लिए आयी पुलिस पर भी प्रहार किये गए थे। अनेक स्थानों पर अनाज की दूकानें लूट ली गयी थीं। जमशेदपुर में ही दर्जनों छात्रों को उस समय गिरफ़्तार किया गया जब वे ज़बर्दस्ती अनाज के गोदामों में घुसकर अनाज निकालकर भूखे लोगों के बीच बाँट रहे थे। कई बार ऐसा हुआ कि दूकानदारों ने विरोध प्रकट करने के लिए पूरा बाज़ार ही बन्द कर दिया। अखबारों में लगभग रोज़ ही नक्सलवादी गतिविधियों की खबरें छपती थीं। पूर्वी भारत के सभी राज्यों के पुलिस इंस्पेक्टर जनरलों की एक बैठक हुई जिसमें आन्दोलन के इस उभार पर विचार-विमर्श किया गया। कांक्से में आदिवासी लोगों ने कुछ बड़े भूस्वामियों के अनाज और ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया। कलकत्ता के पास पुलिस के एक शिविर से हथियार छीन लिये गये। 'स्टेट्समेन' ने एक खबर प्रकाशित की कि धनबाद की कोयला खानों में नक्सलवादियों की घुसपैठ से सरकार काफ़ी चिंतित है—बताया जाता है कि हज़ारों की संख्या में नक्सलवादियों ने खुद को कोयला मज़दूरों के बीच इस तरह मिला लिया था कि उनमें और मज़दूरों में भेद कर पाना कठिन हो गया था।

सरकार के अपने खेमे में भी काफ़ी संकट पैदा हो गया था और वह परेशानी की स्थिति में थी। उस वर्ष मई में देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश में पी० ए० सी० ने विद्रोह कर दिया, राज्य के ११ शहरों में हथियारखानों पर कब्ज़ा कर लिया और विद्रोह को कुचलने के लिए भेजी गयी सेना से उनकी मुठभेड़ हुई। लड़ाई में ३७ लोग मारे गए। पुलिस के अनेक कर्मचारी अपने हथियारों सहित भाग गये और महीनों बाद तक उनका पता नहीं लग सका। पी० ए० सी० विद्रोह का नतीजा यह हुआ कि राज्य सरकार को इस्तीफ़ा देना पड़ा। बिहार में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के अंदरूनी झगड़े के कारण मेरी गिरफ़्तारी के बाद से अब तक पाँचवीं बार सरकार बदली। गुजरात के मुख्यमंत्री ने इस्तीफ़ा दे दिया और उत्तर प्रदेश में भी राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया। मध्यप्रदेश में भी सरकार गिरने ही वाली थी। बंगाल में कांग्रेस दल के भीतरी संघर्ष के फलस्वरूप कुछ ही

महीनों के अन्दर हत्याएँ हुईं।

शरद आते-आते देश भयंकर उथल-पुथल की चोट में आ चुका था—जगह-जगह अनाज और कोयले के लिए दंगे हुए थे, हड़तालें और प्रदर्शन हो रहे थे, पुलिस और जनता के वीच कई वार मुठभेड़ें हो चुकी थीं, औद्योगिक संस्थानों में कामकाज ठप्प पड़ गया था और कहीं सरकार में फूट पड़ रही थी तो कहीं कोई सरकार इस्तीफ़ा दे रही थी। केन्द्र सरकार के शांति-प्रयासों, वायदों और प्रति-वादों, संसद में कभी न खत्म होने वाली वहसों का जनता की जरूरतों से कहीं दूर का भी संबंध नहीं था। लेकिन उस वर्ष युगोस्लाविया और कनाडा की अपनी यात्रा के दौरान श्रीमती गाँधी 'अहिंसा', 'मानवता' और 'जनतंत्र' की वातें करने से वाज़ नहीं आयीं और शंकालुओं को इस आश्वासन के साथ शांत कर दिया कि शीघ्र ही भारत में सारा कुछ सुचारु ढंग से होने लगेगा। देश के अन्दर उन्होंने एक बार फिर मज़दूरों से अनुरोध किया कि स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए वे हड़ताल का अपना अधिकार छोड़ दें।

सितम्वर में चिली में हुए सैनिक विद्रोह के बाद भारत सरकार यह चेतावनी देने लगी कि उसके खिलाफ़ भी सी० आई० ए० इस तरह का हमला कर सकता है, लेकिन जब संयुक्त राष्ट्र में चिली की सैनिक-जुंटा की भर्त्सना करने तथा राजनीतिक बंदियों को रिहा करने से सम्बन्धित प्रस्ताव पर मतदान का समय आया तो भारत ने इसमें हिस्सा नहीं लिया।

मेरी दीवार के उस पार खड़े आम के पेड़ों के पीछे एक क़तार में कुछ कोठरियाँ वनी थीं जिनमें से एक में एक बहुत रहस्यमय क़ैदी रहता था। जेल के अन्य क़ैदी तथा कर्मचारी सभी उसका नाम वहुत फुसफुसाहट भरे स्वर में लेते थे। हर रोज़ लगभग ६ बजे रात में मैं उसकें भाई और भांजे को खाना खाने से पहले प्रार्थना करते सुनती थी। उनका खाना शहर में स्थित उनके घर से बनकर आता था। यह रहस्यमय व्यक्ति सारा दिन जेल के ऑफ़िस में बैठा पान चबाता रहता या चरस पीता रहता और बड़े आदेश भरी आवाज़ में पास की दूकान से चाय या कोकाकोला लाने के लिए बोलता रहता। वेडौल और भयावह दिखने वाला यह व्यक्ति किसी धर्मपरायण हिन्दू की तरह अपने ललाट पर सिंदूरी तिलक लगाए रहता था। धीरे-धीरे मुझे उसके बारे में कुछ बातों का पता चला। शहर में उसके पास काफ़ी सम्पत्ति थी और वह एक जाना-माना व्यापारी था। ऊपरी तौर पर वह हिन्दू धर्म का पक्का समर्थक था। उन दिनों शहर में उसके पैसे से एक नया मंदिर बन रहा था। लेकिन उसके चरित्र का एक दूसरा पक्ष भी था। माफिया के ही ढंग का उसके पास गुण्डों का एक गिरोह था जो उसके आदेश पर लोगों से बदला लेने, उन्हें संत्रस्त करने या डाका डालने का काम करता था। ऐसा लगता था कि उसकी स्वीकृति और मदद से कोई भी अपराध दण्ड मिलने के भय से मुक्त होकर किया जा सकता था। उसके जेल में रहने का एकमात्र कारण यह था कि उसके एक दुश्मन ने पहले की गयी किसी हत्या का बदला लेने के लिए उसको मार डालने की धमकी दी थी और मजिस्ट्रेट उसकी जमानत देने से डर गया था। जेल के कर्मचारी उससे डरते थे—उन्हें भय था कि उसको नाखुश करने की किसी भी घटना से उनका जीवन खतरे में पड़ जाएगा। हमेशा हम लोगों के ताले में बंद किये जाने के काफ़ी बाद तक भी वह खुला ही रहता और अफ़वाह थी कि कभी-कभी रात में वह जेल से बाहर भी जाता था। आश्चर्य की

बात थी कि काफ़ी बड़ी संख्या में क़ैदी महिलाएँ उसे व्यक्तिगत रूप से जानती थीं। कुछ तो उसकी कर्ज़दार थीं और कुछ बस उससे डरा करती थीं। कितने स्वच्छंद ढंग से उसने धन-दौलत इकट्ठा किया था और अपने को शक्तिशाली बनाने के प्रयास में उसने कितनों का ख़ून बहाया था—इसके किस्से काफ़ी सुनायी पड़ते। दो वर्ष बाद मुझे पता चला कि सरकार ने उसे जेल में रसद-पूर्ति का ठेका दे दिया है।

जेल-जीवन के मूल में छिपी असुरक्षा जारी रही। १० अक्टूबर १९७२ को मैंने अपनी डायरी में लिखा :

> कल आग बुझा दी गयी, आग जलाने वाली सारी चीज़ें ज़ब्त कर ली गयीं, वॉर्ड में गश्त लगायी गयी और तलाशी ली गयी और समय काटने वाले उस सभी 'ग़ैर-क़ानूनी' आमोद-प्रमोद को फ़िलहाल रोक दिया गया जिसके बिना जेल-जीवन बर्दाश्त करना मुश्किल था। थोड़े दिनों तक सख़्ती से निगरानी रखने के बाद फिर सन्नाटा हावी हो जायेगा, जेल-प्रशासन फिर आँखें मूँदकर पड़ रहेगा, एक बार फिर आग जलेगी, चाय बनने लगेगी, मटर के दाने भूने जाने लगेंगे, बासी चपातियाँ फिर गरम की जाने लगेंगी, गरम रेत में चावल को भूना जाने लगेगा और कुछ महीनों के लिए हम सभी इन सुख-सुविधाओं के बीच रहने लगेंगे। मैंने महसूस किया कि कल की घटना बदले की भावना से ही नहीं लेकिन डर के कारण भी की गयी कार्रवाई थी। एक महीने से हमारे बार-बार के अनुरोध के बावजूद हमें साबुन नहीं दिया गया था। कल लगभग सर्वसम्मति से महिलाओं ने विरोध-प्रदर्शन के रूप में भूख-हड़ताल कर दी थी। क़ैदियों की एकता देखकर हर बार की तरह अधिकारीगण सहम गये और इस एकता को भंग करने की उन्होंने हर कोशिश की। इसलिए उन्होंने मिट्टी की बनी भट्ठी को चूर-चूर कर दिया और अपने साथ वे लकड़ियाँ, कागज़ और यहाँ तक कि सूखे पत्ते भी लेते गए। उन्हें यह उम्मीद थी कि औरतें आपस में लड़ जायेंगी और इन सुविधाओं को नष्ट करने के लिए एक-दूसरे को दोषी ठहराएँगी। मैंने कोशिश की कि वे इस धूर्तता के चक्कर में न पड़ें और इसमें मुझे कुछ सफलता भी मिली। लेकिन एक चीज़ तो तय है। अब हमें अपना साबुन मिल जायेगा और धीरे-धीरे हम तब तक फिर सारी चीज़ें तैयार कर लेंगे जब तक वे फिर सब-कुछ बर्बाद करने नहीं आ जाते।

इस तरह की घटनाओं के बावजूद हर बार की तरह ही भारत का यह ख़ूबसूरत शरद मेरी कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करने लगा। मैंने एक बार फिर यह सोचना शुरू किया कि मैं चित्रकारी करूँ या कुछ लिखूँ अथवा कसीदाकारी करूँ। हवा में मधुरता थी, दिन दुर्ग्राह्य थे जो देर से सूर्योदय और जल्दी सूर्यास्त होने की वजह से और छोटे हो गए थे। दिन के ढाई बजते-बजते चारों तरफ़ साया आ जाता था, भूरी दीवारों की कोणीय परछाइयाँ पड़ती थीं, आम की पत्तियों की परछाइयाँ पड़तीं और फाटक में बने लोहे की सलाखों के बिम्ब उभरने लगते।

अभी मैंने जमशेदपुर की जलवायु का आनंद लेना शुरू ही किया था कि सिपुर्दगी की कार्यवाहियाँ पूरी हो गयीं। दर्जन भर से कम बार ही अदालत में पेश होना पड़ा था और इस सबमें सात महीने लगे थे। न तो किसी गवाह ने मुझे

पहचाना और न मेरे खिलाफ़ किसी ने बयान ही दिया। तो भी, मैं तथा अन्य औरतें अपने ऊपर लगाये गये सभी आरोपों के बदले में मुक़दमा चाहती थीं। अब एक 'सामान्य' तौर-तरीक़े के अनुसार सेशन जज की अदालत तक एक मामूली-से मामले को पहुँचने में चार-पाँच वर्ष लग जाते। स्वयं अभियोग पक्ष के ही एक वकील ने मुझे सलाह दी कि मैं उच्चायुक्त को अपनी स्थिति से अवगत कराऊँ। उसने बताया कि उनके पास भारत सरकार का एक पत्र भी आ जाये तो मुक़दमे की कार्यवाही तेज़ी से होने लगेगी। मुझे खुद तो इसमें संदेह था फिर भी मैंने कलकत्ता में तथा अपने परिवार और दोस्तों के पास अनुरोध करते हुए लिखा कि वे जल्दी से मुक़दमा चलाने के लिए भारत सरकार पर दबाव डालें।

कुछ दिनों बाद अगले सम्मन का इंतज़ार करने के लिए हमारा हजारीबाग़ तबादला कर दिया गया।
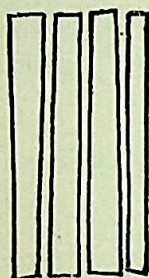
संकट

जिस समय मैं हज़ारीबाग पहुँची रात हो चुकी थी। डार्मिटरी से गुज़रते समय अँधेरे में मेरे स्वागत में कई आकृतियाँ उठ खड़ी हुईं और मुझे छूने, मेरा स्वागत करने के लिए सींखचों से बाहर हाथ निकल आये। एक मुस्लिम क़ैदी की आवाज़ सुनायी दी, 'सलाम वालेकुम, दीदी', दूसरी तरफ़ से प्रकाश की अपंग माँ बोली, 'नमस्ते दीदी', बाल्को ने हाथ मिलाया। मेरी पुरानी सूनी और खाली कोठरी में मेरे लिए तीन कम्बल ढूँढ़कर बिछा दिये गये। जल्दी ही कुछ महिला वॉर्डर गरम-गरम चपातियाँ और चाय लेकर आयीं। यह चाय बाल्को ने गोबर के उपलों पर तैयार की थी। उस शाम यह सोचकर कि शायद मैं ठंड में भूखी-प्यासी आऊँ, बाल्को ने कुछ उपलों को डार्मिटरी में छिपाकर रख लिया था। उन लोगों से कुछ दिन पहले बताया गया था कि मेरे वापस आने की सम्भावना है।

अगले दिन सबेरे पुराने दोस्तों से फिर से मुलाक़ात हुई और नये आगंतुकों से परिचय का सिलसिला चला। भण्डार-घर से जब तक मेरा राशन पहुँचता तब तक मैं तीन लोगों के साथ बारी-बारी नाश्ता कर चुकी थी। ऐसा महसूस हो रहा था, जैसे कोई अपने घर लौट आया हो। बीना से अलग होने का मुझे दुःख था, मैं यह भी जानती थी कि हज़ारीबाग ले जाने का मतलब मेरे मुक़दमे के बारे में टाल-मटोल करना है। यह भी सही था कि कलकत्ता से मेरे मिलने वालों का यहाँ आना ज़्यादा कठिन होगा और मैं एक बार फिर अपने सह-प्रतिवादियों से अलग पड़ जाऊँगी—इन सबके बावजूद अपने पुराने संगी-साथियों से एक बार फिर मिलकर और इस मिलन की ख़ुशी का अनुभव करके इन सारी बातों पर से कुछ समय के लिए ध्यान हट गया। मैं जानती थी कि अधिकारियों द्वारा मेरे रास्ते में कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न पैदा की जायें, यहाँ मेरी साथी क़ैदी जो कुछ भी दे सकती हैं, देती रहेंगी और मैं किसी चीज़ की कमी नहीं महसूस करूँगी।

इन सात महीनों में यहाँ कोई ख़ास तबदीली नहीं आयी थी सिवाय इसके

कि कुछ औरतें रिहा की जा चुकी थीं और कुछ नयी आ चुकी थीं। चार वर्षों तक जेल में रहने के बाद राजकुमारी पर मुक़दमा चला था और हत्या के आरोप से उसे बरी कर दिया गया था, लेकिन देसी शराब बनाने के जुर्म में उसे छः महीने की सज़ा हो गयी थी। यह सब मेरी ग़ैरमौजूदगी में हुआ था। जब तक वह अतिरिक्त सज़ा की अवधि पूरी नहीं कर लेती, उसे रिहा नहीं किया जायेगा।

जाड़े की सब्ज़ियाँ उगने लगी थीं। धरती ताज़गी से भरी थी और आसमान में एक खुलापन था। एक बार फिर मैं सूर्योदय और सूर्यास्त का दृश्य देख सकती थी और यदि मैं सींखचों पर चढ़ जाती तो सुन्दर दृश्यों, पेड़-पौधों, गाँव और जेल की दीवारों के बाहर दूर तक जाती हुई सड़क मैं देख सकती थी। अंततः मुझे चित्रकारी करने के लिए कुछ विषय मिल गये थे और साधन के रूप में जुलाई में आयरिश द्वारा लाया गया वाटर कलर मेरे पास था ही। लेकिन चाहे मैं कितनी भी कोशिश क्यों न करूँ, भोर की रोशनी को, पुरुषों के विभाग की रेत के रंग की दुमंज़िली इमारत के कोने पर पड़ती हुई सूरज की पहली किरण को, पेड़ों के काले हरे रंगों को, दीवारों के अनिष्टकारी भूरे रंगों को और ईंट-जैसी लाल धरती को मैं अपनी चित्रकारी में कभी ज्यों का त्यों नहीं उतार पाती थी। जमशेदपुर के आसमान पर छायी औद्योगिक धुंध के विपरीत यहाँ का आसमान बहुत साफ़ था और इमारतों की वाह्य रेखाएँ इतनी स्पष्ट थीं कि बाहर की दीवार में बने वॉच टावर स्पर्श की सीमा के भीतर प्रतीत होते थे। हज़ारीबाग चमक रहा था : कभी-कभी विस्तृत लाल धरती डूबते हुए सूरज की रोशनी में नीली फिर लोहे के रंग की और कुछ देर बाद सुनहरे रंग की हो जाती थी और उन कभी न आने वाले थोड़े-से क्षणों को मैं अपनी स्मृतियों में समेट लेने के लिए तड़प उठती थी। फिर भी मैं कभी इनको कागज़ों पर उतार नहीं सकी।

जेल-जीवन के दौरान मुझे सौंदर्य की अधिक से अधिक ज़रूरत महसूस होने लगी। काफ़ी देर तक मैं चुपचाप बैठकर गेंदे के फूल के एकमात्र पौधे को, जो किसी तरह सुपरिंटेंडेंट के विध्वंस से बच गया था, एकटक देखा करती। अपनी कोठरी की दीवारों पर मैं हर तरह की तस्वीरें चिपकाती रहती। ऐसा करते समय मैं उनके कलात्मक मूल्य पर ध्यान न देकर केवल रंगों पर ध्यान देती। मेरे दोस्तों को जब यह पता चला तो उन्होंने पेंटिंग की कुछ किताबें मेरे पास भेजीं लेकिन जिस संगीत को मैंने लगातार चाहा था और जिसकी इच्छा मेरे मन में बराबर बनी थी, उसकी पूर्ति के लिए वे कुछ नहीं कर पाये। कभी-कभी दिन के तीसरे पहर मेरे बगल के वॉर्ड में कोई क़ैदी अपनी बाँसुरी पर बहुत मधुर और कोमल स्वर निकाला करता और मैं सुनती रहती। उसे कभी यह पता नहीं चला कि दीवार की दूसरी तरफ़ उसकी कोई प्रशंसिका बैठी सुन रही है।

हज़ारीबाग जेल के विशाल आकार ने वातावरण के तनाव को कम कर दिया था। जमशेदपुर में जिस तरह हम बग़ल के पुरुषों के वॉर्ड की सारी गति-विधियों को, बेड़ियों की झनझनाहट और चीखों तथा मारपीट की आवाज़ों को सुन लेते थे, वैसा यहाँ नहीं था। लेकिन मैं अधिक समय तक इस तरह का कोई भ्रम नहीं पालना चाहती थी। यदि कोई चीज़ दिखायी न दे और कोई आवाज़ सुनायी न दे तो इसका अर्थ यह नहीं कि इनका अस्तित्व ही नहीं है।

मुझे देखकर जो क़ैदी बहुत ज्यादा खुश हुई थी वह थी मोती। यह संथाल औरत थोड़ी पागल थी और इससे मेरी पहली बार जमशेदपुर में मुलाक़ात हुई थी। वह काफ़ी भद्र, समझदार और मेहनती औरत थी। जब तक कोई बात उसे

तीखी नहीं लगती, वह चुपचाप बैठी रहती। उसने न जाने कैसे मुझे अपनी बेटी बना लिया था और चूँकि महिला वॉर्डर हमेशा उसके गुस्से से डरती रहती थीं इसलिए उससे बातचीत के लिए वह प्रायः मुझे बुलातीं हालाँकि आमतौर पर मुझे भी कोई खास सफलता नहीं मिलती। कभी-कभी ऐसा होता था कि वह दिन भर तो चुप रहती लेकिन मेरे सामने वाली क़तार में बनी अपनी छोटी अँधेरी कोठरी में बंद कर दिये जाने के बाद उसे अचानक कोई ऐसी बात याद आ जाती जिससे उसे दिन में चिढ़ हुई रही हो तो वह चीख-चीखकर सबको गालियाँ बकती रहती और अपने फाटक के सींखचों को ठोक-ठोककर बाहर निकलने के लिए शोर मचाती। कभी-कभी तेज़ स्वर में वह बोलती, "तुम लोग मुझे क्या समझती हो ?—क्या मैं बकरी हूँ ? तुम्हें पता नहीं कि मैं आदमी हूँ—जानवरों की तरह बंद कर रखा है। मैं घर जा रही हूँ। तुम लोग आओ और मुझे बाहर निकाल दो। आओ। जल्दी आओ। चले आऽऽओ।" वह अपनी साड़ी ऊपर उठाकर कमर के पास इस तरह बाँध लेती, जैसे लड़ने की तैयारी कर रही हो।

एक दिन सवेरे लगभग तीन बजे उसने चिल्लाना शुरू किया और हमें यह जानने में थोड़ी देर लगी कि उसे दस्त आ रहे थे और उसकी कोठरी का बर्तन मल से भर गया था जिसकी बदबू ने उसे बेचैन कर रखा था। हर रोज़ की तरह जब सवेरे छः बजे वॉर्डर उसकी कोठरी का ताला खोलने आया तो उसके जाने का इंतज़ार किये बग़ैर वह बर्तन लेकर तेज़ी से बाहर निकल गयी ताकि खाली करती आये। दुर्भाग्यवश चीफ़ हैड वॉर्डर के सामने ही वह लड़खड़ा गयी और सारा बरामदा गंदगी से भर गया। वॉर्डर के ऊपर भी कुछ छींटे पड़े। हम अपनी हँसी दबा नहीं सके। यहाँ तक कि महिला वॉर्डर भी अपनी साड़ियों की ओट में मुँह करके हँस रही थीं। चीफ़ वॉर्डर इतना हतप्रभ हो गया था कि कुछ बोल ही नहीं सका।

मोती को हमेशा भूख लगी रहती और वह बहुत ज़्यादा खाती थी। उस साल जाड़े में खाद्य-संकट बढ़ने के साथ ही जेल के राशन में हर बार से भी ज्यादा कटौती हो गयी और क़ैदियों को महीनों तक आटा नहीं मिला। हमें हर रोज़ दो-चार मुट्ठी चावल मिल जाता था। गेहूँ के विपरीत चावल बहुत जल्दी पच जाता था और थोड़ी ही देर बाद फिर भूख लग जाती। खासतौर से जब जाड़े का मौसम हो तब भूख और तेज़ लगती थी। कुछ अन्य क़ैदियों ने किसी तरह अपने को इन स्थितियों के अनुकूल ढाल लिया था और वे अपने चावल में से थोड़ा बचा भी लेते थे ताकि बेच सकें। इससे मोती बेहद क्रोधित होती थी। वह भी दूसरों की तरह पैसा बचाना चाहती थी लेकिन साथ ही हमेशा उसका पेट भी भरा रहना चाहिए था। जेल की वर्तमान स्थितियों में इन दोनों बातों का कोई मेल नहीं था। सौभाग्यवश उसकी पाचन-शक्ति बहुत अच्छी थी। हर रोज़ वह बगीचे में घुस कर मटर, मिर्च, टमाटर, आलू, प्याज़ और लहसुन की पत्तियाँ तलाशती रहती। खाने वाली कोई भी चीज़ उसे नामंज़ूर नहीं थी। इन चीज़ों को वह अल्यूमीनियम की अपनी तश्तरी में रखकर हमारे चूल्हे की बुझती आग में बनाया करती। इस अधपके और गंधयुक्त पदार्थ को वह जल्दी-जल्दी अपना बड़ा-सा मुँह खोलकर निगल जाती। उसकी हमेशा यह इच्छा होती थी कि उसके बनाये खाने को हम लोग भी चखें लेकिन कुछ ऐसा संयोग था कि हम कभी उसके व्यंजनों को उतना रस लेकर नहीं खा सके।

नयी क़ैदियों में लगभग सोलह वर्ष की एक गूँगी-बहरी लड़की थी। किसी को

न तो उसका नाम पता था और न उसका अपराध। लोगों को बस इतना ही पता था कि लगभग तीस मील दूर स्थित एक कस्बे में पुलिस ने उसे पकड़ लिया था और जेल भेज दिया था। १९७५ में जब मैं हज़ारीबाग से रवाना हुई, उस समय भी अन्य तमाम क़ैदियों की तरह वह जेल में ही पड़ी थी। न तो बोल पाती थी और न हम लोगों की तरह पुराने संस्मरणों और अपने अतीत के बारे में, अपने परिवार और घर के बारे में कुछ बता पाती थी। इसलिए वह हमेशा एक मानसिक व्यथा से पीड़ित रहती थी। इसका संकेत उसके असंतुलित व्यवहार से मिल जाता था। कभी-कभी वह कई दिनों का राशन एक ही बार में खा जाती और इस बात का भी खयाल नहीं रखती थी कि चावल अच्छी तरह पक जायें। कभी-कभी वह लगातार कई दिनों तक बग़ैर कुछ खाये सोयी रहती। न तो उसे, न मोती को और न मानसिक रोग से ग्रस्त किसी भी क़ैदी को कोई चिकित्सा सुविधा दी जाती थी। हाँ, कभी-कभी वे यदि बहुत उग्र हो जाते थे तो शान्त करने के लिए एक इंजेक्शन दे दिया जाता था। जेल उनके लिए शायद ही उचित स्थान रहा हो। उनकी मौजूदगी से अन्य क़ैदियों पर तनाव पड़ता था। वॉर्डरों को उनसे निपटने का प्रशिक्षण नहीं दिया गया था। निरीक्षण के दौरान अधिकारियों की निगाह जब तक उन पर नहीं पड़ती थी, उन्हें कोई चिंता नहीं होती। मानसिक रूप से विक्षिप्त कोई व्यक्ति यदि जेल आता तो वह धीरे-धीरे और भी ज्यादा विक्षिप्त होता जाता। इस सिलसिले में डॉक्टर भी कोई मदद नहीं करता था—वह केवल यही अनुरोध कर सकता था कि उन्हें किसी मानसिक चिकित्सालय में भेज दिया जाये लेकिन सुविधाएँ न होने की वजह से उन्हें शायद ही कभी अस्पताल भेजा जाता रहा हो। जेल के एक डॉक्टर ने मुझे बताया कि हज़ारीबाग में पुरुषों के वॉर्ड में अस्सी से ज़्यादा पागल बन्द हैं।

'सुरक्षा' के तहत रखे गये क़ैदियों की हालत मानसिक रूप से विक्षिप्त क़ैदियों जैसी ही बुरी थी। १९७३ के क्रिसमस से कुछ ही दिन पहले सत्या नाम की एक लड़की महिलाओं के वॉर्ड में लायी गयी। उसकी उम्र ११ वर्ष थी और वह फटे चिथड़े कपड़े पहने थी। उसके माँ-बाप आसाम में चाय-बाग़ान में मज़दूर थे। उसके पिता अपनी कमाई के कुछ पैसे और उसे साथ लेकर उसकी बीमार दादी से मिलने बिहार के एक गाँव में जा रहे थे कि तभी किसी रेलवे स्टेशन पर कुछ लोग उसके पिता को लेकर कहीं चले गये। इसके बाद उसने अपने पिता को कभी नहीं देखा। कुछ दिनों बाद उसे पुलिस ने पकड़ लिया और 'सुरक्षित रखने' के लिए उसे जेल में डाल दिया। दुर्भाग्यवश मामला यहीं समाप्त हो गया। किसी ने न तो उसके परिवार को तलाशने की और न उसे उसके घर पहुँचाने की परवाह की। जब एक बार एक ईसाई महिला वॉर्डर ने उसकी देखभाल करने की इच्छा ज़ाहिर की तो सहायक जेलरों और अदालत के क्लर्कों ने सत्या को सतर्क करते हुए बताया कि ईसाई लोग गौ-माँस खाते हैं और उसकी जाति नष्ट हो जाएगी। फलस्वरूप उसे जेल में ही पलने के लिए छोड़ दिया गया।

ठंड बढ़ने के साथ ही मैं गरम पानी से स्नान करने तथा गरम कमरे में किसी नरम मुलायम बिस्तर पर सोने के निरर्थक विचारों में तल्लीन होने लगी। लेकिन ज़िन्दगी की तात्कालिक समस्याओं का इतना दबाव था कि किसी तरह के दिवास्वप्न में नहीं डूबा जा सकता था। आमतौर से कम से कम एक या दो क़ैदी हमेशा बीमार रहते थे और अधिकांश औरतों का स्वास्थ्य हमेशा खराब ही रहता था। कइयों को जिगर और गुर्दे की तकलीफ़ थी और इसमें कोई संदेह नहीं कि

ठंडे पथरीले फ़र्श पर सोने से ही कुछ को इस तरह की तकलीफ़ हुई थी। खून की कमी तो लगभग सबको ही थी। पेट में कीड़ियाँ पड़ने से हमेशा थकान रहती थी और मिचली आती थी। फोड़े, फुंसियाँ, घाव या अपौष्टिक आहार तथा विटामिन की कमी से होने वाले रोग इतने आम थे कि लोगों ने उस पर ध्यान ही देना बंद कर दिया था। अपनी उम्र के प्रारम्भिक वर्षों से ही औरतें बुरे स्वास्थ्य की शिकार हो चुकी थीं जिसका नतीजा यह था कि अपनी सारी तकलीफ़ों को वे 'क्या करेगा?' कहते हुए तब तक टालती जाती थीं जब तक वे सचमुच बिस्तर न पकड़ लेती थीं। महिलाओं में ही अल्पपोषण की अधिकता का एक कारण यह भी था कि अनेक परिवारों में प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थ पुरुषों के लिए सुरक्षित रखा जाता था।

अपने साथ की महिला क़ैदियों की तुलना में मेरा स्वास्थ्य लाजवाब था। अपने जेल जीवन के पाँच वर्षों में मुझे कुछ ही औरतें ऐसी मिलीं जो मुझसे भी लम्बी थीं जबकि खुद मेरी लम्बाई महज़ पाँच फुट दो इंच ही थी। कुछ ही औरतें मुझे ऐसी मिलीं—और बहुधा वे मध्यवर्गीय परिवारों की थीं—जिनका वज़न मुझसे ज़्यादा था हालाँकि मेरा वज़न घटकर ११२ पौंड से थोड़ा ही अधिक रह गया था। फिर भी वे सारे दिन पानी से भरी भारी बाल्टियाँ सर पर लादे रहती थीं और बगीचे के एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ मिट्टी ढोती रहतीं।

जेल आने से पहले शायद ही किसी औरत ने कभी कोई डॉक्टर देखा था। अन्य कर्मचारियों की ही तरह जेल के डॉक्टर भी बस एक फ़र्ज़-अदायगी कर रहे थे और किसी भी तरह यहाँ से निकल भागना चाहते थे। कुछ तो अपने आसपास के दुःख-दर्द से एकदम उदासीन हो गये थे—कुछ ऐसे थे जो अंधाधुंध कीड़ियाँ मारने की या दर्दनाक दवाएँ देकर अपना पिंड छुड़ा लेते। जहाँ तक क़ैदियों के सामान्य स्वास्थ्य का ताल्लुक था, ये दोनों रवैये समान रूप से अप्रभावकारी थे। बहुधा ऐसा लगता था कि जेल नयी-नयी दवाओं का परीक्षण-स्थल है क्योंकि ऐसा शायद ही कभी होता था कि किसी रोग में जो दवा दी गयी हो उसे फिर उसी रोग में दिया जाये।

खाद्यान्न की स्थिति में लगातार गिरावट आती रही। खाने के कई सामानों का अभाव हो गया था हालाँकि इनमें से अधिकांश काला बाजार में मिल रहे थे। जेल के अन्दर हालत बद से बदतर होती जा रही थी। एक बार तो यह हालत हो गयी कि सवेरे मिलने वाले मटर के दाने भी नदारद हो गये और उनकी जगह पर शीरे में तैयार किया गया दो-चार चम्मच गीला चावल मिलने लगा। यह पकवान बोरों में नीचे बचे चावल के टुकड़ों से बनाया गया था और भूसे तथा लकड़ी के टुकड़ों से भरा हुआ था। उस वर्ष हमें मिलने वाले चावल का स्वाद अजीब-सा था और लगता था जैसे यह काफ़ी दिनों से भंडारघर में पड़ा हुआ था। हमें जो सब्ज़ी मिलती थी उसमें कभी कीड़ों भरे बैंगन मिलते थे तो कभी गोभी की पत्तियाँ और डंठल और इन्हें हमारे बर्तनों में इस अदा से डाला जाता था जैसे कोई बहुत अच्छी चीज़ हो जिससे हम अनभिज्ञ हों। दिन में दो बार जो दाल दी जाती थी उसमें घुन लगे रहते थे और न जाने कब से पड़ी रहने की वजह से वह कड़वी हो गयी रहती थी। कुछ दिनों बाद फिर मटर के दर्शन हुए पर वे एकदम खोखले होते थे—अन्दर का सारा माल कीड़े चाट गये रहते थे और ऊपर की केवल खाल बची रहती थी। कभी-कभी आलू मिलते थे पर वे आकार में मटर से ज़्यादा बड़े नहीं होते थे और उनका रंग काला हो गया रहता था। महिलाओं

में असंतोष बढ़ता गया लेकिन ऐसा लगता था कि तंगहाली के बढ़ने के साथ-साथ उनके आपसी झगड़े कम होते जाते थे और अब चूँकि मेटिन को मिली तमाम सुविधाएँ भी वापस ले ली गयी थीं और उसकी अकड़ कम हो गयी थी इसलिए अधिकारियों के मन मुताबिक काम करने में उसकी भी अब दिलचस्पी नहीं रह गयी थी।

इन सारी स्थितियों के बावजूद जेल की आबादी का एक हिस्सा ऐसा भी था जो इस संकट में समृद्ध होता जा रहा था। विभिन्न भंडारों के इंचार्ज मेटों तथा जेल ऑफ़िस के क्लर्कों ने चीफ़ हैड वॉर्डर का विश्वास प्राप्त कर लिया था और इस चीफ़ हैड वॉर्डर के बारे में कहा जाता था कि घूस तथा अन्य ग़ैरक़ानूनी स्रोतों से उसकी आय प्रतिमाह छह से सात हज़ार रुपये थी। कहा जाता था कि उसने कई टैक्सियाँ और तीस एकड़ ज़मीन ख़रीद ली थी जबकि उसकी तनख्वाह उस समय प्रतिमाह तीन सौ रुपये से कुछ ही अधिक थी—इस तनख्वाह में परिवार का खर्च भी चलाना मुश्किल था। उसका वरदहस्त पाकर मेटों की भी खूब बन आयी थी—वे क़ैदियों के लिए भेजे गए अनाज, कपड़े तथा अन्य चीज़ें धड़ल्ले से बेच देते थे और अपने मुनाफ़े का एक हिस्सा हर महीने उसे दे देते थे। मेरे लिए यह एक दिलचस्प बात थी कि किस तरह अंग्रेज़ी के शब्द 'इनकम' को किसी की नियत आय के अलावा ग़ैरक़ानूनी ढंग से होने वाली आय के लिए हिन्दी में इस्तेमाल किया जाता था। मेटों की अलग कोठरियाँ थीं और क़ैदियों में से ही उनके लिए अलग नौकर थे; उनमें से कुछ ने कम उम्र के क़ैदियों को—जिनके प्रति वे आकर्षित हो गए थे—अपने साथ रख लिया था। वे काफ़ी अच्छा खाते-पीते थे और महँगे कपड़े पहनते थे जिन्हें जेल का धोबी धोया करता था। वे अपने घरों को नियमित रूप से मनीआर्डर भेजते थे और एक के बारे में तो अफ़वाह थी कि उसका नया मकान बन गया है जहाँ उसके रिहा होकर पहुँचने की प्रतीक्षा हो रही है। वे जेल के सामंत थे और उनसे अन्य क़ैदी नफ़रत करते थे।

दवाओं की सप्लाई और अस्पताल के खानों के इंचार्ज मेटों से मैं व्यक्तिगत रूप से नफ़रत करती थी। जब कोई क़ैदी गम्भीर रूप से बीमार हो जाता था तभी उसके लिए विशेष आहार या दवा आदि निश्चित की जाती थी और उन लोगों के बारे में सोचकर मुझे बहुत घृणा होती थी जो बीमार पुरुषों, औरतों और बच्चों के लिए निर्धारित दवाएँ बेचकर मुनाफ़ा कमाते थे और दिनों-दिन चिकने और मोटे होते जा रहे थे, पर ऐसा करते समय जिनकी अन्तरात्मा कभी कचोटती नहीं थी। यह सारी धाँधली चीफ़ हैड वॉर्डर की स्वीकृति के बग़ैर नहीं हो सकती थी और जेल के उच्च अधिकारी इन सारी बातों से अवगत होने के बावजूद दखल न देना ही पसन्द करते थे। खुद जेलर के बारे में भी मशहूर था कि उसे मेटों से नियमित पैसा मिलता था और बाहर से जो भी नया सामान जेल में आता था, उसे सबसे पहले जेल कर्मचारियों की पसन्द के लिए रखा जाता था। जेल का निरीक्षण करने के लिए आने वाले स्थानीय उच्चाधिकारियों और 'निरीक्षकों' को जाते समय उपहारों से लाद दिया जाता था और इनके स्वागत के लिए सुपरिंटेंडेंट जिस फ़िज़ूलखर्ची का परिचय देता था उसकी काफ़ी चर्चा होती थी। उसकी लड़की की शादी के अवसर पर सिलाई विभाग के क़ैदी कई दिनों तक गद्दे आदि तथा मेहमानों के आराम के लिए विविध सामान तैयार करते रहे। जेल के सभी कर्मचारी क़ैदियों को अपने व्यक्तिगत नौकर के रूप में इस्तेमाल करते थे। हर रोज़ सवेरे-शाम झुंड के झुंड क़ैदी इन अधिकारियों के घरों में जाकर पानी

भरने से लेकर कपड़े धोने, खाना पकाने, घर की सफ़ाई करने और ज़रूरत का कोई भी काम यहाँ तक कि उनकी मालिश करने में लगे रहते।

भ्रष्टाचार की चपेट में जेल-सुपरिंटेंडेंट भी आ जाते थे। एक सुपरिंटेंडेंट ने मुझे बताया कि मंत्रियों या अन्य उच्च अधिकारियों का समय-समय पर जेल का दौरा करना उसे पसंद नहीं है। जब मैंने उससे इसका करण पूछा तो उसने बताया, "वे हरदम मुझसे पैसे की माँग करते हैं। और यदि मैं उनकी माँग पूरी न करूँ तो वे मीलों दूर किसी सुनसान इलाके की जेल में मेरा तबादला करा देंगे जहाँ कोई सामाजिक जीवन नहीं होगा और जहाँ रहकर मैं अपने बीवी-बच्चों से भेंट नहीं कर पाऊँगा। यदि मैं यहाँ बना रहना चाहता हूँ तो मुझे पैसा देना ही पड़ेगा।" बेशक, जेल के कर्मचारी मनपसंद स्थानों पर अपनी नियुक्तियाँ करा लेते थे। हज़ारीबाग-जैसे देहाती इलाक़ों की तुलना में जमशेदपुर और धनबाद-जैसे औद्योगिक शहरों में तबादला कराने के लिए ज़बर्दस्त होड़ लगी रहती थी क्योंकि यहाँ क़ैदियों के पास ज़्यादा पैसे होते थे और मुलाक़ातियों से भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने रिश्तेदार क़ैदियों से मिलने के लिए या उनके साथ जेल में अच्छे व्यवहार की गारंटी के लिए अधिक पैसे खर्च करेंगे।

मेटों के अलावा अन्य जिन क़ैदियों ने अपना राशन बेचकर पैसे इकट्ठे किये थे उन्हें हमेशा अपने पैसों से हाथ धोने का खतरा बना रहता था जबकि मेटों के साथ ऐसी बात नहीं थी। क़ैदियों से वॉर्डर लोग हमेशा पैसों की माँग करते रहते थे और यदि वे पैसे देने से इनकार करते थे तो कोई न कोई झूठा आरोप लगाकर जेलर से शिकायत करने की धमकी दी जाती थी। सज़ा से बचने के लिए आमतौर पर उन्हें पसे देने ही पड़ते थे। कई बार मैंने क़ैदियों को दौड़ते हुए जाकर चीफ़ हैड वॉर्डर के हाथ में रुपये के नोट पकड़ाते देखा था। किसी क़ैदी के बारे में यदि चीफ़ वॉर्डर को यह महसूस होता कि उसने पर्याप्त पैसा नहीं दिया तो उससे वह कहता, "काफ़ी दिनों से तुमने मेरी खातिर नहीं की है—मुझे लगता है कि आजकल तुम्हारी तनहाई में रहने की तबियत हो गयी है—क्यों?" एक बार अफ़वाह सुनायी पड़ी कि चीफ़ हैड वॉर्डर का तबादला पटना जेल के लिए हो गया है और मैंने मज़ाक में ही मुबारकबाद देते हुए कहा कि अब तो वह प्रदेश की राजधानी में जा रहा है जहाँ उसकी मुलाकात 'बड़े-बड़े लोगों' से होगी। उसने झट जवाब दिया, "बड़े लोगों से मुझे क्या लेना है? पैसे तो मुझे छोटे लोगों से ही मिलते हैं।"

जब कभी निरीक्षण के लिए जेल-मंत्री, जेलों के महानिरीक्षक या किसी विशिष्ट व्यक्ति को आना होता तो हमें तब तक हड़बड़ी में रहना पड़ता जब तक वे चले नहीं जाते। केवल उन्हीं दिनों हमारे शौचालय में कीटाणुनाशक दवाएँ आदि छिड़की जातीं, नालियों पर चूने लगाये जाते ताकि वे सुन्दर लगें और उनकी दरारें न दिखायी दें, सारी चीज़ों की सफ़ाई करनी पड़ती और हमारे सारे सामान कम्बलों में लपेट दिये जाते—ऐसा लगता था जैसे हमारे गंदे फटे-पुराने कपड़ों तथा अन्य सामानों को देखकर उनकी आँखों को तक़लीफ़ होगी। जब तक वे रहते थे, हमें खाना बनाने की भी इजाज़त नहीं दी जाती थी। क़ैदियों को आगाह किया जाता था कि हम विशिष्ट आगंतुकों से अपनी कठिनाइयाँ न बताएँ। दण्ड मिलने के भय से आमतौर पर इन आदेशों का पालन होता हालांकि कभी-कभी यह भी होता था कि कोई साहसी महिला सावधान की मुद्रा में क़तार में खड़ी अपनी साथियों के बीच से निकलकर आगे आ जाती और खाने-कपड़ों के बारे में और

बिना मुक़दमा चलाये काफ़ी दिनों से जेल में पड़ी रहने की शिकायत कर ही देती। आगंतुक कहते, "ठीक है, ठीक है, हम इस पर ग़ौर करेंगे" और फिर इस सिलसिले में कुछ नहीं होता। जेल के अधिकारी और कर्मचारी उस औरत के ग्रामीण उच्चारण या अनगढ़ रूप को देखकर आपस में मज़ाक उड़ाते और उस पर टिप्पणी करते हुए आपस में अंग्रेज़ी में कुछ कहते। फिर अपने को बड़ा हाज़िर-जवाब समझते हुए सुपरिंटेंडेंट कोई टिप्पणी करता, "हम लोग यहाँ से बाहर चले जायें इसी में ख़ैरियत है—ये बहुत ख़तरनाक क़िस्म की औरतें हैं—हत्यारिनें और न जाने क्या-क्या हैं। ये किसी दिन हमको भी मार सकती हैं।" फिर निरीक्षण के लिए आया वह काफ़िला चला जाता था—उनके चेहरों पर महिलाओं की इस दुसह्य स्थिति के प्रति खेद के भी संकेत नहीं होते थे। महिलाओं को यहाँ जो कुछ झेलना पड़ता था शायद उससे भी ज़्यादा तकलीफ़ उन्हें तब होती थी जब सुपरिंटेंडेंट अपने मित्र को लेकर इतराता रहता था और महिला क़ैदियों के साथ इस तरह का सुलूक करता था गोया वे मनोरंजन या हिकारत की कोई वस्तु हों। इसके अलावा जब भी कोई विशिष्ट व्यक्ति आता था तो हमारे बग़ीचे के सारे फूल तोड़ लिये जाते थे ताकि उसके लिए माला बनायी जा सके। उस साल मैंने जाड़ों में फूलों की एक क्यारी बनाने को सोचा लेकिन जब मैंने देखा कि सारे फूल इन विशिष्ट जनों के गले की शोभा बढ़ाने के लिए या सुपरिंटेंडेंट का घर सजाने के लिए चले जाते हैं तो मैंने यह विचार छोड़ ही दिया।

जहाँ तक हमारी स्थितियों का सम्बन्ध है अब तक शायद केवल एक बार जनवरी १९७४ में ऐसा इत्तफ़ाक हुआ था कि किसी उच्च अधिकारी के निरीक्षण का कोई व्यावहारिक नतीजा निकला हो। इस अधिकारी के निरीक्षण के बाद हमारा पानी का नल ठीक हो गया था। इससे पहले कई सप्ताह पूर्व हमारे पुराने टूटे पाइपों को बदलने के लिए कुछ मिस्त्री आये थे लेकिन उन्होंने बस इतना ही किया कि टोंटी को खोलकर बाहर निकाल दिया, जिससे दीवार में बस एक सूराख बच रहा जिससे समय-कुसमय कभी तो पानी की एक मोटी धार गिरने लगती थी
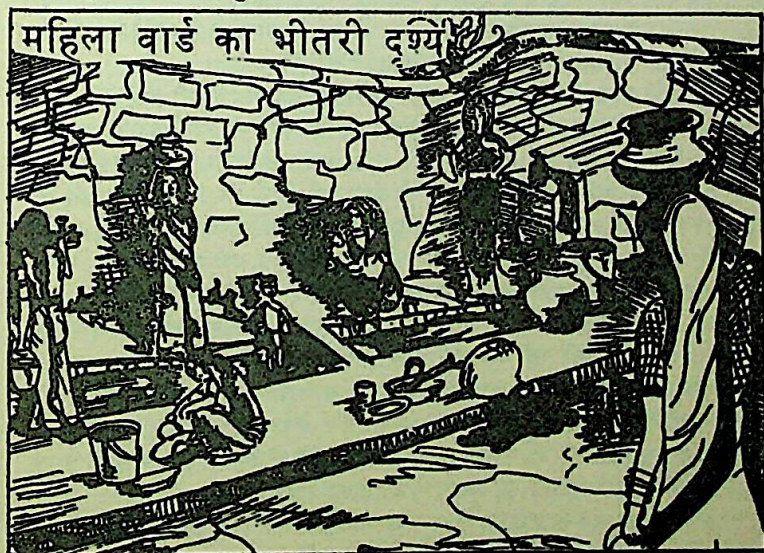
और कभी कुछ बूंदें टपककर रह जाती थीं। किसी को पता नहीं था कि नहाना शुरू करने के बाद खत्म होने तक पानी आता रहेगा या नहीं। यह एक साधारण बात हो गयी थी कि कोई शरीर, बालों या कपड़ों में साबुन पोतकर बैठा रहे और दुबारा पानी आने का इन्तज़ार करता रहे। यहाँ तक कि टोंटी बदल दिये जाने के बाद हमारी दिक़्क़तें दूर नहीं हुईं। पानी की हमारी सप्लाई का कनेक्शन बग़ल में पुरुषों के वॉर्ड से था और हर बार जब इधर के क़ैदी अपना नल खोल देते थे तो हमारी तरफ़ पानी आना बंद हो जाता था। किन्हीं अदृश्य हाथों द्वारा संचालित नल से पानी लेने की कोशिश के दौरान हमें अकसर जिस निराशा का सामना करना पड़ता था इससे हम तुनक-मिजाज़ और झगड़ालू हो गयी थीं। हमेशा कम से कम तीस औरतें और बच्चे इस एक नल से पानी लेते रहते थे—कोई कपड़ा साफ़ कर रहा होता था तो कोई नहाने के लिए पानी के इन्तज़ार में था, किसी को खाना बनाने या पीने के लिए पानी की ज़रूरत थी तो कोई चाहता था कि वह फ़र्श साफ़ करने या बग़ीचे में डालने के लिए एक बाल्टी पानी भर ले। वैसे तो बग़ल के पुरुषों के वॉर्ड में एक कुआँ भी था, पर चूंकि पानी निकालने वाली रस्सी काफ़ी पहले टूट चुकी थी और उसके बदले आज तक किसी रस्सी का इन्तज़ाम नहीं हो सका था इसलिए पुरुष क़ैदियों को दोष देने से कोई लाभ नहीं था। लेकिन कभी-कभी इस स्थिति से इतनी खीज होने लगती थी कि औरतें दूसरी तरफ़ के लोगों को भला-बुरा कहने लगतीं। एक दिन कुछ क़ैदी युवतियाँ दीवार की उस तरफ़ पत्थर और मिट्टी फेंकने लगीं और पुरुषों के वॉर्ड में तैनात वॉर्डर ने उन्हें बहुत तेज़ फटकार दिया।

मैंने महिला-वॉर्डरों से अनुरोध किया कि वे पानी की समस्या के बारे में जेलर को अवगत करायें पर उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। खुद उनके क्वार्टरों की हालत जेल के अन्दर की हालत से भी ज़्यादा खराब थी। हर परिवार के लिए महज़ एक कमरा था जिसकी छत नीची थी और जिसमें एक छोटा-सा बरामदा और आँगन था। इस थोड़ी-सी जगह में ८-६ लोग रहते थे। दरअसल लेउनी मच्छर-मक्खियों और सामने बह रहे गंदे नाले से उठती बदबू से भरे अपने छोटे-से अँधेरे क्वार्टर में रहने की बजाय हमारे वॉर्ड में ही रहना पसन्द करती थी।

उस वर्ष जाड़े में एक दिन एक महिला वॉर्डर अपने साथ किसी क़ैदी को लेकर अदालत तक गयी थी और लौटने पर उसने बताया कि एक छोटी बच्ची उस ठंड में कमर के गिर्द केवल एक पतला कपड़ा लपेटे अदालत के बाहर ज़मीन पर लेटी भूख से छटपटा रही थी। उस वॉर्डर ने बताया कि वह समझ ही नहीं पायी कि क्या करे; वह खुद इतनी ग़रीब है कि दूसरे का पेट कैसे भरती और उस बच्ची को यदि एक दिन कुछ खिला भी दिया जाता तो इसका अर्थ यही था कि उसकी मौत एक दिन के लिए टल जाती—बस। इस घटना से मैं खुद को बहुत दुःखी, अपराधी और क्रोधित महसूस करने लगी। इस बीच दिल्ली की संसद में इस विषय पर बहसें चलती रहीं कि विभिन्न राज्यों में हुई मौतें भूख के कारण हुई हैं या पोषक तत्वों की कमी के कारण। हर बार जब दुर्भिक्ष पड़ता है तो इसी तरह की मूर्खतापूर्ण बहस संसद में शुरू हो जाती है—ऐसा लगता है, जैसे इन दोनों कारणों से हुई मौतों में कोई बुनियादी फ़र्क है, जैसे पोषक तत्वों की कमी से हुई मौतें ग्राह्य हैं क्योंकि इस तरह भुखमरी को टाला जा सका।

जनवरी १६७४ के आरम्भ में उन घटनाओं ने रूप ले ही लिया जो अवश्यंभावी थीं। गुजरात में विरोध-प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू हो गया। प्रदर्शन-

कारियों पर काबू पाने के लिए सेना तैनात की गयी, राज्य के ७३ नगरों में कर्फ़्यू लगा दिया गया, पुलिस द्वारा गोली चलाये जाने की खबरें रोज़ आने लगीं और फ़रवरी का महीना शुरू होते-होते सरकारी अधिकारियों ने स्वीकार कर लिया कि पुलिस की गोली से ४० लोग मारे गये हैं। बिहार में भी असंतोष बढ़ता जा रहा था। २१ जनवरी को आम हड़ताल का आह्वान किया गया। धनबाद से तुरन्त लौटे एक वॉर्डर ने मुझे बताया कि हर जगह थोड़ी-थोड़ी दूर पर चेहरे पर आँसू गैस से बचाव के लिए नकाब लगाये पुलिस तैनात है क्योंकि वहाँ खाद्यान्नों की कमी के कारण जनता विद्रोह की कगार पर खड़ी है।

२६ जनवरी को गणराज्य दिवस के अवसर पर राष्ट्रपति वी० वी० गिरि ने राष्ट्र के नाम अपने संदेश में लोगों से अनुशासन बनाये रखने की अपील की। मैं यह सोचकर हैरान थी कि उनसे किस चीज़ को अनुशासित रखने के लिए कहा जा रहा था--क्या अपनी भूख की टीस को ? या शायद अपने चीखते बच्चों को ? या उस सरकार के विरुद्ध अपने रोष को जिसने पेट भरने के लिए उन्हें खाना देने की बजाय भाषण पिलाये हैं ? श्रीमती गांधी का यह कहना सही हो सकता है कि खाद्यान्नों की कमी नहीं है, लेकिन खाद्यान्न जनता तक पहुँच नहीं पा रहे थे। उनके पास इतना पैसा नहीं था कि बाज़ार में जो दाम माँगे जा रहे थे, वे दे सकें और जब वे बड़े जमींदारों या व्यापारियों के गोदामों में छिपाकर रखे अनाज को लूटने जाते थे तो उन्हें गोलियों से भून दिया जाता था। गुजरात में अहमदाबाद, सूरत और बड़ौदा में दंगे ज़ारी रहे। २१ फरवरी १९७४ को हिन्दी के एक दैनिक समाचारपत्र 'आर्यावर्त' ने स्वतंत्र भारत में स्थापित एक नया रिकॉर्ड प्रकाशित किया : केवल एक दिन में पुलिस ने ३४ स्थानों पर गोली चलायी, जिसमें कम-से-कम ५ लोग मारे गये और अनेक घायल हुए। १९७४ के बाद यह पहला अवसर था जब एक दिन के अन्दर इतने स्थानों पर गोली चलायी गयी।

जाड़े की ठंड और खुश्की जारी रही। रातों में चुपके से तैयार की गयी आग के गिर्द एक दूसरे से सटकर बैठे हम लोग बातचीत करती रहतीं और मैं अपनी जेल-संगिनियों के १९६६ के भीषण अकाल के संस्मरणों को सुनती। इन्हें सुनकर मैं फिर सोचने पर मजबूर हो जाती कि जीवन की दु:सह स्थितियों के बारे में मेरी कितनी कम जानकारी है। उन्होंने अकाल के बीच ज़िन्दगी गुज़ारी थी और अपने बच्चों को पाला था जब खाने की तलाश में उन्हें न जाने कितने मील तक भटकना पड़ता था, एक कटोरा खिचड़ी पाने के लिए दिन-दिन भर ईंट तोड़नी पड़ती थी और सड़क बनाने के लिए मिट्टी ढोनी पड़ती थी। उन्होंने अकाल के दिन देखे थे इसलिए व्यापक अकाल की फिर आशंका देखकर अपने परिवार के सदस्यों के बारे में उनका चिंतित होना आश्चर्यजनक नहीं था।

फ़रवरी में देख-रेख के लिए हमें एक छोटी बच्ची सौंपी गयी। उसकी माँ की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पिता एक कोयला मज़दूर था जिसने छँटनी हो जाने के बाद कोयला खान के मैनेजर के ऑफ़िस के बाहर भूख-हड़ताल शुरू कर दी थी। अनशन पर बैठने के पाँचवें दिन उसे गिरफ़्तार कर लिया गया और चूँकि उसके अलावा और कोई नहीं था जो उसकी तीन साल की बच्ची की देख-रेख कर सके, इसलिए उसे जेल में अपने साथ अपनी लड़की को भी रखने की अनुमति दी गयी। चीफ़-हैड वॉर्डर ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस लड़की को महिला वॉर्ड में रखा जाये। इस मज़दूर की बच्ची की हालत को देखना एक रहस्योद्घाटन ही था। उसका पेट बाहर की ओर निकला था जो शायद हमेशा स्टार्चयुक्त आहार

लेने के कारण था। उसके बाल एक-दूसरे से बेहद उलझे हुए थे और तेल, साबुन या पर्याप्त पानी न पाने के कारण बेहद गंदे थे और उसमें जुएँ पड़ गये थे। शरीर में तमाम छाले पड़े थे। हमने उसे खाना खिलाया, उसके बाल काटे और उसे नहलाया। एक औरत उसके लिए नये कपड़े लायी। सौभाग्यवश उसके पिता के साथ काम करने वालों ने जल्दी ही उसकी जमानत ले ली लेकिन कुछ ही दिनों के उसके साथ ने हमें एक बार फिर जेल के बाहर के लोगों की यातना भरी ज़िन्दगी की याद दिला दी।

जिन दिनों मैं जमशेदपुर जेल में थी, एक दिन रात की ड्यूटी के समय लेउनी को नींद आ गयी। शिकायत होने पर चीफ़-हैड वॉर्डर ने अपने आप ही जेलर से बात की ताकि लेउनी को सम्भावित मुअत्तली से बचाया जा सके। इसके बाद मैंने ग़ौर किया कि कई दिनों से लेउनी बहुत उदास-उदास रहती थी। एक दिन दोपहर बाद जब सिलाई करने के लिए हम दोनों साथ बैठी थीं, मैंने लेउनी से इस उदासी की वजह जाननी चाही। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब वह कुछ बताने की बजाय रोने लगी। अपने आँसू पोंछते हुए उसने बताया कि वॉर्डर उससे बार-बार कह रहा है कि नौकरी बचाने के बदले उसने अभी तक कुछ दिया नहीं। वह रुपया-पैसा नहीं चाहता था, वह चाहता था कि लेउनी उसके साथ सोये। एक दिन चीफ़-वॉर्डर ने उसके पति को रास्ते में रोका और कहा कि वह आज लेउनी को उसके पास भेज दे। उसके इरादों को जानकर लेउनी ने जाने से इनकार कर दिया। अब जब भी वह ड्यूटी पर आती थी या ड्यूटी से जाने लगती थी और यदि चीफ़-वार्डर उसे रास्ते में दिख जाता था तो वह उसे धमकाता था कि यदि उसने उसका कहा नहीं किया तो वह उसे नौकरी से निकलवा देगा। उसने तय कर लिया था कि चीफ़-वार्डर की धमकियों के आगे नहीं झुकेगी लेकिन उसे पता है कि इस आदमी का जेल में कितना प्रभाव है। इसलिए वह समझ रही थी कि वह उसे सचमुच नौकरी से निकलवा सकता है। वह यही सोचकर उदास रहती थी कि यदि नौकरी चली गयी तो परिवार का काम कैसे चलेगा।

लेउनी के प्रति चीफ़-हैड वार्डर का वही रवैया था जो तमाम अपेक्षाकृत परम्परावादी ब्राह्मण वॉर्डरों का आदिवासी महिला वॉर्डरों के प्रति था—वे इन महिला वॉर्डरों को बड़ी अवमानना की दृष्टि से देखते थे। उनकी अपनी पत्नियाँ बड़े सुरक्षित ढंग से मकानों में बंद रहती थीं और वे यह मान बैठे थे कि जो औरतें अपनी रोज़ी-रोटी के लिए काम करती हैं, उनके पास सतीत्व-जैसी कोई चीज़ ही नहीं होती। जवान वॉर्डर महिलाओं के प्रति उनकी अश्लील टिप्पणियों और उनके परोक्ष इशारों से अकसर मुझे बहुत चिढ़ होती थी। मैंने सुना था कि ऊँची जाति के हिन्दू पुरुष, जो कभी आदिवासी या हरिजन औरतों से विवाह करने की बात तो नहीं सोच सकते थे पर इन्हें अपने मनबहलाव का साधन मानते थे और जेल में मैंने जो कुछ देखा था उससे इस धारणा की पुष्टि ही होती थी।

जेल-कर्मचारियों के बीच जाति प्रथा तरह-तरह से काम करती थी। हालाँकि एक क़ानून के ज़रिए जेल कर्मचारियों में अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लोगों की एक निश्चित संख्या की भर्ती की जाती थी, लेकिन वॉर्डरों में से अधिकांश और कर्मचारियों में लगभग सभी ब्राह्मण या राजपूत होते थे। आदिवासी और हरिजन वॉर्डरों को लगभग हमेशा ही जेल में ऐसे कामों पर लगाया जाता था जो कठिन और अरुचिकर होते थे जबकि तथाकथित 'ऊँची जाति' के हिन्दुओं को लाज़िमी-तौर पर अस्पताल, भंडारघर या दुग्धशाला का इंचार्ज बनाया जाता था जहाँ

अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा कमाया जा सके।

मार्च के शुरू के दिनों में उच्चायोग का एक सचिव मेरे वकील के एक पत्र की प्रतिलिपि लेकर मेरे पास आया। पत्र की मूल प्रति मेरे पास भेजी जा चुकी थी हालाँकि वह मुझे मिली नहीं थी। पत्र में उसने लिखा था कि मेरा मुक़दमा अब शुरू होने वाला है और मुझे अन्य लोगों के साथ अपने बचाव के लिए इंतज़ाम करना चाहिए। लेकिन अभी मैं इस पर कोई ठोस क़दम उठाती कि बिहार में उपद्रव शुरू हो गए। क़ानून और व्यवस्था लागू करने के लिए पुलिस के एक-एक जवान को तैनात कर दिया गया। क़ैदियों को अदालत तक या दूसरी जेलों तक ले जाने के लिए पुलिस का एक भी जवान नहीं बचा। अगली सूचना तक के लिए अदालतों में पेशी का काम या तबादले का काम स्थगित कर दिया गया। दरअसल कुछ दिनों बाद अदालतों का काम-काज भी ठप पड़ गया। बिहार सचिवालय को प्रदर्शनकारियों ने घेर रखा था और कर्मचारियों को वे सचिवालय भवन के अन्दर आने-जाने नहीं देते थे—फलस्वरूप सचिवालय का काम-काज भी ठप हो गया। क़ीमतों में वृद्धि, बेरोज़गारी तथा भ्रष्टाचार के विरुद्ध इस आंदोलन का नेतृत्व छात्र कर रहे थे और वे शिक्षा प्रणाली में सुधार की माँग कर रहे थे।

हमारा मुक़दमा न शुरू हो सके, इसके लिए प्रारम्भ से ही कई बहाने बनाये जाते रहे, समूचे जमशेदपुर में चेचक का प्रकोप था और इससे जेल भी प्रभावित था; अधिकारियों ने वहाँ हमें रख पाने में असमर्थता व्यक्त की थी और कहा था कि मुक़दमे की कार्रवाई कहीं और की जाये; जज ने यह कहते हुए जेल में मुक़दमे की कार्रवाई से इनकार कर दिया कि जेल में बनाया गया कृत्रिम अदालत कक्ष वैसा नहीं है जैसा होना चाहिए; महा-निरीक्षक ने जमशेदपुर जेल के सभी कर्मचारियों के तबादले का आदेश दिया था क्योंकि वे भी खुजली के संक्रामक रोग के शिकार थे।

बाहर आंदोलन तेज़ होने के साथ ही महिला वॉर्डर हमारे पास खबरें लातीं कि बाज़ार बंद हो गये हैं, परिवहन तथा अन्य सेवाओं में लगे कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी और अवकाशप्राप्त समृद्ध लोगों का क़स्बा हज़ारीबाग पूरी तरह आंदोलन में शामिल हो गया है। लोग साँस रोके घटनाओं को देख रहे थे और हर रोज़ गर्मागर्म खबरें अफ़वाहों के रूप में सुनायी पड़ती थीं। गड़बड़ी के प्रथम संकेत मिलते ही सशस्त्र लौह टोपधारी पुलिस दस्तों को शहर भर में तैनात कर दिया गया था। हवा के किसी झोंके, किसी पक्षी के पंखों की फड़फड़ाहट, किसी ढोल की आवाज़ या नारे की डूबती आवाज़ से हम जान जाते थे कि जेल की इस निर्जीव एकरसता के बाहर क्या घटित हो रहा है। किसी वॉर्डर की सीटी की आवाज़, कोई चीख या किसी तेज़ आवाज़ के कान में पड़ते ही मेरी शिराएँ तन जातीं और मुझे लगता कि जिस अकथनीय घटना का मैं इंतज़ार कर रही थी वह आखिर घटित हो ही गयी। बताया जाता था कि पटना में सैकड़ों प्रदर्शनकारियों को गिरफ़्तार किया गया है। गुजरात में जनता की माँग को देखते हुए सरकार को इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। ऐसा लगता था कि अब फिर कभी जीवन सामान्य नहीं हो पायेगा।

हम लोगों के पास न तो कोई झाड़ू था, न मच्छर-मक्खियों को मारने का कोई साधन और न कोई कीटनाशक दवा ही थी—बहुधा पानी का भी हमें अभाव रहता था। गर्मियों में लू से मेरी कलम की स्याही तक सूख जाती थी। उन गर्म रातों में मैं दरवाज़े की सलाखों से सटकर सोती थी और अपने जलते शरीर से छू

कर जाती हुई हवा की ठंड महसूस करती थी। मेरी इच्छा होती कि फाटक के बाहर जाकर सो रहूँ या अपनी इस भट्ठी-जैसी जलती कोठरी को छोड़कर वहीं भी सो जाऊँ। कोठरी की दीवारें दिन भर सूरज की गर्मी सोखती रहतीं, दरवाजे की सलाखें भी इतनी गर्म रहतीं कि छूने की इच्छा नहीं होती और हमारा पथरीला फ़र्श भी जलता रहता क्योंकि दिन भर सूरज की किरणें इस पर गिरती रहती थीं। मैं भोर होने से काफ़ी पहले तक अपने को जगाये रखती थी ताकि लोगों के उठने से पहले कुछ घंटे शांत अकेले बिता सकूँ। मुझे अकेलेपन की ज़रूरत महसूस होती ताकि जो कुछ घटित हो रहा था उसके बारे में सोच सकूँ। अपनी कोठरी की किसी साथी क़ैदी के जगने से मुझे अतिक्रमण का बोध होने लगता था—ऐसा लगता था जैसे मेरी निजी नीरवता को भंग करने का उसे कोई हक़ नहीं था। कभी-कभी मैं अमलेन्दु के बारे में सोचती थी। मुझे उसका या अन्य किसी का जमशेदपुर से आने के बाद से कोई समाचार नहीं मिला।

पिछले छः महीनों से बारिश नहीं हुई थी। एक दिन मैंने द टाइम्स के कुछ अंकों को देखते समय एक समाचार पढ़ा कि दो महीनों तक बारिश न होने के बाद सफोल्क को सूखा क्षेत्र घोषित कर दिया गया। मैं यह सोचकर हैरान थी कि यदि ब्रिटेन की नदियाँ, कुएँ, तालाब, सोते तथा पानी के अन्य स्रोत सूख जायें—जैसा बिहार के कुछ ज़िलों में हुआ है—तो क्या हालत होगी।

उस वर्ष मैंने सात छात्राओं के साथ ईस्टर मनाया। सरकार-विरोधी आंदोलन के दौरान हज़ारीबाग में गिरफ़्तार महिलाओं के पहले जत्थे में ये छात्राएँ थीं। इनमें काफ़ी जीवन्तता और जुझारूपन था लेकिन बहुत थोड़े समय तक इन्हें जेल में रहना पड़ा। वे अच्छे मध्यवर्गीय परिवार की लड़कियाँ थीं और उन्हें जल्दी ज़मानत पर रिहा कर दिया गया। जाते समय उन्होंने वायदा किया था कि वे मुझसे ज़रूर मिलेंगी, पर मैं जानती थी कि उन्हें इसकी अनुमति कभी नहीं दी जायेगी।

मई के प्रारम्भ में ब्रिटिश वाणिज्य दूत—जिन्हें अब मेरे मामले की ज़िम्मेदारी दी गयी थी—मुझसे यह बताने आये कि वे छुट्टी पर इंग्लैण्ड जा रहे हैं और मेरे माता-पिता से मिलने की कोशिश करेंगे। मैं उनकी काफ़ी कृतज्ञ थी क्योंकि अब तक यदि कोई भी व्यक्ति छुट्टी बिताने इंग्लैण्ड गया था तो उसने मेरे ऊपर कभी यह अनुग्रह नहीं किया था। मैंने अपनी माँ के लिए दो तस्वीरें बनायी थीं, जिन्हें माँ तक पहुँचाने के लिए वह राज़ी हो गये। बाद में स्पेशल ब्रांच के इंस्पैक्टर ने उन तस्वीरों को 'जाँच' के लिए अपने पास रख लिया और उन्हें डाक से भेजने का वायदा किया। लेकिन वे तस्वीरें मेरी माँ तक कभी नहीं पहुँच सकीं।

वाणिज्य दूत ने इस बात की पुष्टि की कि जमशेदपुर जेल में 'ज़रूरत से ज़्यादा भीड़ और चेचक का प्रकोप' होने की वजह से मेरे मुक़दमे को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया है। उन्होंने यह भी बताया कि जिल डिमौक और रूथ फोर्स्टर के नेतृत्व में इंग्लैण्ड में मेरे मित्रों ने एक समिति बनायी है जो मेरी रिहाई के लिए आंदोलन करेगी। पिछले कई महीनों से मुझे इतनी अच्छी खबर सुनने को नहीं मिली थी।
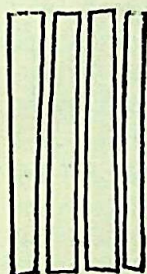
आंदोलन

बिहार के उन भीषण गर्मी भरे दिनों में सारे समाचारपत्र एक जैसी सनसनी-खेज़ खबरों से भरे रहते थे। पटना के अखबारों में दंगों, हड़तालों, प्रदर्शनों, गोलीकांडों, बीमारियों, महामारी और अकाल की खबरें रोज़ाना रहती थीं और वे इतनी आम हो गयी थीं कि हर रोज़ अखबार पढ़ते समय यही लगता था जैसे कल का पुराना अखबार पढ़ा जा रहा हो। मई १९७४ में रेल-मज़दूरों की हड़ताल ने विपक्ष से निपटने के केन्द्र सरकार के तरीक़े का एक नया रूप पेश किया। हड़ताल शुरू होने के एक सप्ताह पूर्व, जिस समय सरकार और यूनियन के बीच बातचीत सही अर्थों में चल रही थी, रेल मज़दूरों के नेताओं को एक दिन अचानक भोर में उनके घरों पर छापा मारकर अप्रत्याशित रूप से गिरफ़्तार कर लिया गया और अन्य लोगों के साथ कई हफ़्तों तक उनसे किसी का सम्पर्क नहीं होने दिया गया। मुझे नहीं पता कि सरकार सचमुच यह समझती थी कि इस कार्रवाई से हड़ताल रुक जायेगी, लेकिन सरकार का इरादा चाहे जो भी रहा हो इस हरक़त का जनता पर उलटा प्रभाव पड़ा। पूर्व निर्धारित समय पर हड़ताल शुरू हुई और बीस दिनों तक चलती रही। इस दौरान पचास हज़ार रेल मज़दूर जेलों में डाल दिये गये, धरना देने वालों पर पुलिस ने गोलियां चलायीं और रेल-मज़दूरों की पत्नियों तथा उनके परिवार के सदस्यों को पीटा गया, परेशान किया गया और उन्हें मकानों से निकाल बाहर किया गया। बाद में ट्रेनों को चलाने के लिए सेना की मदद ली गयी और हड़ताल को तोड़ने में सरकार को सफलता मिल गयी। हड़ताल के दौरान जो मज़दूर सरकार के प्रति 'निष्ठावान' थे उन्हें पुरस्कार के रूप में बोनस का भुगतान किया गया और उनके परिवार के सदस्यों को उन लोगों के स्थान पर नियुक्त कर दिया गया जो गिरफ़्तार किये गये थे या पुलिस की गोली के शिकार हुए थे।

दिन-रात हज़ारीबाग़ जेल में रेल-कर्मचारियों के नारे लगाने की आवाज़ें

गूँजती रहती थीं। मई में शुरू से लेकर आखिर तक हड़तालियों, छात्रों, वकीलों, अध्यापकों तथा अन्य बुद्धिजीवियों को आंतरिक सुरक्षा अधिनियम (मीसा) और भारत रक्षा अधिनियम (डी० आई० आर०) के अन्तर्गत गिरफ़्तार किया जाता रहा। जैसे-जैसे जेलों में क़ैदियों की संख्या बढ़ती गयी खाने-पीने के सामानों की दिक़्क़तें भी दिन-ब-दिन बढ़ती गयीं और जिन क़ैदियों को ढेर सारे काम करने पड़ते थे वे पहले की तुलना में ज्यादा कमज़ोर और थके दिखायी देने लगे। उनका कहना था कि उन्हें इतनी कठिन मेहनत करनी पड़ रही है कि हर रात उन्हें खाने, नहाने या सोने के लिए कुछ ही घंटे मिलते हैं। पटना में राज्य सरकार ने विस्फोटक स्थिति पर काबू पाने की कोशिश में अपने मंत्रिमण्डल में कुछ फेर-बदल की, लेकिन यह वैसे ही था जैसे शतरंज के खेल में कुछ मोहरों को इधर से उधर कर दिया गया हो। कहीं भी किसी तरह का बुनियादी परिवर्तन नहीं किया गया था।

जून शुरू होते-होते हम लोगों के साथ और दो महिलाएँ रख दी गयीं। इनमें एक प्रोफ़ेसर थीं और दूसरी किसी स्कूल की हैड मिस्ट्रेस। शुरू में तो वह प्रोफ़ेसर महिला मुझसे बात करने में हिचकिचाती थी क्योंकि उसकी धारणा यह थी कि नक्सलवादी हिंसा का प्रचार करते हैं लेकिन बाद में वह मुझे काफ़ी पसंद करने लगी। प्रोफ़ेसर महिला ने मुझे बताया कि वह अपने छात्रों का एक प्रतिनिधि-मण्डल लेकर प्रधानमंत्री से मिलने दिल्ली गयी थी ताकि बिहार की अत्यंत भीषण स्थिति से और व्यापारियों तथा बड़े किसानों की ज़खीरेबाज़ी के कारण अकाल के कगार पर खड़ी जनता के दुःख-दर्द से वह प्रधानमंत्री को अवगत करा सके। कई दिनों तक प्रतीक्षा करने के बाद श्रीमती गांधी उससे मिलने पर राज़ी हुईं। बिहार की स्थिति के बारे में इस प्रतिनिधि-मण्डल का बयान और जनता की मदद के लिए किये गये अनुरोध के जवाब में श्रीमती गांधी ने कहा कि ग़रीबी की यह खबरें बढ़ा-चढ़ाकर बतायी गयी हैं। उन्होंने कहा कि बिहार में कई सभाओं में मैंने देखा है कि भारी संख्या में लोग नये-नये कपड़े पहनकर और कंधे में ट्रांज़िस्टर लटकाकर घूमते हैं।

श्रीमती गांधी से इस तरह की बातें सुनने के बाद ही मेरी वह प्रोफ़ेसर मित्र अपने छात्रों के साथ पटना लौट आयी और उसने फ़ैसला किया कि १४ मई के विशाल प्रदर्शन में वह भाग लेगी। यह प्रदर्शन ही सही अर्थों में उस आंदोलन की शुरुआत था जो समूचे बिहार में फैल गया और सरकार की तमाम कोशिश के बावजूद वर्ष के शेष महीनों में वह निरंतर तेज होता चला गया। उस महिला प्रोफ़ेसर ने मुझे बताया कि किस तरह उस दिन सचिवालय के बाहर प्रदर्शन कर रहे छात्रों पर पुलिस ने अपनी जीपें दौड़ा दी थीं और शांतिप्रिय प्रदर्शनकारियों के खून से पटना की सड़कें रँग उठी थीं।

दूसरी महिला क़ैदी जैन सम्प्रदाय की थी और वह सभी जीव-जन्तुओं का बहुत सम्मान करती थी। ज़मीन पर चलते समय उसकी निगाह हमेशा नीचे की तरफ़ झुकी रहती थी ताकि पैरों के नीचे कहीं कोई चींटी या कोई औरकीड़ा न आ जाये। मैंने ग़ौर किया था कि जब भी वह मेरी कोठरी में आती थी फ़र्श पर मरी पड़ी मक्खियों को देखकर उसका चेहरा अरुचि से भर जाता था। उसने अपनी चारपाई पर कीटनाशक दवाओं को छिड़कने से मना किया था और चारपाई के सूराखों में छिपे खटमलों को मारने से बेहतर वह यह समझती थी कि वे रात में उसका खून चूसें। वह एक धनी परिवार की थी और उसे कभी अपने घर पर इस तरह की

कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा था। शायद यही कारण था कि वह धर्म के प्रति अपनी निष्ठा बनाये रख सकी थी।

सरकार-विरोधी प्रदर्शन में इन अपेक्षाकृत समृद्ध मध्यवर्गीय परिवार की महिलाओं के शामिल होने के पीछे क्या उद्देश्य था—मैंने इसका विश्लेषण करने की कोशिश की। ये औरतें अन्य क़ैदियों के प्रति सद्भावनापूर्ण होने के बावजूद उन्हीं पुरानी धारणाओं का शिकार थीं कि शारीरिक श्रम एक अपमानजनक काम है और ग़रीब तथा अपढ़ लोग उनकी सेवा करने और उनके आदेशों का पालन करने के लिए बनाये गये हैं। ये औरतें अन्य औरतों की समस्याओं में शामिल होने की अपनी ज़िम्मेदारी नहीं महसूस करती थीं। इसी मुद्दे पर वे कल्पना या वीना से भिन्न थीं। इन औरतों ने कभी यह भी नहीं सोचा कि उनके पास ज्ञान का जो भंडार है उससे वे अपने आस-पास रहने वाली औरतों को लाभान्वित करें। मैंने देखा था कि बहुधा वे भारत के गौरवशाली अतीत के बारे में बातें किया करती थीं और इस नतीजे पर पहुँचती थीं कि वे सही अर्थों में देश-भक्त हैं क्योंकि वे भारत के सम्मान पर कोई आँच आने देना नहीं चाहतीं और अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उसके भिखारी रूप से और भ्रष्टाचार से सराबोर रूप से उन्हें नफ़रत है। उन्होंने आंदोलनों में इसलिए हिस्सा लिया था ताकि वे स्थानीय व्यापारियों के गोदामों में ग़लत ढंग से जमा की गयी चीज़ों को बाहर निकाल सकें। उनके खयाल से यह एक बड़ी शर्मनाक बात थी कि अनाज उपलब्ध होने के बावजूद जनता भूख से मर रही थी। अपने इन कार्यों के लिए वे जेलों में पड़ी थीं और उन पर आरोप लगाया था कि जनता को विद्रोह करने के लिए उन्होंने भड़काया। उस वर्ष गर्मियों में बिहार में हज़ारों की संख्या में जो लोग गिरफ़्तार हुए थे उनमें से भी ये दोनों महिलाएँ थीं। तमाम आंदोलनकारियों के साथ इन्हें भी उच्च न्यायालय में अपील करने पर रिहा कर दिया गया। बाद के महीनों में उस प्रोफ़ेसर महिला को तीन बार गिरफ़्तार किया गया।

अपने आपसी मतभेदों के बावजूद मुझे उसके साथ रहने में काफ़ी मज़ा आया और उसके जेल-प्रवास के अनेक फ़ायदे भी थे। जेल के ऑफ़िस में वह अपने छात्रों के साथ बैठकर घंटों बातचीत किया करती थी और बातचीत का उसका यह क्रम वापस जेल के अन्दर तथा जेल कर्मचारियों के साथ भी चलता रहता। इन सारी बातों को वह अंत में मुझसे बता देती थी। मेरे लिए यह एक खास दिलचस्प बात थी कि स्पेशल ब्रांच से लोगों ने उसे मुझसे घनिष्ठता क़ायम न करने की और मुझे कोई बात न बताने की हिदायत दी थी। उन्होंने कहा था कि मैं एक खतरनाक औरत हूँ और जब मुझे गिरफ़्तार किया गया था उस समय मेरे पास एक पिस्तौल और रिवाल्वर थी। मेरी इस स्थिति को देखते हुए वह सहायक जेलर मेरे लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण हो गया था जो देखने में बहुत रूखा और दुर्भावपूर्ण लगता था लेकिन मेरी चिट्ठियाँ लाने, ले जाने की ज़िम्मेदारी उसी पर थी। उसने एक दिन प्रोफ़ेसर महिला को बतलाया कि मेरे कई पत्रों को अब तक वह फाड़कर फेंक चुका है। वैसे तो मुझे यह पता था कि मेरे द्वारा लिखे गये या मेरे पास भेजे गये पत्रों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पा रही है, लेकिन उन पत्रों का क्या किया गया इस बारे में मुझे पहली बार कुछ निश्चित रूप से पता चला।

उन गर्मियों में बहुत दिनों से बंद पड़े पास के रिफ़ॉर्मेटरी स्कूल को दोबारा खोला गया ताकि उसमें क़ैदियों को रखा जा सके और इस स्कूल को 'हजारीबाग़ स्पेशल जेल' नाम दिया गया। लगता था कि आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए

असंख्य लोग चले आ रहे हैं। गिरफ़्तारियाँ जारी रहीं। आंदोलन के बारे में मैं तरह-तरह से सोचा करती थी। आंदोलनकारियों की माँगें न्यायोचित थीं फिर भी मैं यह सोचती थी कि इनमें से अधिकांश इसलिए आंदोलन में शरीक हुए हैं क्योंकि साबुन से लेकर चीनी तक हर सामान की ज़बर्दस्त कमी के कारण और क़ीमतों में बेतहाशा वृद्धि के कारण अब ख़ुद मध्य वर्ग तकलीफ़ उठा रहा है। मुझे इस बात में संदेह था कि यदि उनकी तात्कालिक माँगें पूरी कर दी गयीं तो क्या वे उस विशाल जनता के लिए अपना संघर्ष जारी रखेंगे जो आर्थिक संकट के इतना उग्र रूप लेने के काफ़ी पहले से भुखमरी के स्तर का जीवन बिता रही है। यहाँ तक कि जेल में भी जब वे अपनी स्थितियों में सुधार के लिए बड़े जुझारूपन के साथ आंदोलन करते थे उस समय उनके अनेक साथी अन्य क़ैदियों की ओर भी बदतर हालत से अपनी आँखें बंद किये रहते थे।

क़ैदी महिलाएँ उन्हें 'आंदोलनकारी' कहती थीं और उनके बारे में अजीबोग़रीब बात सोचा करती थीं। उनका कहना था कि आंदोलन वाले लोग जत्थे-के-जत्थे में आते रहते हैं, अच्छा खाना और कपड़े के लिए माँग करते हैं और अधिक से अधिक कुछ सप्ताह बिताकर अधिकारियों से जो कुछ भी मिल पाता है उसे लेकर चल देते हैं। अन्य क़ैदी प्रायः मुझसे कहा करते थे कि ये लोग कभी ग़रीबों के लिए कुछ कर नहीं पायेंगे। मैंने महसूस किया कि खुले तौर पर इनकी आलोचना करना ग़लत होगा, लेकिन साफ़ शब्दों में यह भी कह दिया कि स्पष्ट राजनीतिक विचार-धारा के बिना स्वतःस्फूर्त ढंग से चलने वाला इस तरह का आंदोलन भारत की समस्याओं का अंतिम तौर पर कोई समाधान ढूँढ़ सकता है—इसमें संदेह है। फिर भी आंदोलन के दौरान इसमें भाग लेने वाले छात्रों का बड़ी तेज़ी से राजनीतिकरण हुआ और उनमें जुझारू चेतना विकसित हुई। उनकी सहानुभूति के कारण ही उस वर्ष गर्मियों में नक्सलवादी बंदियों के पैरों में से बेड़ियाँ अलग की गयीं। इन छात्रों ने नक्सलवादी बंदियों की भूख-हड़ताल के समर्थन में जेल-अधिकारियों से बातचीत की और नारे लगाये, लेकिन यह विजय बड़ी अल्पकालिक थी। वर्तमान स्थिति को देखते हुए सुरक्षा प्रबन्ध में ढील देने के बजाय और भी ज़्यादा सख़्ती किया जाना अनिवार्य था और इसीलिए लगभग पन्द्रह दिनों बाद हज़ारीबाग़ से कुछ सौ मील दूर मुजफ्फरपुर जेल में क़ैदियों द्वारा जेल तोड़ने की एक कोशिश के फलस्वरूप हज़ारीबाग़ के नक्सलवादी बंदियों के पैरों में फिर बेड़ियाँ डाल दी गयीं।

जेल से बाहर समूचे राज्य में रोज़ ही उथल-पुथल वाली घटनाएं होती थीं और पुलिस तथा सेना के दस्ते इन उपद्रवों से निपटने के लिए पूरी तरह जुट गये थे। नक्सलवादियों पर वे पहले की ही तरह ध्यान दे रहे थे। एक दिन हमें मिलने वाले दैनिक समाचारपत्र के मुख्य शीर्षक को देखने से नक्सलवादी आंदोलन की प्रगति की जानकारी मिली। अखबार के शीर्षक को सेंसर ने काली स्याही से अपठनीय बनाने की कोशिश की थी लेकिन दो इंच की लम्बाई-चौड़ाई के अक्षरों को हम बड़ी आसानी से पढ़ गये : **भोजपुर में नक्सलवादी चुनौती का मुक़ाबला करने में सरकार असमर्थ।** इसके कुछ ही सप्ताह बाद और भी खबरें आयीं—नक्सलवादियों ने पश्चिमी बिहार में भोजपुर जिले के हरिजनों और भूमिहीन किसानों के बीच अपनी अच्छी पैठ बना ली है और अपने अच्छे हमदर्द पैदा कर लिये हैं। कहा जाता था कि आंदोलन में भाग लेने वाले छात्र नक्सलवादियों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं और मिलकर काम कर रहे हैं।

९ जून को पटना में एक बहुत बड़ा प्रदर्शन होने वाला था। प्रदर्शन की निर्धारित तिथि से एक दिन पूर्व अर्थात् ५ जून को वे अर्धसैनिक टुकड़ियाँ, जिन्हें स्थिति को नियंत्रण में लाने के लिए तैनात किया गया था, शहर की मुख्य सड़कों से गुज़रीं। ऐसा लगता था कि वे जनता को अपनी ताक़त का एहसास कराना चाहते थे और यह बताना चाहते थे कि वे संघर्ष के लिए तैयार हैं। पटना जाने वाली सड़कों की नाक़ेबंदी कर दी गयी, रेलगाड़ियों को रोक दिया गया और नावों आदि को भी रोक दिया गया। तमाम लोग इस स्थिति की पहले से कल्पना करके कई दिन पहले ही शहर में प्रवेश कर चुके थे। अन्य लोग मीलों पैदल चलकर प्रदर्शन में भाग लेने पहुँचे थे। काफ़ी एहतियात बरतने के बावजूद उस दिन एक लाख लोगों ने अपना विरोध व्यक्त किया और राज्य सरकार के इस्तीफ़े की माँग की तथा विधान सभा भंग किये जाने की आवाज़ उठायी। जेल में हम इस बात का इंतज़ार कर रहे थे कि पुलिस द्वारा गोली चलाये जाने और लोगों के मारे जाने की खबरें आयेंगी लेकिन सब-कुछ बड़े शांतिपूर्ण ढंग से हो गया।

दूसरी तरफ़ जुलाई में, जेल में मनाया जाने वाला मेरा पाँचवाँ जन्मदिन बड़े अशांत वातावरण में सम्पन्न हुआ। रिफ़ार्मेटरी जेल में दंगे हो गये थे और बंदियों ने जेल के तमाम कागज़ात जला दिये थे। वे अपनी हालत में सुधार की माँग कर रहे थे। बंदियों से निपटने के लिए बिहार मिलिटरी पुलिस को बुलाया गया था। पटना के पास फुलवारी शरीफ़ कैम्प जेल में वार्डरों और क़ैदियों के बीच हुई मुठभेड़ों में १८ व्यक्ति घायल हुए थे और भागलपुर जेल में बंदी छात्रों को वॉर्डरों ने पीटा था। हमारी अपनी जेल में भी इन घटनाओं की दहशत के भरे समाचार पहुँचने लगे थे। एक बार फिर हमारे कमरों की ज़बर्दस्त तलाशी ली जाने लगी। मैं नहीं समझती थी कि इस तलाशी के दौरान वे सचमुच कुछ पाने की आशा कर रहे थे बल्कि सरकार का विरोध करने के कारण लोगों को सज़ा देने के लिए वे तलाशी का कार्यक्रम चला रहे थे।

इस उथल-पुथल के बीच अब इस बात की और भी कम आशा हो गयी थी कि हमारा मुक़दमा कभी शुरू होगा। जमशेदपुर से यहाँ आये एक वॉर्डर ने हमें बताया कि जमशेदपुर जेल में एक हज़ार से भी अधिक क़ैदी पड़े हुए हैं। जिस कोठरी में मैं रहती थी उसमें तीस बूढ़े व्यक्तियों को बंद कर दिया गया था। हमारे लिए जो अदालत-कक्ष बनाया गया था, उसमें दो सौ क़ैदियों को बंद रखा गया था।

प्रोफ़ेसर के कमरे के ठीक बग़ल वाली कोठरी में एक-दूसरे मीसा बंदी को रखा गया था। यह बंदी सोशलिस्ट पार्टी की एक भूतपूर्व संसद-सदस्या थी। वह एक ज़मींदार घराने की महिला थी और उसने अपने खेतों को आधुनिक कृषि यंत्रों से सज्जित कर लिया था। बक़ौल उसके, खेती से होने वाली आय प्रति वर्ष ५० हज़ार रुपये थी। एक दिन उसने हमारी कोठरी के सामने के बगीचे की तरफ़ हाथ फैलाते हुए कहा, "क्या तुम इसे जेल कहती हो ? यह जेल नहीं है। अपनी शादी के बाद के शुरू के आठ वर्षों में मुझे अपने मकान के पीछे के दो कमरों और एक छोटे-से आँगन तक ही सीमित रहना पड़ा था।" विवाह के बाद का उसका अधिकांश समय सम्पन्न वर्ग की अनेक परम्परावादी हिन्दू औरतों की तरह ही परदे में बीता था। सौभाग्य से उसके पति ने अपने पिता की मृत्यु के बाद उसे मकान से बाहर क़दम रखने की इजाज़त दे दी और बाद में उसे राजनीति में हिस्सा लेने दिया।

यह औरत एक धर्मपरायण हिन्दू महिला थी और प्रतिदिन आँगन में टहलते समय हाथ में कोई धर्म-ग्रंथ लेकर काफ़ी समय तक पढ़ती रहती थी। मैं उसकी शांतिप्रियता की प्रशंसा करती थी लेकिन अधिकांश दूसरे राजनीतिक वंदियों की तरह वह हमारे प्रति हमदर्द होते हुए भी बहुत अलगाव में रहती थी और दूसरी औरतों के साथ घुलती-मिलती नहीं थी। अपने पहनावे में वह आडम्बरों से दूर थी हालाँकि उसकी साड़ी अत्यन्त उत्तम कोटि की हैंडलूम की बनी थी। वह बहुत थोड़ा खाती थी लेकिन जो भी खाती थी वह बहुत पौष्टिक और उत्तम होता था। कुछ वर्ष पहले वह एक संसदीय प्रतिनिधि-मण्डल के साथ इंगलैण्ड की यात्रा कर चुकी थी और उसने मुझे बताया कि इंगलैण्ड से वापस आते समय वह अपने साथ एक टेलीविजन सैट लेती आयी थी। यह सैट उसके गाँव के मकान में वैसे ही रखा हुआ है क्योंकि दिल्ली और पंजाब के कुछ हिस्सों को छोड़कर और कहीं भी टेलीविजन की सेवा नहीं है। मुझे यह वैभव और प्रतिष्ठा का अत्यन्त मनोरंजक प्रतीक लगा।

मार्च से अगस्त के बीच मैंने न तो अपनी डायरी में एक शब्द लिखा और न अपने परिवार के लोगों के पास ही कोई खत लिखा। मेरा दिमाग़ इतना परेशान था कि मैं किसी भी चीज़ पर ध्यान नहीं जमा पाती थी। ऐसा अवसर एक ही बार आया जब मैं लिखने के लिए बेचैन हो गयी और यह उस समय हुआ जब उस वर्ष मई में भारतीय वैज्ञानिकों ने परमाणु-विस्फोट किया। इस घटना की विडम्बना से मुझे बहुत रोष आया। भारत में लोग भुखमरी के शिकार हो रहे थे, देश के केवल बीस प्रतिशत हिस्सों में ही सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी, रोगों का बोलबाला था और ऐसा लगता था कि इन पर नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। विश्व के देशों में भारत सबसे ज्यादा कर्जदार की स्थिति में था, अधिकांश गाँवों में बिजली की तथा अधिकांश शहरों में पानी की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी, सत्तर प्रतिशत से ज्यादा आवादी निरक्षर थी और इन स्थितियों में परमाणु-विस्फोट किया जा रहा था तथा 'उपलब्धि' का दम भरा जा रहा था। सही तौर पर उपलब्धि उसी को मानेंगे जब इस परमाणु-विस्फोट से जनता का कोई फ़ायदा हो।

जुलाई में एक दिन एक महिला वॉर्डर ने मुझको बताया कि पुलिस ने एक नक्सलवादी क़ैदी को गिरफ़्तार करके उसे खौलते हुए पानी में डाल दिया। एक क़ैदी ने सुना कि जेल-सुपरिंटेंडेंट जेल के डॉक्टर को इसलिए डाँट रहा था क्योंकि उसने बीमार नक्सलवादियों को मँहगी दवाएँ दी थीं और इस प्रकार उन्हें सरकार के खिलाफ़ लड़ने के लिए मज़बूत बनाया था। कलकत्ता की प्रेज़ीडेंसी जेल में, जहाँ कल्पना को रखा गया था, महिला नक्सलवादियों के ऊपर अत्याचार किये जाने के बारे में अखबारों में खबरें छपी थीं। कलकत्ता की तीन जेलों में ४२ नक्सलवादियों ने लगभग एक महीने तक भूख-हड़ताल की और वे यह माँग करते रहे कि उनकी स्थितियों में सुधार किया जाये। मैंने महसूस किया कि १९७१ में भी इसी तरह की तनावपूर्ण स्थितियाँ थीं और अखबारों में यह पढ़कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि अब फिर पुलिस के साथ हुई 'मुठभेड़ों' में नक्सलवादियों को मारा जा रहा है।

अगस्त के शुरू के दिनों में हमें अपनी सब्ज़ी की क्यारी के पास की झाड़ियों में एक बिल्ली का बच्चा मिला। मैं उसे उठा लायी और अपनी कोठरी की सलाखों से

उसे बाँध दिया। मैं उसे पालने की सोच रही थी। मैं समझती थी कि यदि इसे पालतू बना लिया गया और यह हमारे साथ रहने लगी तो चूहों को मारकर खा जायेगी, जो काफ़ी बड़ी संख्या में हर साल हमारे आलू, टमाटर, सेम और मक्का आदि खा जाते हैं। मैंने उस बच्चे को दस दिनों तक बाँध रखा और हर रात उसकी माँ उसे दूध पिलाने आती रही। हर बार अपनी माँ से मिलने पर वह बच्चा बहुत दुखी स्वर में रोता रहता। आँगन के उस पार मोती की कोठरी थी और वह बिल्ली के बच्चे की चीख पर बहुत ध्यान देती थी। उसे यह विश्वास हो गया था कि यह बच्चा कोई चुड़ैल है और भेष बदलकर आया है। यह उसका खयाल तब और पुष्ट हो गया जब बच्चे की माँ यानि बड़ी बिल्ली एक रात मोती की कोठरी में घुस गयी और तश्तरी में पड़ी कुछ चपातियाँ लेकर भाग गयी। इसके अलावा हम लोग इस बच्चे पर जितना ध्यान देते थे और उसे खाने-पीने के लिए जो कुछ देते थे उससे मोती को बहुत ईर्ष्या होती थी। हर रोज़ उसका गुस्सा बढ़ता जा रहा था और वह अक्सर मेरी कोठरी के बाहर खड़ी होकर घंटों मेरी तरफ़ और उस बिल्ली के बच्चे की तरफ़ गुस्से से घूरती रहती थीं।

एक दिन सवेरे मैं अपना बर्तन मलने नल तक गयी थी और बर्तन मलकर अपनी कोठरी की तरफ लौट ही रही थी कि तभी मुझे बड़ी भयानक चीख सुनायी पड़ी। अपनी अल्यूमीनियम की तश्तरी फेंककर मैं तेज़ी से सीढ़ियों की तरफ़ बढ़ी। मैंने देखा कि मोती अपनी गोद में उस बच्चे को लेकर बैठी है और उसके हाथ बच्चे की गर्दन के गिर्द जमे हुए हैं—वह उसका गला घोंट देना चाहती थी। मुझे देखते ही उसने फ़ौरन बच्चे को छोड़ दिया और खीसें निकालती हुई बहुत भोलेपन का नाटक करते हुए वह बोली, "मैं तो बस इसे सहला रही थी। देखो न यह कितना प्यारा है।" मैं समझ नहीं पायी कि मैं क्या करूँ। वह बच्चा अब इतना पालतू हो गया था कि उसे मैं मार नहीं सकती थी। दूसरी तरफ़ यदि मैं उसे अपने पास रखती हूँ तो बहुत सम्भव है कि मोती उसे फिर मार डालने की कोशिश करे। मैंने फ़ैसला किया कि फ़िलहाल इस सिलसिले में मैं कुछ न सोचूँ और साथ ही यह भी आशा की कि धीरे-धीरे मोती का गुस्सा ठंडा पड़ जायेगा।

लेकिन बरसात के मौसम की गर्मी और नमी तथा बिल्ली के बच्चे से पैदा चिढ़ के कारण मोती का गुस्सा और बढ़ता ही गया। अक्सर ऐसा होता कि वह इकट्ठा किये गये अपने सारे सामान, जैसे चिथड़ों, हेयरपिनों, कान की बालियों, रिबनों, रस्सी के पुराने टुकड़ों, मटर के सूखे दानों, मुड़ी-तुड़ी कीलों को वह बाँध लेती और फाटक तक पहुँच जाती। वहाँ खड़ी होकर वह लोहे की सलाखों को बड़ी देर तक ठोकती रहती और बाहर जाने की माँग करती। वह कहती कि "अब मैं घर जा रही हूँ। तुम कब तक मुझे यहाँ रखना चाहते हो ? मैं अपने गाँव जा रही हूँ और दरवाजा खोल दो। मैं अब चली !" वह ज़ोर-ज़ोर से चीखती। एक रात की बात है—वह अपना सारा सामान हर बार की तरह बाँधकर जाने की तैयारी करने लगी। जैसे ही चीफ़ हैड वॉर्डर हमारी गिनती करके बाहर निकला वह भी उसके पीछे-पीछे जाने लगी। मैंने यह सोचा कि वॉर्डर अभी उसे देख लेगा और 'भागने' की कोशिश के जुर्म में उसे मारने लगेगा। यह खयाल आते ही मैंने उसे रोकने की कोशिश की लेकिन वह तो मुझसे पहले से ही नाराज़ थी इसलिए उसने पलटकर मेरी कलाई मरोड़ दी। दुर्भाग्यवश वॉर्डर ने उसे ऐसा करते देख लिया। उसने मुड़कर अपनी छड़ी से मोती को मारने की कोशिश की। फ़ौरन ही मोती नीचे झुक गयी और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगी, "नहीं मालिक, मुझे मत

मारो।" लेकिन वॉर्डर ने अपनी छड़ी चलानी शुरू कर दी थी और वह लगातार उसे मारता जा रहा था। इसके बाद उसे धक्के देते हुए वह कोठरी के अन्दर ठेलने लगा। यह बड़ा दर्दनाक दृश्य था। मोती बार-बार गिड़गिड़ा रही थी और उसका पैर छूने के लिए झुक रही थी तथा भीख माँगने के अंदाज़ में उससे कह रही थी कि अब मारना बंद करे लेकिन ऐसा लगता था कि वॉर्डर के सर पर भूत सवार हो गया था। आखिरकार हमने किसी तरह हस्तक्षेप किया और उसे रोका, लेकिन तब तक वह कम-से-कम बीस बेंत मोती के हाथ, पैर और पीठ पर जड़ चुका था। वह घिसटती हुई अपनी कोठरी में गयी और किसी चोट खाये कुत्ते की तरह लगातार चीखती और कराहती रही। उसके समूचे बदन पर चोट के निशान पड़े हुए थे और दो दिनों तक उससे चला नहीं जा रहा था। जब भी वह वॉर्डर की आवाज़ सुनती, अपनी कोठरी के कोने में दुबक जाती और चारों तरफ़ से अपने ऊपर कम्बल डाल लेती। अकेले शौचालय जाने में भी उसे डर लगता था और जब तक कोई उसके साथ नहीं जाता वह उस तरफ़ भी नहीं जाती थी। वह बराबर मुझसे कहती रहती कि "बेटी, देखना मुझे अब वह फिर न मारे।" मैंने उससे वायदा किया कि ऐसा नहीं होने दूंगी।

इस सारी घटना के लिए मैंने खुद को दोषी ठहराया। न मैं बिल्ली का बच्चा पालती और न मोती को गुस्सा आता और न वॉर्डर उसे मेरी कलाई मरोड़ते हुए देखता। इसके अलावा मैं वॉर्डर को मोती पर बेंत चलाने से रोक भी नहीं सकी थी। मेरी स्थिति यह हो गयी थी कि अब मैं जब भी उस वॉर्डर की तरफ़ देखती तो मेरी आँखों में ज़बर्दस्त नफ़रत होती। फिर भी यह सोचना बेकार था कि उसने यह महसूस किया हो कि मोती को मारकर कुछ ग़लत हुआ है। उसे केवल डंडे का क़ानून मालूम था। उसने कभी यह सपने में भी नहीं सोचा होगा कि क़ैदियों पर काबू पाने के लिए डंडे के अलावा भी कोई क़ानून या तरीक़ा हो सकता है। पुरुष और महिला वॉर्डरों में से किसी को भी जेल के क़ायदे-क़ानूनों के बारे में ठीक-ठीक जानकारी नहीं थी और उन्हें सतही तौर पर थोड़ी-सी क़वायद की ट्रेनिंग के अलावा और कुछ नहीं सिखाया गया था। इतने प्रशिक्षण के बाद उन्हें जेल की नौकरियों में भर दिया गया था और उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि अपने ऊँचे अफ़सरों की चिंता किये बग़ैर वे जैसे भी चाहे क़ैदियों को शांत रखें। उनसे कभी यह नहीं पूछा जाता था कि इस काम के लिए वे कौनसे तरीक़े अपना रहे हैं।

लगभग उन्हीं दिनों की बात है जब चीफ़ हैड वॉर्डर का बहुत प्रिय किन्तु जेल के ऑफ़िस में काम करने वाला एक अत्यन्त दुष्ट आदमी चौदह दिन की पैरोल पर बाहर निकला। बताया जाता है कि वह अपने साथ नौ हज़ार रुपये लेकर गया जिसे उसने ग्यारह महीनों की अवधि में बचाया था। वॉर्डर महिलाएँ प्रतिमाह दो-सौ रुपये से अधिक कमा रही थीं और जेलर की तनख्वाह एक हज़ार रुपये से भी कम थी। उस व्यक्ति द्वारा नौ-हज़ार रुपये कमाये जाने की खबर के साथ ही मुझे यह भी पता चला कि जेल के इस भ्रष्ट ढांचे में जो मेट ठीक नहीं बैठते थे, उनकी क्या हालत होती थी। अस्पताल से खाना और दवाएँ लेकर मरीज़ों के पास हर शाम जो क़ैदी आते थे उनमें रमेश नाम का एक क़ैदी था जिसे महिलाएँ बहुत पसंद करती थीं क्योंकि वह अन्य क़ैदियों के विपरीत बड़ी ईमानदारी के साथ डॉक्टर के बताये नुस्खे के अनुसार दवाएँ लाकर रोगियों तक पहुँचा देता था। उससे जबभी किसी ने उसकी जाति पूछी तो उसने यही जवाब दिया, "मेरी जाति मनुष्य

जाति है। और आप क्या जानना चाहती हैं?" एक दिन उसने मुझे इशारे से बुलाया और कहा, "दीदी, अब मैं कल से नहीं आऊँगा। मैं अब जेल के बगीचे में काम करने जा रहा हूँ।" उसकी आँखों में आँसू थे। मैं जानती थी कि कुछ ही सप्ताह के अन्दर उसकी रिहाई होने वाली है और जेल में प्राप्त अपनी जानकारी का लाभ उठाकर वह रिहा होने के बाद एक डिस्पेंसरी खोलना चाहता है। इसलिए मेरी समझ में यह बात नहीं आयी कि उसे अस्पताल का काम छोड़कर बगीचे का काम करने में क्यों रुचि हो गयी। लेकिन ड्यूटी पर तैनात वॉर्डर हमें देख रहा था और मैं उससे कुछ पूछ नहीं सकी।

जेल के सारे घोटालों को जानने में मुझे ज्यादा समय नहीं लगा। अगले ही दिन हमें कुछ अन्य क़ैदियों ने बताया कि अस्पताल में रमेश के किसी प्रतिद्वंद्वी ने चीफ़ हैड वॉर्डर को घूस दिया था कि रमेश का तबादला किसी और विभाग में कर दिया जाये क्योंकि उसकी ईमानदारी से दूसरों की 'आमदनी' मारी जाती थी। बाद में हमारे वॉर्ड में जब डॉक्टर आया तो हमने उससे कहा कि रमेश की ओर से वह जेलर से बातचीत करे लेकिन डॉक्टर ने इन्कार में अपना सर हिला दिया और कहा, "आप लोग मुझसे क्या कराना चाहती हैं? मुझे अस्पताल में उसकी ज़रूरत है। वह अच्छा काम करता है लेकिन उसका तबादला चीफ़ हैड वॉर्डर और स्वयं जेलर ने किया है। यदि मैं इस सिलसिले में कुछ कहता हूँ तो उन्हें मेरा भी तबादला करने का एक बहाना मिल जायेगा।" हमने कुछ दिनों तक इन सारी घटनाओं पर आधे मन से विरोध किया और अस्पताल से मिलने वाली दवाओं तथा अन्य चीजों को लेने से इंकार कर दिया लेकिन किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया कि हम दवाएँ ले रही हैं या नहीं ले रही हैं। अन्ततः हमने खुद ही अपना विरोध-प्रदर्शन बंद कर दिया। हालाँकि मैं रमेश की मदद करना चाहती थी लेकिन उसकी ओर से कुछ भी कहने से डरती थी। मुझे पता था यदि मैंने उसके प्रति ज्यादा चिंता दिखायी तो अधिकारियों को संदेह हो जायेगा और शायद वे रमेश को भी नक्सलवादी करार दें। यदि ऐसा हुआ तो जेल की शेष ज़िन्दगी उसे बेड़ियों में गुज़ारनी पड़ जायेगी।

हमने फिर रमेश को तब तक नहीं देखा जब तक उसकी रिहाई का दिन नहीं आ गया। उस दिन सवेरे उसने अपने ऊपर खतरा मोल लिया और हम लोगों से भी विदा लेने के लिए हमारे वॉर्ड में आया। हमें यह भी पता नहीं था कि उसका पूरा नाम क्या है और उसे किस लिए सज़ा दी गयी है लेकिन हम उसे अपना एक बहुत प्यारा दोस्त मानती थीं। जेल के अन्दर किसी की मुस्कान, किसी के दो-चार मीठे बोल या सद्भाव-प्रदर्शन जेल के बाहर की तुलना में, जहाँ बिना किसी रोक-टोक के आप मानवीय सम्बन्ध क़ायम कर सकते हैं, कहीं ज्यादा अर्थपूर्ण होता है।

राजकुमारी की रिहाई और सोमरी के तबादले के बाद मेरी कोठरी में दुलाली और कोरमी नाम की दो नौजवान औरतें मेरे साथ रहने लगीं। दुलाली जाति की हरिजन थी और वह जमशेदपुर से कुछ ही दूरी पर ताँबे की एक खान में नौकरी करती थी। वहाँ उसका काम शौचालय की सफ़ाई करना था। उसे हत्या का प्रयास करने के जुर्म में गिरफ़्तार किया गया था और यह वारदात तब हुई जब उसके मकान के बाहर सड़क पर कुछ लोग लड़ रहे थे और उसने उन्हें रोकने की कोशिश की थी। उसकी उम्र ३५ से ज्यादा नहीं थी और वह जवान दिखती थी

लेकिन वह सात बच्चों की माँ थी। उसके सबसे बड़े लड़के की शादी हो चुकी थी। वह दुबली-पतली और बेहद मजबूत तथा अड़ियल औरत थी। उसने मुझे बताया कि दुर्भाग्यवश उसके पिता की सात बेटियाँ थीं जिसकी वजह से वह अपनी लड़कियों की 'अच्छी' शादी नहीं कर पाये। जो भी उन्हें मिलता गया उसी से वे अपनी लड़कियाँ ब्याहते चले गये। दुलाली की शादी जिस व्यक्ति से हुई थी उसकी उम्र काफ़ी थी और पहले से ही उसके पास एक पत्नी थी जिसे बच्चे नहीं हो रहे थे। सौभाग्य से वह व्यक्ति अपनी दोनों पत्नियों के प्रति काफ़ी भला था। दुलाली खुद अपने-आपको किसी भी मर्द से कम नहीं समझती थी और किसी तरह की बदतमीज़ी को वह बर्दाश्त नहीं करती थी। चूँकि वह और उसके पति दोनों काम करते थे और खान से लगे क्वार्टरों में रहते थे इसलिए उन्हें खाने-पीने की भी तकलीफ़ कभी नहीं हुई। उसने मुझे बताया था कि उसकी बहन को एक ही स्थान पर पच्चीस वर्षों तक काम करने तथा बोनस का हक़दार होने के बावजूद अचानक एक दिन 'अयोग्य' घोषित कर दिया गया और एक रुपया भी मुआवज़ा दिये बग़ैर उसकी छंटनी कर दी गयी।

बचपन से ही उसने महसूस किया था कि उसे अछूत' समझा जाता रहा है, इसलिए वह इस बात हर सहमत नहीं हो पा रही थी कि उसके हाथ का बनाया खाना मैं खा सकूँगी। कई हफ़्तों तक वह अँगीठी के पास जाने में भी हिचकिचाती रही। जब मैंने उससे यह कहा कि मैं कुछ पढ़ना या सिलाई करना चाहती हूँ और तुम जाकर खाना बना दो तब वह बार-बार मुझसे पूछा करती थी कि किस तरह खाना बनाऊँ। अँगीठी पर कोई भी बर्तन चढ़ाने के बाद वह हर मिनट पर पूछती कि अब क्या करूँ। एक दिन मैंने उससे कहा, "देखो दुलाली, तुम यह नाटक मत करो कि तुम्हें खाना बनाना नहीं आता। आखिर तुम अपने सातों बच्चों को कैसे पालती हो ? तुम जो भी बनाओगी मैं खा लूँगी।" इसके बाद वह हमेशा बहुत अच्छा खाना बनाती रही।

एक दिन हमें थोड़ा दही दिया गया। साल में कभी किसी विशेष अवसर पर एक बार हमें दही दिया जाता था और वह भी पानी से भरा रहता था। मैं किसी काम में लगी थी और मैंने दुलाली से कहा कि वह अपना हिस्सा लेने के साथ मेरा हिस्सा भी लेती आये। जब वह दही लेने गयी और उसने मेरे हिस्से की माँग की तो ड्यूटी पर तैनात वॉर्डर ने उसे झिड़क दिया, "तुम क्या समझती हो कि टाइलर किसी मेहतरानी के हाथ का छुआ दही खायेगी ?" यह एक अच्छी बात थी कि वह आदमी इतना कहकर चला गया वरना मैं उसे बहुत साफ़ शब्दों में बताती कि उसकी इस टिप्पणी का क्या अर्थ है। जेल के अन्य कर्मचारियों की तरह हरिजनों के खाने को वह भले ही इतना गंदा समझता हो लेकिन उनके द्वारा दी गयी घूस को लेने में उसे हमेशा खुशी ही होती है।

दुलाली को बचपन से ही दूसरों का जूठन मिलता रहा इसलिए उसने कभी कोई चीज़ बर्बाद नहीं की। प्लेट में छोड़े गये बीज, छिलके या अन्य किसी भी चीज़ को वह साफ़ कर जाती थी। उसकी दृष्टि में कोई भी चीज़ ऐसी नहीं थी जिसे फेंका जाये—जला हुआ खाना बासी खाना या सड़ा हुआ खाना। बस शर्त यह होनी चाहिए कि उसका असर ज़हरीला न हो। जब भी कोई गंदा काम करना होता, वॉर्डर महिलाएँ दुलाली को ही बुलातीं। कोई भी ऐसी चीज़ नहीं थी जिससे उसके अन्दर जुगुप्सा पैदा हो। दूसरी तरफ़ उसे खून से सने कपड़े साफ़ करने और शौचालय साफ़ करने तथा दूसरों की उलटियाँ हटाने में कुछ भी आपत्तिजनक

नहीं लगता था। वह इसे बड़े सहज ढंग से लेती थी। उसने मुझे बताया था कि कुछ लोगों के यहाँ से जब वह काम करके चली जाती थी तो वे अपने घर को 'शुद्ध' करने के लिए धोते थे। मज़े की बात यह थी कि जेल में अब तक मेरी जिनसे मुलाक़ात हुई थी उनमें यही औरत ऐसी थी जो बेहद साफ़-सुथरी रहती थी। महज़ कपड़े के एक टुकड़े और ठंडे पानी से वह फ़र्श को रगड़-रगड़कर उसमें चमक पैदा कर देती थी। उसे सबसे अधिक ग़ुस्सा तब आता था जब किसी वजह से उसके रोज़ के नहाने के कार्यक्रम में बाधा पड़ती थी।

कोरमी एकदम दूसरी तरह की औरत थी। वह बढ़ई जाति की एक हिन्दू औरत थी और अपनी प्रतिष्ठा के प्रति बहुत सतर्क रहती थी। जहाँ तक मैं जान सकी, सामाजिक मर्यादा के लिहाज़ से उसकी बीच की श्रेणी की जाति थी। जब हम लोग साथ बैठकर खाना खाते थे तो वह कभी-कभी कह दिया करती थी, "जेल से बाहर मैं ऐसा कभी नहीं कर सकती थी। हम लोग केवल ब्राह्मणों और राजपूतों के हाथ का ही बनाया खाना खाते हैं।" दुलाली एक औद्योगिक क्षेत्र में रहती थी। हफ़्ते में कई बार सिनेमा जाती थी और हवाई जहाजों, गगनचुम्बी इमारतों तथा तरह-तरह की मशीनों के बारे में उसे अच्छी तरह पता था, लेकिन कोरमी आज तक एक बार भी 'सिनेमा' नहीं गयी थी और न तो उसने रेलवे लाइन या बस ही देखी थी। ग़रीबी से मजबूर होकर उसने घर से बाहर पैर रखा था और एक स्थानीय किसान के खेत पर या सरकार की सहायता योजनाओं पर उसे आश्रित रहना पड़ा था। स्वाभाविक था कि ऐसे वातावरण में पलने के कारण वह संकीर्ण विचारों वाली हो गयी थी। लेकिन इसके बावजूद वह एक सुहृदय और विश्वसनीय महिला थी। काम करने में वह सुस्त ज़रूर थी लेकिन बहुत कुशल थी।

कोरमी की ज़िन्दगी बहुत दुःख-भरी थी। उसे पाँच बच्चे पैदा हुए लेकिन एक भी ज़िंदा नहीं रहा। उसकी उम्र अभी बीस वर्ष से बहुत ज़्यादा नहीं हुई थी तभी उसके पति की मृत्यु हो गयी। बिहार के उस हिस्से में प्रचलित तौर-तरीक़ों के अनुसार उसे उसके देवर ने रख लिया और अपनी दूसरी पत्नी का दर्जा दे दिया। अपने देवर के साथ रहने की कोरमी की इच्छा नहीं थी लेकिन उसके सामने दूसरा कोई चारा भी नहीं था—एक स्थानीय ज़मींदार से उसके पति ने कर्ज़ के रूप में कुछ रुपये लिये थे और बिना चुकता किये ही उसकी मृत्यु हो गयी थी। ज़मींदार चाहता था कि अपने रुपयों के बदले वह कोरमी को हासिल कर ले और किसी वेश्यालय को बेच दे। यही वजह थी कि कोरमी अपने देवर के साथ रहने के लिए राज़ी हो गयी। कुछ ही दिनों बाद वह फिर गर्भवती हो गयी लेकिन उसकी सौत ने ईर्ष्या के कारण उसे गर्भपात कराने के लिए उकसाया। कोरमी ने सोचा कि इस बार फिर बच्चे के मरने का दुःख ढोना पड़ेगा और वह गर्भपात कराने के लिए राज़ी हो गयी। उसकी सौत को अपनी योजना सफल होते देख बड़ी ख़ुशी हुई और उसने सोचा कि अब कोरमी से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जायेगा। उसने स्थानीय पुलिस को सारे मामले की सूचना दे दी और कोरमी को हत्या के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया। जेल में उसे कभी-कभी पेट में भयंकर पीड़ा होती थी और उसकी वजह शायद यह रही होगी कि गर्भपात कराने में सावधानी नहीं बरती गयी थी तथा गर्भपात के बाद के दिनों में जिन चिकित्सा सुविधाओं की ज़रूरत होती है वे नहीं मिली थीं। मानसिक रूप से उसके असन्वित होने का कारण वे अनुभव थे जिनसे उन्हें गुज़रना पड़ा था। बहुधा रात में

वह जग जाती थी और मुझे बुलाकर अपनी नाड़ी देखने के लिए कहती थी। वह बताती थी कि उसका दिल बुरी तरह धड़क रहा है। लगभग हर रात मैंने उसे नींद में बड़बड़ाते हुए सुना था। एक दिन उसने बड़े साफ़ शब्दों में मुझसे कहा कि वह जेल से बाहर नहीं जाना चाहती क्योंकि जब तक वह जेल के अन्दर है इस बात की तो उसे कम-से-कम गारंटी है ही कि वह गर्भवती नहीं होगी। उसकी बातें सुनकर मेरी और भी हमदर्दी बढ़ गयी।

अन्य गुणों के अलावा उसके पास ग्रामीण जनश्रुतियों का भंडार था। वह यह मानती थी कि उसके बच्चों को कोई चुड़ैल खा जाती थी और उसकी सास की मृत आत्मा ने उसके पति को चेचक से मार डाला। उसने पूरी गम्भीरता के साथ हम लोगों को बताया कि उसके 'देश' में औरतों के पेट से लौकी, कद्दू, हाथी और साँप पैदा हो चुके हैं। हालाँकि उसकी बातें सुनकर मैं और दुलाली हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं लेकिन बाद में मैंने उसकी इस अविश्वसनीय कहानी का अर्थ निकालना चाहा और मैं इस नतीजे पर पहुँची थी कि अविकसित भ्रूण तथा बेडौल बच्चे को देखकर ही गाँव की औरतें तरह-तरह से अटकलें लगाती थीं।

एक दिन एक ऐसी घटना हुई जिससे मुझे पता चला कि जाति-प्रथा के बारे में मेरी कितनी कम जानकारी है। उस दिन सवेरे पानी के नल पर कोरमी एक औरत से झगड़ रही थी कि इस बीच दुलाली उसे शांत करने के लिए आगे बढ़ी। कोरमी ने उस औरत से लड़ाई बंद करके फ़ौरन दुलाली की ओर रुख कर लिया और सारा गुस्सा उस पर उतारने लगी। दुलाली कभी अनुचित आक्रमण को बर्दाश्त नहीं करती थी और इस झगड़े का अन्त कोरमी के चेहरे पर दुलाली के थप्पड़ से हुआ। इसका असर बड़ा नाटकीय पड़ा। हालाँकि दुलाली ने ज़ोर से नहीं मारा था पर कोरमी ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। सारे दिन वह सुबकियाँ लेती रही। दुलाली ने मुझसे कहा कि मैं जाकर उसकी तरफ़ से माफ़ी माँग लूँ और कोरमी को चुप करा दूँ। मैंने इसकी कोशिश भी की लेकिन सफलता नहीं मिली। दुलाली के बताने पर ही मैं समझ पायी कि इतनी बुरी तरह रोने का कारण क्या है। दरअसल उसे ज़ोर से चोट नहीं लगी थी—उसे तकलीफ़ इस बात की थी कि एक ऊँची जाति के हिन्दू को एक हरिजन ने मार दिया। उसके अहंकार पर यह एक ज़बर्दस्त तमाचा था। यह सुनकर मैं सन्न रह गयी। मैंने सोचा था कि बीच-बीच में कोरमी की चुटकियों के अलावा हम तीनों जाति-पाँति के भेदभाव से ऊपर उठ चुके हैं। हम एक साथ खाना बनाते थे और एक साथ रहते थे, एक-दूसरे के कपड़े पहनते थे और एक ही बर्तन तथा उन्हीं कम्बलों से काम चलाते थे। मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि जाति को लेकर कोरमी के दिमाग़ में अभी तक अहंकार की इतनी प्रबल भावना है। बाद में उसने अपनी इस अशांत मानसिक स्थिति पर काबू पा लिया लेकिन इसके लिए उसे तमाम तरह की सफ़ाई दी गयी और उसकी खुशामद की गयी। इतना ही नहीं, दुलाली की ओर से उसके पाप के लिए बड़े साफ़ शब्दों में माफ़ी माँगी गयी जबकि उसने कोई 'अपराध' नहीं किया था।

महिला क़ैदियों में से अनेक ने इससे पहले कभी भी डबल रोटी नहीं देखी थी। जेल के बीमार क़ैदियों के लिए, जो मटर नहीं पचा सकते थे, रोटी दी जाती थी और यह भूरी, खट्टी तथा प्रायः अधपकी होती थी लेकिन इन सबके बावजूद वे उसे विलासता की चीज़ मानते थे। एक बार कोरमी के बीमार पड़ने पर डॉक्टर ने नाश्ते के रूप में पाँच दिनों तक डबल रोटी खाने को कहा। मैंने देखा कि उस

रोटी को खाने की बजाय वह एक कपड़े के टुकड़े में लपेटकर रखती जा रही थी। मेरे कारण पूछने पर उसने बताया कि वह रोटी के इन टुकड़ों को अगली तारीख पर अपने साथ अदालत ले जायेगी और इसे अपने लड़के को दे देगी। मैंने उसे याद दिलाया कि अगली तारीख आने में अभी तीन हफ़्ते की देर है और तब तक यह रोटी पत्थर की तरह सख्त हो जायेगी। उसने कहा कि इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता और उसका लड़का रोटी के इन टुकड़ों को पानी में भिगोकर खा लेगा—इससे कम-से-कम उसे रोज़ जो खाने को मिलता है उससे अच्छी चीज़ ही मिल जाएगी। वह इसे एक आनंददायक चीज़ समझेगा। अगली बार जब वह अदालत गयी तो अपने साथ वह न केवल रोटी बल्कि थोड़े-थोड़े करके बचाये गये सारे पैसे भी ले गयी जिससे उसका लड़का नये कपड़े खरीद सके।

हज़ारीबाग़ जेल में मुझसे पहले जो क़ैदी रह रहे थे उनमें बिरसी नाम की एक औरत थी जिसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी थीं और जो देखने में काफ़ी बूढ़ी लग रही थी। वह भी राजकुमारी की ही जाति की थी। स्वभाव से वह बहुत संकोची थी और रोज़ाना के इन झगड़ों में वह नहीं पड़ती थी कि कौन पहले खाना पकायेगा या किसको साबुन का सबसे बड़ा टुकड़ा मिल गया अथवा खाना बनाने में मदद कौन करेगा आदि-आदि। इसलिए वह हमेशा क़तार में सबसे पीछे खड़ी रहती थी। उस वर्ष मार्च में जेल में ही उसके पति की मृत्यु हो गयी थी। वे दोनों चार साल से अधिक समय से जेल में पड़े थे और ज़मीन के एक झगड़े के निपटारे का इंतज़ार कर रहे थे। उन पर आरोप लगाया था कि उन्होंने एक खेत में से—जिसे वे अपना कहते थे—धान की फ़सल काट ली जबकि गाँव के एक धनी किसान का कहना था कि यह उसका खेत था। अपने 'बुढ़ऊ' की मृत्यु के बाद बिरसी बहुत दयनीय और परेशानहाल हो गयी थी। मैंने देखा कि राशन में मिलने वाला अपना सारा चावल वह बचा लेती थी क्योंकि आजकल एक बार फिर आटा मिलने लगा था। वह केवल दो चपातियों पर अपना सारा दिन गुज़ार देती थी। साबुन और तेल बेचने में भी वह सबसे आगे रहती थी। उसने कभी अपने बचाये गये पैसों से न तो खाने के लिए कोई अच्छी चीज़ खरीदी और न नये कपड़े बनवाये और न नयी चूड़ियाँ या नाखून पर लगाने के लिए पालिश वग़ैरह खरीदी जैसा कि अन्य महिलाएँ किया करती थीं। मैंने सोचा कि शायद वह अपने मृत पति तथा घर पर पड़ी लड़की की चिंता में घुलती जा रही है और यह सोचकर मैंने उससे ठीक से खाने-पीने का अनुरोध किया। हर रोज़ क़ीमतों में वृद्धि के कारण बचत करने का कोई अर्थ नज़र नहीं आ रहा था क्योंकि यदि वह कुछ रुपयों के साथ जेल से बाहर निकल भी गयी तो उतने पैसों में कोई भी चीज़ नहीं खरीद पायेगी। कम-से-कम वह एक साड़ी खरीदकर अपनी लड़की के लिए बचा कर रख सकती थी। मेरा खयाल था कि बार-बार मेरे द्वारा तंग किए जाने से उसने अंतिम तौर पर फ़ैसला किया कि वह अपने इस कमखर्चीलेपन का कारण बतायेगी।

उसने बताया कि जेल छोड़ने के बाद उसके ऊपर ढेर सारे खर्चे आ पड़ेंगे। अपने पति की मृत्यु के बाद धार्मिक अनुष्ठानों के न हो पाने से उसे इन अनुष्ठानों पर पैसा खर्च करना होगा। उसे एक बकरे की बलि देनी होगी। स्थानीय ब्राह्मणों को खिलाना होगा और उन्हें दान-दक्षिणा देनी पड़ेगी। इसके अलावा गाँव के मुखिया को और पंचायत को पैसे देने होंगे तथा समूचे गाँव को एक दावत देनी होगी जिससे जेल आने के कारण उसकी नष्ट हो गयी जाति को पवित्र बना दिया

जाये और जाति में शामिल कर लिया जाये। यदि उसने ऐसा नहीं किया तो वह कुजात मान ली जायेगी, किसी के घर में वह प्रवेश नहीं कर सकेगी और न ही अपने घर किसी को बुला सकेगी। कुएँ से दूसरे लोग पानी लाकर उसकी दहलीज पर रख देंगे। इस अपमान से बचने के लिए वह आधा पेट खाकर पैसे बचा रही थी ताकि आवश्यक अनुष्ठानों और प्रायश्चित्त पर पर्याप्त धन खर्च कर सके।

अन्य क़ैदियों की भी कहानी बिरसी-जैसी ही थी। ऐसा लगता था कि लगभग सारी औरतें कुछ पैसे बचा रही थीं ताकि अपने गाँव वापस लौटने पर वे खोयी हुई सामाजिक प्रतिष्ठा पुन: प्राप्त कर सकें और इस काम में जो पैसा लगे उसे खर्च कर सकें। क़ैदियों को समाज में फिर से स्थापित करने की पुरानी समस्या का यह एक नया कोण था।

अगस्त के प्रारम्भ में मुझे जेल के दफ़्तर में ले जाया गया ताकि मैं अपने सह-प्रतिवादियों में से तीन से मिल सकूँ जिन्हें जमशेदपुर भेजा जा रहा था। इन तीनों लोगों को उन सात मुक़दमों में से पहले मुक़दमे के सिलसिले में भेजा जा रहा था जो हमारे ऊपर चलाये जाने वाले थे। हम सबके विरुद्ध संयुक्त मामले के अतिरिक्त हमारे विभिन्न गुटों और अलग-अलग व्यक्तियों के खिलाफ़ अलग-अलग आरोप लगाये गये थे। उन्होंने हमारे बचाव का इंतजाम करने का वायदा किया। सुपरिंटेंडेंट ने आश्वासन दिया कि मुझे जल्दी ही जमशेदपुर भेजा जायेगा।

अगस्त १९७४ के अंतिम इतवार को मेरा एक बार फिर 'मुक़दमे के लिए' हजारीबाग़ से जमशेदपुर तबादला कर दिया गया।
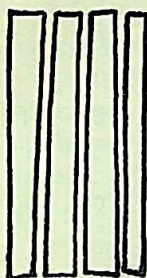
धतिंगना

मेरी दृष्टि से उस बार की यात्रा काफ़ी आनंददायक रही। पुलिस दस्ते के इंचार्ज उस नौजवान अफ़सर ने जीप में मुझे अपने बग़ल में अगली सीट पर बैठने दिया। तेज़ रफ़्तार से भाग रही जीप के कारण बरसाती शाम की ठंडी हवा मेरे फेफड़ों तक पहुँच रही थी और मुझे बेहद सुकून मिल रहा था। इसके विपरीत मेरे सह-प्रतिवादियों की इस बार और बाद में हर बार एक जेल से दूसरी जेल तक की यात्रा बड़ी कष्टदायक होती थी। उन्हें बेड़ियों में जकड़कर ले जाया जाता था और दो-दो व्यक्तियों का जोड़ा बनाकर उनके हाथों में हथकड़ियाँ डाल दी जाती थीं फिर कमर में रस्सी डालकर चार लोगों को एक साथ बाँधा जाता था। ऐसी हालत में उन्हें किसी तरह ठूँस-ठूँसकर ऐसी जगह भरा जाता था जो इनकी आधी संख्या के लिए बने थे। उनके सारे सामान उनके ऊपर फेंक दिये जाते थे। जिन लोगों को यात्रा से घबराहट होती थी उनके लिए तो यह और भी कष्टप्रद अनुभव होता था।

बीना मेरे आने का इंतज़ार कर रही थी लेकिन मेरे पहुँचने तक रात हो चुकी थी और मैं सलाखों के इस पार से ही उसका अभिवादन कर सकी। उसकी कोठरी में चालीस औरतें तथा दर्जन भर बच्चे थे। दूसरे दिन सवेरे वह मेरे लिए सँजोकर रखे अपने उपहार लायी—उसे लगभग १५ दिन पूर्व स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर दो मिठाइयाँ मिली थीं जिसे उसने बचा रखा था। अब वह 'मेटिन' हो गयी थी और पहले से ज्यादा दुबली तथा गम्भीर दिख रही थी। उसने मेरा हाथ थाम लिया और अन्य क़ैदियों को मुझे दिखाने ले चली। मैंने ग़ौर किया कि उन दिनों की अपेक्षा अब काफ़ी सहज वातावरण था, जब मेटिन के रूप में यहाँ वह कुटनी थी। दस महीने बीत गये थे लेकिन गुलाबी बुढ़िया अभी भी वहीं थी। हीरा का छोटा बच्चा अब एक साल से कुछ ज्यादा बड़ा हो गया था लेकिन वह दुबला-पतला ही था। कुछ ही दिन पहले वह खसरा से मरते-मरते बचा था।

मुक़दमे की कार्यवाही २८ अगस्त को शुरू होने वाली थी। उस दिन मैंने अदालत जाने की तैयारी की। चूँकि जज ने अभियोग पक्ष के इस अनुरोध को नामंज़ूर कर दिया था कि मुक़दमे की कार्यवाही जेल के अन्दर ही की जाये, इसलिए मैं आशा कर रही थी कि मुझे स्थानीय अदालत में ले जाया जायेगा। दस बजने के कुछ ही देर बाद मुझे जेल कार्यालय में बुलाया गया। वहाँ उप-उच्चायोग का एक सचिव मुझसे मिलने आया था। उसे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मुझे यह नहीं बताया गया कि अदालत में मेरी पेशी ३ अक्तूबर तक के लिए स्थगित हो गयी है। मेरे तथा मेरे अनेक सह-प्रतिवादियों के विरुद्ध दर्ज किये गये पाँच मामलों को हमारे वकील के अनुरोध पर मिलाकर एक कर दिया गया था। हमारा वकील सारी कार्यवाही को तेज़ी से पूरा करने पर ज़ोर दे रहा था और उसका कहना था कि इन सारे मामलों में गवाह, तारीखें और आरोप एक ही हैं। इसलिए कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। सुनवाई की तारीख को मुल्तवी कर दिया गया था ताकि सम्मिलित रूप से मुक़दमा चलाने की तैयारी के लिए समय मिल सके।

मैं इन विलम्बों और झूठी अफ़वाहों की अभ्यस्त हो गयी थी लेकिन इस बार मुझे सचमुच ऐसा लगने लगा था कि अब मुक़दमा शुरू होने जा रहा है और अब इसे और अधिक मुल्तवी किये जाने से मुझे गुस्सा भी आया और निराशा भी हुई। अचानक मुझे ३ अक्तूबर तक का पाँच सप्ताह का अंतराल बेहद लम्बा लगने लगा। अभी और भी मुसीबत आनी थी। समूचे बिहार में लगातार उपद्रवों के कारण मिलिटरी पुलिस भी उपलब्ध नहीं थी जो आमतौर से उन जेलों के चारों ओर घेरा डालकर पड़ी रहती थी जिनमें नक्सलवादी बंदियों को रखा जाता था और इसलिए यह फ़ैसला किया गया कि सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए हमें वापस हज़ारीबाग भेज दिया जाये। पुलिस की गाड़ी के अन्दर फेंक देने के लिए मैं फिर दोनों खाकी थैलों में अपनी किताबें पैक करूँ और रास्ते भर हिचकोले खाते हुए हज़ारीबाग तक जाऊँ—यह विचार ही मुझे असहनीय लगा। मैंने तय कर लिया कि मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी। जिस दिन सवेरे हम लोगों को हज़ारीबाग के लिए रवाना होना था, मैंने महिला वॉर्डर से झूठ बोला और कहा कि मुझे बेहद दस्त आ रहे हैं और पेट में दर्द हो रहा है जिससे मैं उठने में भी असमर्थ हूँ। डॉक्टर के पास मुझे बीमार प्रमाणित करने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं था—मेरे सारे सह-प्रतिवादियों को हज़ारीबाग भेज दिया गया पर मुझे जमशेदपुर में ही रहने दिया गया। मुझे इस बात की खुशी हुई कि बीना के साथ अब और अधिक देर तक समय गुज़ारने का अवसर मिल गया जो मेरी ग़ैर-मौजूदगी में अपने अध्ययन में इतनी प्रगति कर चुकी थी कि अब वह बिना रुके पढ़ सकती थी।

कुछ दिनों बाद मेरे एक हमदर्द वॉर्डर ने बताया कि हमारे मुक़दमे के लिए पटना से एक विशेष सरकारी वकील को भेजा गया है क्योंकि उसे लोगों को 'सज़ा दिलाने में' काफ़ी शोहरत मिल चुकी है। वह पटना में सरकारी अधिकारियों को इस बात के लिए सहमत करने में एक महीने की इस अतिरिक्त अवधि का इस्तेमाल कर रहा था कि हमारे मुक़दमे की कार्यवाही जेल के अन्दर की जाये। यह मानकर कि उसका अनुरोध मंज़ूर हो जायेगा हमारे पुराने अदालत-कक्ष में फिर से बिजली के पंखे लगाए जा रहे थे। वह सारे मामलों को एक साथ मिला देने के जज के फ़ैसले को भी उलटने की कोशिश कर रहा था। वह चाहता

था कि जहाँ तक अलग-अलग मुक़दमे चलाये जाने सम्भव हों, चलाये जायें। इस काम में जितना भी अधिक समय लगेगा, उसे उतना ही ज़्यादा फ़ायदा होगा। वॉर्डर ने मुझे भविष्य में और भी षड्यंत्रों के लिए तैयार रहने को कहा। विशेष सरकारी वकील जज से बेहद चिढ़ा हुआ था क्योंकि उसने मुफ़्त सफ़र की सुविधा के एक प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया था। प्रस्ताव के साथ यह शर्त जुड़ी थी कि इस सुविधा के एवज़ में उसे जेल में अदालत लगानी पड़ेगी। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि विशेष सरकारी वकील ने अनेक स्थानीय विशिष्ट व्यक्तियों से वायदा किया था कि यदि वह हमें सज़ा दिला सका तो उन्हें दावत देगा।

अन्य शक्तियाँ भी काफ़ी सक्रिय थीं। इस मुक़दमे पर ध्यान आकर्षित करने की मेरे मित्रों की कोशिशों के फलस्वरूप समाचारपत्रों की हममें दिलचस्पी बढ़ गयी थी और अदालती सुनवाई की रिपोर्टिंग के लिए अनेक संवाददाता जमशेदपुर पहुँच गये थे। इसके अलावा उस वर्ष सितम्बर में अमनेस्टी इंटरनेशनल ने पश्चिम बंगाल की जेलों में राजनीतिक बंदियों की हालत के बारे में एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी और बताया था कि अकेले पश्चिम बंगाल की जेलों में १५ से २० हज़ार राजनीतिक बंदी पड़े हैं। हालाँकि भारत सरकार ने सारे आरोपों का खंडन किया लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अमनेस्टी इंटरनेशनल की रिपोर्ट ने पहली बार भारत के राजनीतिक बंदियों की दुर्दशा की ओर अन्तर्राष्ट्रीय जनमत का ध्यान आकृष्ट किया था।

३ अक्तूबर को भी वही हुआ जो २८ अगस्त को हुआ था। मैं एक बार फिर अदालत जाने की तैयारी कर रही थी कि उसी ब्रिटिश अधिकारी ने आकर मुझे सूचित किया कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने हमारे साथ अदालत तक जाने के लिए पुलिस का रक्षा दस्ता भेजने में असमर्थता ज़ाहिर की है। पुलिस की सारी उपलब्ध शक्ति को बिहार में तीन दिन की आम हड़ताल के आह्वान से उत्पन्न स्थिति से निबटने के लिए तैनात कर दिया गया है। विशेष सरकारी वकील ने लम्बी अवधि तक के लिए सुनवाई का काम स्थगित करने की माँग की थी और कहा था कि जब तक स्थिति फिर से 'सामान्य' नहीं हो जाती इसे मुल्तवी रखा जाये। जज का कहना था कि बिहार की चाहे जैसी भी स्थिति हो लेकिन चूँकि जमशेदपुर में स्थिति पूरी तरह सामान्य है इसलिए उसने आदेश दिया कि हमें किसी भी हालत में सोमवार ७ अक्तूबर को अदालत में पेश किया जाये।

अगले सोमवार को हमें पुलिस की गाड़ी में अदालत तक ले जाया गया। गाड़ी में २२ आदमियों के बैठने की जगह थी लेकिन उसमें हम ३६ लोग तथा लगभग एक दर्जन सशस्त्र पुलिस के जवान बैठे थे। अदालत में पेश किये जाने के इंतज़ार में हम दिन के दस बजे से लेकर ढाई बजे तक बैठे रहे। गाड़ी में बेहद गर्मी थी और हवा आने का कोई रास्ता नहीं था। दोपहर के क़रीब हमारा वकील आया और उसने बताया कि विशेष सरकारी वकील ने एक और याचिका पेश की है। इस बार उसने ज़िला जज से अपील की थी कि हमारा मुक़दमा किसी दूसरी अदालत में भेजा जाये। उसने मौजूदा जज पर 'नक्सलवादियों को संतुष्ट रखने' का आरोप लगाते हुए उसमें अपना अविश्वास व्यक्त किया था। अपने इस आरोप का उसने आधार भी प्रस्तुत किया था। उसका कहना था कि इस जज ने एक किशोर वय के लड़के की माँ को अदालत में अपने लड़के से बात करने और उसे खाना देने की इजाज़त दी; उसने मुक़दमे की कार्यवाही जेल के अन्दर करने से इनकार किया; उसने उन दो क़ैदियों को क़ानूनी सहायता दी जो वकील नहीं नियुक्त कर पाए

थे; और उसने निजी तौर पर अपने कक्ष में ब्रिटिश उच्चायोग के एक अधिकारी से भेंट की। मुक़दमे को तब तक के लिए मुल्तवी कर दिया गया जब तक याचिका पर चाइबासा में ज़िला जज की अदालत में सुनवाई नहीं हो जाती। उस दिन की अदालत में पेशी पाँच मिनट की एक औपचारिकता मात्र थी।

इस आरोप में निहित संकेत ने कि ब्रिटिश राजनयिक ने किसी अनुचित उद्देश्य के लिए गुप्त रूप से जज से भेंट की, स्वाभाविक तौर पर विदेश कार्यालय को अशांत कर दिया। कलकत्ता से उच्चायोग का सचिव महज़ यह पता लगाने के लिए गया था कि मुक़दमे की कार्यवाही में कितना समय लगेगा और इस बातचीत के दौरान सरकारी वकील का सहायक लगातार मौजूद था। मैं समझती हूँ कि अभियोग-पक्ष की ओर से उठाये गए इस अंतिम क़दम से ही विदेश कार्यालय ने मेरे लिए अपने प्रयास काफ़ी तेज़ कर दिये।

हमारे मामले से सम्बद्ध जज ने ज़िला जज के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक वक्तव्य तैयार किया जिसमें उसने इस आरोप का खण्डन किया था कि वह नक्सलवादियों के संतुष्ट रखने का रवैया अपना रहा है और उसने कहा कि उसकी दिलचस्पी महज़ इसमें है कि क़ानून के मुताबिक़ जल्दी और निष्पक्ष ढंग से मुक़दमे की कार्यवाही सम्पन्न हो। उसका कहना था कि उसकी इस कोशिश में हर क़दम पर सरकारी वकील की ओर से कोई-न-कोई अड़चन डाली जा रही है। उसने आगे कहा था कि इस मुक़दमे के दौरान किसी भी जज को देर करने की इसी नीति को अपनाना पड़ेगा क्योंकि विशेष सरकारी वकील का मुख्य उद्देश्य मुक़दमे को अधिक समय तक खींचना है ताकि वह फ़ीस के रूप में ज्यादा-से-ज्यादा पैसा कमा सके। किसी जज के द्वारा राज्य के आधिकारिक प्रतिनिधि के विरुद्ध लगाया गया यह असाधारण आरोप था।

सुनवाई की तारीख एक बार फिर मुल्तवी की गयी। इस बार यह दुर्गा-पूजा की छुट्टियों के बाद यानी २७ नवम्बर निश्चित की गयी और मुझे ऐसा लगा कि तब तक के लिए मुझे हज़ारीबाग लौट जाना पड़ेगा। उस दिन उपस्थित उच्चायोग के अधिकारियों ने मुझे आश्वासन दिया कि वे केन्द्र सरकार से अनुरोध करेंगे कि बिना देर किये अब जल्दी-से-जल्दी मुक़दमे की कार्यवाही पूरी की जाये। लेकिन जेल के एक अधिकारी ने मुझसे कहा कि इन बातों पर आशा लगाने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि अभियोग-पक्ष द्वारा प्रस्तुत की गयी स्थानांतरण याचिका स्वीकार होनी ही है: विशेष सरकारी वकील तथा उसके सभी सहायक भूमिहार ब्राह्मण हैं और ज़िला जज भी उसी जाति का है। वह निश्चय ही उन्हीं की बात पर ध्यान देगा।

उसी रात, अँधेरा होने के कुछ ही देर बाद हैड वॉर्डर ने मुझसे हज़ारीबाग जाने के लिए फ़ौरन तैयार हो जाने को कहा। मुझे बहुत गुस्सा आया। अपने अनुकूल चीज़ों के मामले में तो वे ज़रूरत से ज़्यादा फुर्तीले थे लेकिन जब भी हमारे मुक़दमे की बात आती, तो देर करने को उन्हें कोई-न-कोई बहाना मिल जाता। पिछले कुछ दिनों से मेरा स्वास्थ्य गिरता जा रहा था और मुझे ठीक से देख पाने में भी दिक़्क़त महसूस हो रही थी। लैम्प की धुंधली रोशनी में मैं अपनी पुस्तकें और कपड़े भी टटोल नहीं पा रही थी। मुझे आज रात हज़ारीबाग नहीं जाना है। उन्हें इंतज़ार करना ही पड़ेगा। ऑफ़िस के कर्मचारी और वॉर्डर एक के बाद एक करके आते रहे और मुझसे अनुरोध करते रहे कि मैं जाने के लिए तैयार हो जाऊं। मैं उनकी ओर ध्यान दिये बिना लेटी रही और सोने का नाटक करती रही।

आख़िरकार उन्होंने मुझे अकेले छोड़ दिया और मेरे सह-अभियुक्तों को वापस उनकी कोठरियों में भेज दिया। हम अगले दिन सवेरे हज़ारीबाग पहुँचे।

हमारी रवानगी का काम इतनी जल्दी हुआ था कि हम लोग अपने वकील से सलाह-मशविरा कर ही नहीं पाये। अक्तूबर के अन्त में वह हज़ारीबाग आया और पहली बार मुझे उसके तथा कुछ सह-अभियुक्तों के साथ लम्बी और बेरोकटोक बातचीत करने की इजाज़त दी गयी जो स्पेशल ब्रांच के लोगों की ग़ैर-मौजूदगी में हुई। यह अद्भुत अवसर हमें उनकी सदाशयता के कारण नहीं प्राप्त हुआ था— दरअसल जेल कार्यालय मीसा-बंदियों से भरा हुआ था। इन बंदियों में कर्पूरी ठाकुर भी थे जो पहले मेरी गिरफ़्तारी के समय बिहार के मुख्यमंत्री थे। अब वे पुराने क़ैदियों के साथ आ मिले थे। वॉर्डर लोग हर तरह के राजनीतिक बंदियों को खुश रखते थे—उनका ऐसा करना ठीक भी था क्योंकि कुछ पता नहीं था कि भाग्य का फेर कब किसको सत्ता में ला दे।

वकील हमारे मामले में सरकार द्वारा खर्च की गयी राशि की छानबीन कर रहा था। यह राशि लगभग ३० हज़ार रुपये थी और इसमें हमें जेल में रखे जाने का ख़र्च नहीं जोड़ा गया था। उसने यह भी पता लगाया कि अभियोग-पक्ष के तीन वकीलों की नियुक्ति में भाई-भतीजावाद की मुख्य भूमिका रही। इन सबके रिश्तेदार सरकारी सेवा में प्रभावशाली पदों पर थे। स्थानांतरण के लिए दी गयी याचिका पर अभी भी सुनवाई होनी बाकी थी लेकिन उसने प्राप्त सूचनाओं और हमारी ओर से की गयी कोशिशों के आधार पर आश्वासन दिया कि चीज़ें अब हमारे अनुकूल शुरू होने जा रही हैं।

मार्च में आंदोलन शुरू होने के कुछ ही दिनों बाद इसका नेतृत्व जयप्रकाश नारायण के हाथ में आ गया था। वे पुराने गांधीवादी और घोर कम्युनिस्ट विरोधी थे हालांकि किसी ज़माने में वे सोशलिस्ट पार्टी में रह चुके थे। जैसे-जैसे आंदोलन तेज़ होता गया नेतृत्व अधिकाधिक दक्षिणपंथी दलों के हाथ में जाने लगा। इन दलों का सारा ध्यान विधानसभा भंग कराने और संसद के नये चुनाव कराने की माँग पर टिका था जिसके बारे में मुझे पक्का यक़ीन था कि इससे एक दूसरी भ्रष्ट सरकार के सत्तारूढ़ होने के सिवा कोई नतीजा नहीं निकलेगा। हालांकि आबादी के कुछ हिस्से का इसे अभी भी ज़बर्दस्त समर्थन प्राप्त था फिर भी मैं महसूस करती थी कि आंदोलन अब क्षीण हो चुका था। प्रत्यक्षतः कोई ऐसी दीर्घकालीन रणनीति नहीं थी जो लोगों की स्थितियों में वास्तविक तबदीली ला सकती। दोनों पक्ष बिना किसी स्पष्ट योजना के रोज़-ब-रोज़ के संघर्षों और प्रतिसंघर्षों में लगे थे। 'संपूर्ण क्रांति' और 'वर्गविहीन जनतंत्र' की जो धारणा जयप्रकाश नारायण ने पेश की थी, वह स्वयं उन्हें भी अमूर्त और अव्यवहार्य लग रही थी।

जयप्रकाश नारायण की महिला समर्थकों की भीड़ से महिला वॉर्ड भर गया था। दिन के तीसरे पहर वे अमशीनीकृत ग्रामीण जीवन की प्रशंसा में गीत गातीं और नाचतीं और समझतीं कि अमशीनीकरण से ही भारत की समस्याओं का हल निकल आयेगा। मध्य वर्ग की जिन अन्य क़ैदियों में मैंने एक दिखावे की प्रवृत्ति देखी थी, वैसी इनमें से किसी में मुझे देखने को नहीं मिली, वे अपने स्वभाव में बड़ी सहज थीं और काम करने की इच्छुक थीं। कुछ ने जान-बूझकर दूसरी जाति में विवाह करके परम्पराओं को तोड़ा था। इन सबके बावजूद, मेरी धारणा यह थी कि वे एक ऐसे सम्प्रदाय की तरह थीं जिनमें कुछ अर्थ में नये विचारों के प्रति

ग्रहणशीलता तो थी पर जो आबादी के उस विशाल हिस्से को अंगीकार करने में असमर्थ थीं, जो सबसे ज़्यादा पीड़ित था।

आंदोलन के क़ैदियों में एक-दो अपवाद भी थे। इनमें से एक महिला को हम लोग दादी कहती थीं। वह ब्राह्मण जाति की एक बूढ़ी किसान महिला थी जिसके सारे दाँत टूट चुके थे। उसकी ग़रीबी से यह साबित हो जाता था कि जाति के साथ वर्ग को कड़ाई से जोड़ने में मैं ग़लती करती थी। हालाँकि आमतौर पर अन्याय और ग़रीबी के सबसे ज़्यादा शिकार हरिजन तथा आदिवासी थे पर सभी जातियों में ग़रीब लोग थे। दादी का व्यवहार बड़ा दोस्ताना था और वह बड़ी उदार थी। उसने और उसके एकमात्र लड़के ने स्थानीय ज़मींदार के आदेश पर आंदोलन में भाग लिया था और उस जमींदार ने अपने कुछ निजी कारणों से उनसे ऐसा करने को कहा था। उनके ऊपर ज़मींदार का कर्ज़ था और उनके सामने उसके आदेशों का पालन करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। उन्हें आम हड़ताल के दौरान रेलवे लाइन पर धरना देने के आरोप में गिरफ़्तार किया गया था।

वह एक विधवा औरत थी और उसके परिवार के पास कोई ज़मीन नहीं थी। उसका लड़का रेलवे लाइन पर काम करके प्रतिमाह १०५ रुपये कमा लेता था। उस समय चावल का भाव लगभग चार रूपये प्रति किलो था और उसकी इस आय से उसका तथा पत्नी, बहन और माँ का पेट भरना मुश्किल था। इसके अलावा उसे ज़मींदार का वह कर्ज़ भी चुकाना पड़ता था जिसे उसने अपनी बहन की शादी के समय लिया था। ब्राह्मण घर की औरतों का खेतों में काम करना उचित नहीं समझा जाता था हालाँकि वे कभी-कभी गाँव के धनी परिवारों के घर का काम-काज कर लेती थीं और उनका खाना पका देती थीं। बहुधा दादी भूखी रह जाती।

वह कहती, "मैं हँस-बोलकर दिन बिता देती हूँ और भूख को भुला देती हूँ। यदि मुझे बहुत भूख लगती है तो पानी में थोड़ा-सा नमक मिलाकर पी लेती हूँऔर भूख की टीस शांत पड़ जाती है। रात में हमें एक आदमी की ख़ुराक के लिए चपातियाँ, थोड़ी दाल या सब्ज़ी मिलती है। हम चार चपातियाँ बनाती हैं। उसमें से मेरा लड़का दो ले लेता है और एक-एक चपाती लड़कियों को मिल जाती है। मेरा कोई अलग हिस्सा नहीं लगता और मैं सबकी चपातियों में से थोड़ा-थोड़ा खा लेती हूँ।" अपने इस अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उसका लड़का हफ़्ते में सात दिन और साल में ५२ हफ़्ते जीतोड़ मेहनत कर रहा था। आंदोलन में गिरफ़्तार अन्य लोगों की तुलना में दादी को ज़्यादा दिन तक जेल में रहना पड़ा। अन्त में ज़मींदार ने ही उसकी ज़मानत का इंतज़ाम किया। ज़मींदार से लिया गया कर्ज़ बढ़ता चला गया और उनके सिर पर कर्ज़ का एक और बोझ चढ़ गया।

नवम्बर में मुझे एक आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई जब वे वाणिज्य दूत अपनी छुट्टियाँ बिताकर और अपने वायदे के अनुसार मेरे माँ-बाप से मिलकर ब्रिटेन से वापस आ गये। उन्होंने मुझे कुछ उपहार भेजे थे जिसने उन्हें मेरे पास तक पहुँचा दिया। उपहार में मिठाइयाँ, चॉकलेट, बिस्कुट, मक्खन और सबसे आनन्ददायक उपहार एक अंडरवियर था जिसे मेरी माँ ने इस अनुमान के साथ भेजा था कि मुझे इसकी बहुत ज़रूरत होगी और उनका अनुमान सही भी था। मिठाइयाँ और बिस्कुट जल्दी ही खतम हो गये। उनको चारों तरफ़ बाँटने के बाद मैं अपना हिस्सा लेकर खाने बैठ गयी। मेरी ही तरह कुछ और औरतें थीं और वे अपने हिस्से में आयी थोड़ी भी अतिरिक्त मात्रा को अपने पेट का ध्यान रखे बिना चाव से खाती

जाती थीं। कुछ ऐसी भी थीं जो अपने हिस्से की अच्छी चीज़ों को तब तक छिपा कर रखे रहती थीं जब तक वह खाने के अयोग्य नहीं हो जाती। दोनों में से किसी भी स्थिति का पाचन क्रिया पर अच्छा असर नहीं पड़ता था। हमेशा छुट्टियों या किसी समारोह के बाद—जिसमें हमें आमतौर से मिलने वाले भोजन से अच्छा भोजन मिलता था—औरतें बीमार पड़ जाती थीं या पेचिश की शिकार हो जाती थीं।

उस महीने के अंत में मुझे फिर जमशेदपुर ले जाया गया लेकिन स्थानांतरण की याचिका पर अभी भी सुनवाई नहीं हुई थी इसलिए मेरा मुक़दमा इस बार भी १ जुलाई तक के लिए स्थगित कर दिया गया। स्थगन की अवधि काफ़ी लम्बी होने के कारण मुझे आशा थी कि मुझे फ़ौरन हज़ारीबाग वापस भेज दिया जायेगा और सचमुच ही अगले दिन सवेरे वॉर्डर ने मुझसे तैयार हो जाने को कहा। मैं अपना सामान और अपनी किताबें बाँधकर सारा दिन बैठी रही पर कुछ नहीं हुआ। अगला दिन भी ऐसा ही रहा। तीसरे दिन मुझे पता चला कि क्या मामला है। शहर की सारी पुलिस-गाड़ियाँ बेकार पड़ी थीं। यह कोई नयी बात नहीं थी। एक दिन अदालत के बाहर पुलिस गाड़ी खराब हो गयी और हमें सेना की एक लॉरी में लदकर आना पड़ा था। जब मैंने एक ड्राइवर से पूछा कि पुलिस की गाड़ियाँ इतनी जल्दी खराब क्यों हो जाती हैं तो उसने बताया कि जमशेदपुर में कोई भी मैकेनिक उन्हें ठीक नहीं करेगा क्योंकि उसे पता है कि उसे मज़दूरी नहीं मिलेगी। लगभग हर बार जमशेदपुर से हज़ारीबाग जाते समय हमारी गाड़ियों में कोई-न-कोई खराबी आ जाती और काफ़ी देर तक हम उसके ठीक होने के इंतज़ार में सड़क पर रुके रहते।

आखिरकार उस बार हम लोग क्रिसमस से ठीक पहले हज़ारीबाग वापस पहुँचे। दो दिनों बाद मेरे पास एक बार फिर वह ब्रिटिश वाणिज्य दूत आया। पटना में उससे पुलिस महानिरीक्षक ने बताया था कि मुझे क्रिसमस तक जमशेदपुर रखा जायेगा, इसलिए वह जमशेदपुर गया जहाँ उसे पता चला कि कुछ ही दिनों पहले मुझे हज़ारीबाग भेज दिया गया था। चूंकि उसके पास कार थी और समय था इसलिए वह हज़ारीबाग तक चला आया। अमलेन्दु के परिवार के सदस्य तथा मेरे सह-प्रतिवादियों के मुलाक़ाती हमेशा इतने सौभाग्यशाली नहीं थे। उस साल न जाने कितनी बार परिवार के सदस्य मुझसे भेंट करने के लिए आये और उन्हें पता चला कि मैं उस जेल में नहीं थी, जहाँ उन्होंने मेरे होने का अनुमान लगाया था। हज़ारीबाग और जमशेदपुर के बीच की दूरी को देखते हुए बिना मुझसे मिले ही उन्हें लौट जाना पड़ता था। इंग्लैण्ड के मेरे मित्रों और परिवार के सदस्यों के लिए तो यह और भी कष्टकर स्थिति थी। एक जेल से दूसरी जेल में तबादला किये जाने से हम लोगों के बीच जो सीमित पत्राचार था वह भी भंग हो गया था और उन्हें शायद ही कभी पता चल पाता था कि किस समय मैं कहाँ हूँ।

३ जनवरी १९७५ को ऑफ़िस का एक क्लर्क हमें यह बताने आया कि उत्तर बिहार के समस्तीपुर में केन्द्रीय रेलमंत्री एल० एन० मिश्र की हत्या कर दी गयी है। इस समाचार से उन क़ैदियों को भी कोई दुःख नहीं हुआ जो मिश्र को जानते थे। रेल-कर्मचारियों की हड़ताल के दौरान ज़बर्दस्त दमन के लिए मिश्रा ही ज़िम्मेदार थे और उन्हीं के निर्देश पर हज़ारों कर्मचारियों को अपनी नौकरी और अपने मकान से हाथ धोना पड़ा था। इस हत्या का हमारे अनिश्चित अस्तित्व पर

भी दुष्प्रभाव पड़ा। अखबारों में कहा गया था कि जिस समय मिश्रा की हत्या हुई, रेलवे स्टेशन पर सादा वर्दी में ७०० पुलिस वाले तैनात थे। अब पुलिस की ओर खासतौर से खुफ़िया विभाग की अक्षमता पर ज़बर्दस्त प्रहार किये जा रहे थे। इसीलिए जब अचानक एक दिन स्पेशल ब्रांच के लोगों को जल तोड़ने के एक और षड्यंत्र का 'पता चला' तो ऐसा लगा कि वे महज़ अपनी सक्षमता साबित करने के लिए यह सारा नाटक कर रहे हैं। एक बार फिर हथियारों और गोला-बारूदों की तलाशी ली गयी। तलाशी में कुछ भी नहीं मिला लेकिन उनका 'नौकरी बचाओ' अभियान सफल रहा। 'सूचनाएँ' भेजने के जिस काम के लिए उन्हें नियुक्त किया गया था उसे उन्होंने पूरा कर दिखाया था।

१९७५ के शुरू के दिनों में हमसे एक भिखमंगे की देखरेख के लिए कहा गया जो कुछ क़ैदियों को चंदवाड़ा कैम्प जेल के फाटक पर मिला था— वह भीख माँगने का बर्तन लेकर धूल में घिसट रहा था और खड़ा हो पाने में असमर्थ था। इन क़ैदियों ने सुपरिंटेंडेंट से अनुरोध किया कि उसे जेल में ही भर्ती कर लिया जाये और सचमुच ऐसा करके उसे भूख से मरने से बचा लिया गया। जब मैंने उसे पहली बार देखा, वह बड़ी मुश्किल से किसी तरह गिरते-पड़ते चलने लगा था। हालाँकि उसका बेहद फूला हुआ पेट उसका संतुलन बिगाड़ देता था। जैसे ही उसने नियमित रूप से भोजन करना शुरू किया कि उसका पेट इस सीमा तक बाहर निकल आया। उसके बड़े पेट के अलावा, सर भी असाधारण रूप से बड़ा था और हड्डियाँ कमज़ोर तथा हल्की थीं। उसके दाँतों पर पीले रंग की एक पपड़ी पड़ी थी। दूध के दो दाँतों को देखने से पता चलता था कि उसकी उम्र छः या सात वर्ष रही होगी। लेकिन वह बातचीत करने में असमर्थ था। बोलने की जब भी वह कोशिश करता तो बस एक घुरघुराहट निकलकर रह जाती—इसकी वजह शायद यही थी कि उससे कभी किसी ने इतनी बातचीत ही नहीं की जिससे वह बोलना सीख पाता। दूसरी तरफ़ हम उससे जो कुछ भी कहते थे, वह समझ जाता था। चूँकि नियमित भोजन करने की उसकी कभी आदत नहीं रही इसीलिए खाने वाली चीज़ों को देखते ही वह अपने हाथ फैला देता था भले ही उसका पेट क्यों न भरा हो। उसके खयाल से भोजन एक ऐसी चीज़ थी जो जब, जहाँ कहीं और चाहे जितनी मात्रा में मिले, ग्रहण किया जा सकता है। अपोषण, लीवर की गड़बड़ी और पेट की कीड़ियों के लिए डॉक्टर दवाएँ देते और वह बड़े चाव से उन्हें खा जाता---वह उसे भी भोज्यपदार्थ समझता था।

अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहने के कारण वह हठी, ज़िद्दी और कभी-कभी अनाज्ञाकारी हो गया था लेकिन अक्सर वह हमारी गोद में चढ़ जाता और हमें पकड़कर झूल जाता तथा चाहता रहता कि हम उसे प्यार करें—जिसे आज तक वह सचमुच कभी नहीं पा सका था। उसे गोद में चिपकाते समय मेरी आँखों से आँसू निकल पड़ते। धीरे-धीरे हमने उसे मुंह धोना, दाँत साफ़ करना (इसमें उसे बहुत तकलीफ़ होती थी और वह इसका विरोध करता था) सिखा दिया था और यह भी सिखा दिया गया था कि टट्टी करके आने के बाद वह हमें बता दे ताकि हम उसे धो दें। मेरे उलाहने के बावजूद अन्य औरतें उसे धतिगना अर्थात् लालची पेट कहा करती थीं। इसका मतलब यह नहीं था कि वे निर्दय थीं। बल्कि यह उनकी उस साफ़गोई का सबूत था जिससे वे लोगों को उनके किसी खास गुण से सम्बोधित करती थीं और ऐसा करते समय उनका रवैया आलोचना भरा या व्यंग्यपूर्ण नहीं रहता था। वे हमेशा प्रकाश की माँ को 'लंगड़ी' और मोती को

'पगली' कहकर सम्बोधित करती थीं क्योंकि वे वैसी ही थीं। मैंने धतिगना को अपना 'मंत्री' बना दिया क्योंकि बड़े विरोधाभास के साथ उसके बाहर निकले पेट से मुझे सरकारी अफ़सरों की बाहर निकली तोंद याद आ जाती थी। उसका भविष्य अनिश्चित था लेकिन अनेक क़ैदियों ने रिहा हो जाने के बाद उसे अपने घर ले जाने की इच्छा ज़ाहिर की थी। अनिवार्य रूप से वह किसी के मकान में नौकर हो जायेगा लेकिन कम-से-कम वह भूख से तो नहीं मरेगा।

अदालत में अगली तारीख़ पर पेशी के लिए जमशेदपुर जाते समय मैंने रास्ते में एक दुर्घटना देखी। हमारी गाड़ियों के पीछे से तेज़ रफ़्तार से आ रही एक कार ने हमारे आगे-आगे जा रहे एक साइकिल सवार को धक्का दे दिया और बिना रुके वह आगे बढ़ गयी। हमारे साथ चल रहे पुलिस दस्ते के इं.र्ज नौजवान अफ़सर को थोड़ी हिचकिचाहट के बाद अपने कर्तव्य का बोध हो आया और उसने हमारे ड्राइवर को आदेश दिया कि आगे से रास्ता रोककर भागती हुई कार पर क़ाबू पाए। हमारी जीप उस कार के आगे जाकर रुकी और सकुचाते हुए पर अफसराना ढंग से वह अफ़सर जीप से उतरकर कार की तरफ़ बढ़ा। कार में धूप के काले चश्मे लगाये चार लम्बे-चौड़े, ख़तरनाक और समृद्ध दिख रहे व्यक्ति निकले और धमकी देने के अंदाज़ में अफ़सर की तरफ़ बढ़े और अफ़सर के कुछ कहने से पहले ही उन्होंने सूचना दी कि वह साइकिल-सवार अपने आप ही गिर पड़ा था। फ़ौरन ही पुलिस अफ़सर ने पैंतरा बदल दिया और बड़बड़ाने लगा, "हाँ-हाँ, वह ख़ुद गिर पड़ा था, मैंने ख़ुद उसे देखा...हाँ-हाँ, शायद बहुत पी रखी थी। ये देहाती पीते भी तो अंधाधुंध हैं..." इस समवेत-स्वर में कुछ पुलिस वाले भी शामिल हो गये थे जिन्होंने समय की माँग को समझ लिया था, "हाँ-हाँ...वह गिरा पड़ा था, मैंने देखा...शराबी..."। उस साइकिल-सवार को ख़ून बहती हालत में सड़क पर ही भाग्य के सहारे छोड़ दिया गया था—चाहे वह मर जाये या ज़िन्दा रहे,उठ जाये या किसी दूसरी गाड़ी से कुचला जाये। वह एक ग़रीब था इसलिए इन बातों से कोई मतलब नहीं था। कार में बैठे लोग समृद्ध और शायद शक्तिशाली थे और सम्भवत: इसीलिए उन्हें साइकिल-सवार को धक्का देने और भाग खड़े होने की सज़ा नहीं मिल सकती थी। आख़िरकार किसी ग़रीब, घायल या उपेक्षित व्यक्ति के लिए समय लगाने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण काम लोगों के पास रहते हैं...

उस बार हालाँकि जज को बदलने की विशेष सरकारी वकील की कोशिश आश्चर्यजनक ढंग से विफल हो गयी, फिर भी मुक़दमे में कोई प्रगति नहीं हो रही थी क्योंकि सारे मामलों को मिलाकर एक करने के बारे में जो याचिका पेश की गयी थी उस पर पटना उच्च न्यायालय में अभी तक सुनवाई नहीं हो पायी थी। हमने अपने वकील तथा बिहार क़ानूनी सहायता समिति (बिहार लीगल एड कमेटी) के सदस्यों से विचार-विमर्श के लिए जमशेदपुर में दस दिनों तक रुकने की इजाज़त ले ली थी। इस समिति के लोग हमारी सहायता के लिए राज़ी हो गए थे। यदि उनकी सहायता हमें नहीं मिलती तो हमारे लिए मुक़दमे की इस जटिल और दीर्घकालिक कार्रवाई के ख़र्च के लिए पैसा जुटा पाना बेहद कठिन हो जाता। मुझे हमेशा एक ही भय बना रहता था कि यदि हमारा मुक़दमा बहुत लम्बा खिंचता रहा और उसमें ज़रूरत से ज़्यादा समय देना पड़ा तो हमारे वकील उदय मिश्र के हाथ से अन्य मुक़दमे निकल जा सकते हैं और उन्हें नुक़सान उठाना पड़ सकता है।

दस दिन पूरा हो जाने पर हर बार की ही तरह फिर इस बार हज़ारीबाग वापस जान के लिए गाड़ी की दिक़्क़त पैदा हो गयी। फलस्वरूप राज्य परिवहन की एक बस की व्यवस्था की गयी। मैं ऑफ़िस से निकलकर बस में बैठने जा ही रही थी कि मैंने एक बूढ़ी बंगाली औरत को रोते देखा। वह मेरे एक सह-अभियुक्त की माँ थी। वह कलकत्ता से यहाँ तक का लम्बा सफ़र करने के बाद अपने लड़के से मिलने आयी थी। सवेरे से वह मिलने की प्रतीक्षा कर रही थी पर उसे मिलने नहीं दिया गया—बस में जब वह बैठने जा रहा था उस समय केवल दो-चार शब्द कहने की इजाज़त दी गयी। वह महिला अपने लड़के के पैरों में बेड़ियाँ देखकर रो रही थी। बस की खिड़की में से झांकते हुए लड़के ने माँ को अपने पास बुलाया और कहा, "माँ, तुम्हारे हाथ में भी तो चूड़ियाँ हैं, फिर मेरे पैरों में अगर बेड़ी है तो तुम क्यों दुखित हो रही हो ?" उसने यह कहकर अपनी माँ को खुश करना चाहा था और उसके इस अन्दाज़ से मैं काफ़ी प्रभावित थी। अदालत में पेशी के दौरान मेरे मामले से सम्बद्ध युवकों के चेहरों पर खुशी और सजगता की जो झलक दिखायी देती थी उससे वहाँ मौजूद उच्चायोग के अधिकारी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। वे जिस तरह अपनी कठिनाइयों को झेल रहे थे, उससे मैं उनके प्रति बेहद सम्मान की भावना से भर उठती।

उस बार की यात्रा अविस्मरणीय थी। मैं गाड़ी की अगली सीट पर बैठी थी और वहाँ से मुझे छोटानागपुर के गाँवों की बड़ी साफ़ झलक दिखायी पड़ रही थी। पहाड़ियों और दूर तक फैले क्षितिज के बीच दूर जाती सड़क को देखकर अचानक अतीत के आज़ाद जीवन की यादें ताज़ा हो जातीं लेकिन जल्दी ही मैं बाहर की तमाम चीज़ों को उस सीमित समय में अपनी चेतना में स्थापित करने में लग जाती। हम धूप और आकाश के बीच पड़े उन खेतों से गुज़र रहे थे जिनकी फ़सलें काटी जा चुकी थीं और जो अगली बुआई के लिए वसन्त की फ़ुहारों का इन्तज़ार कर रहे थे। फरवरी का महीना था और मौसम में अभी तपिश और धूल बनी हुई थी। हम उन नदियों को पार कर रहे थे जिनमें गर्मी शुरू होने से पहले ही इतना कम पानी बच रहा था कि रेत के सागर में कुछ बूंदों का आभास हो रहा था। आकाश रंगहीन हो रहा था और सूरज किसी चुम्बकीय नेत्र की तरह लग रहा था। बच्चे छोटे-छोटे पोखरों में मछलियाँ मार रहे थे और खेतों तथा जंगलों में खेलने के लिए सरकण्डे तोड़ रहे थे। मैं उनके दु:ख-दर्द के बारे में, मिट्टी की दीवारों और फूस से बनी छतों में छिपे अध्यवसाय के बारे में तथा उस छोटी-सी अँधेरी जगह के बारे में सोच रही थी जो उन परिवारों के रहने की जगह थी जिनके जीवन का अर्थ ज़िन्दा रहने से ज़्यादा कुछ भी नहीं था। कभी-कभी हम ईंट के बने मकानों के अहाते के पास से गुज़रते और उन समृद्ध घरों की लड़कियाँ और बहुएँ अपने को पर्दे में कर लेतीं। ट्रकों और राइफ़लों से भरे तथा बिजली की रोशनी में दिख रहे घेरों पर जब मेरी निगाह गयी तब मुझे पता चला कि भारत भी २०वीं सदी के युग में है। कभी-कभी हम भीड़भाड़ और गंदगी से भरे नगरों से गुज़रते जो एक साथ ही मध्यकालीन और आधुनिक लगते थे। सड़क के किनारे वर्कशॉपों, कारखानों और गैराजों की एक लम्बी क़तार होती। अंततः हम हज़ारीबाग की पहाड़ियों तक आ पहुँचे जहाँ घाटी, कोयलाखान और जंगल का एक विस्तार था। मेरी इच्छा हुई कि उन पेड़ों को जाकर छू लूं और एक क्षण के लिए मैं यह भूल ही गयी कि राइफ़लों के जंगल ने मुझे इनसे अलग कर रखा है।

ताला बंद होने के समय से पहले ही हम पहुँच गये और मेरी वॉर्ड की औरतों तथा बच्चों ने मेरा इस तरह स्वागत किया जैसे मैं ग्यारह दिनों बाद नहीं, बल्कि ग्यारह वर्षों बाद आ रही होऊँ। इस स्वागत के बीच एक दुखद समाचार भी सुनने को मिला : मेरी बिल्ली पुरुषों के वार्ड में बने एक कुएँ में गिरकर मर गयी थी। यह पहला अवसर था जब जमशेदपुर जाते समय मैं उसे हज़ारीबाग छोड़ गयी थी।

हमारे शौचालयों को साफ़ करने के लिए कुछ दिनों से एक दूसरा क़ैदी रखा गया था। वह मुझे बेहद साहसी लगता था। उसने मुझे एक दिन बताया कि वह तथा अन्य सफ़ाई कर्मचारी प्रतिदिन चार आना कमाते हैं जो ऑफ़िस में जमा होता जाता है और जेल से रिहा होते समय मिलता है। एक दिन पहले उसके एक साथी का किसी दूसरी जेल को तबादला हुआ था और जेलर ने उसे उसकी कमाई देने से इनकार कर दिया था—जेलर का कहना था कि उसके कागज़ात ठीक नहीं हैं। जब उस व्यक्ति ने विरोध किया और कहा कि "क्या मैंने नौ महीने फ़ालतू काम किया है," तो जेलर ने जवाब दिया, "जाओ, तुम्हें जो करना हो कर लेना।" और उन पैसों को सम्भवत: अपनी जेब में डाल लिया जो उस व्यक्ति ने बड़ी मेहनत से कमाये थे और जिससे वह उम्मीद करता था कि मुक़दमे के ख़र्च में मदद मिलेगी।

हमारे वॉर्ड के इस सफ़ाई कर्मचारी की भी वही हालत हुई जो व्यवस्था के खिलाफ़ आवाज़ उठाने वाले अन्य क़ैदियों की हुई थी। एक दिन वह अदालत गया और नक्सलवादी क़ैदियों सहित कुछ अन्य क़ैदियों के साथ उसने जेल में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा क़ानूनी व्यवस्था के खिलाफ़ नारे लगाये। अगले दिन सवेरे शौचालय की सफ़ाई के लिए एक दूसरा क़ैदी आया। जब हमने पूछा कि पहले वाला व्यक्ति कहाँ है तो उसने जवाब दिया, "उसने बदतमीज़ी की थी।" बार-बार पूछने पर उसने बताया कि पहले वाले भंगी ने एक क़ैदी के कुछ पैसे चुरा लिये थे इसलिए उसे अब क़ैद-तनहाई में रख दिया गया है। मुझे लगभग पूरा विश्वास था कि जेल कर्मचारियों के खिलाफ़ अदालत में नारे लगाने के लिए दंड देने के वास्ते उसे एक झूठी कहानी गढ़कर फँसाया गया था।

उन दिनों सुपरिंटेंडेंट अकसर अनुपस्थित रहता। उसका नौकरी से रिटायर होने का समय आ गया था और चूँकि वह इस मुनाफ़े वाली जगह को छोड़ना नहीं चाहता था इसलिए अपनी सेवा-अवधि को और एक वर्ष के लिए बढ़ाने के वास्ते बड़े अफ़सरों को राज़ी करने में लगा था। जो लोग इस पद पर पहुँचने के लिए अपनी पदोन्नति के इन्तज़ार में थे, वे सुपरिंटेंडेंट की इन कोशिशों का विरोध कर रहे थे। कई महीनों तक यह फ़ैसला नहीं हो सका कि सुपरिंटेंडेंट की सेवा अवधि को बढ़ाया जाये या नहीं और नतीजा यह हुआ कि उस पद पर किसी की नियुक्ति नहीं की गयी। एक बार तो ऐसी हालत हो गयी कि बिहार के उस क्षेत्र में स्थित चारों केन्द्रीय जेलों में से किसी भी जेल में कोई सुपरिंटेंडेंट नहीं था। इन पदों के लिए संघर्ष का हमेशा एक ही रूप होता था : सभी आवेदक अपनी जेबें नोटों से भरकर पटना पहुँचते थे और वहाँ उचित व्यक्ति को अधिक से अधिक घूस देने की होड़ लग जाती थी। इस बात को जेल-कर्मचारियों ने बहुत साफ़ शब्दों में मुझसे बताया था। यह बताने के पीछे उनका इरादा किसी को बदनाम करने का नहीं था बल्कि उन्होंने मज़ाक उड़ाने के अन्दाज़ में ये सारी बातें बता दी थीं। उनके

लिए यह सब बहुत सहज था। भले ही वे इसे पसन्द न करते रहे हों लेकिन उनको इसका पालन करना ही पड़ता था।

वाल्को के स्थान पर बूढ़ी आदिवासी मेटिन गुरुवाड़ी के आने से नियमों में काफ़ी ढील मिल गयी थी और मुझे उन पुरुष क़ैदियों से बात करने का अवसर मिल जाता था जो हमारे वॉर्ड में आते थे। जब मैं हज़ारीबाग आयी थी मेरा राशन हरी लाया करता था लेकिन मुझे उसके बारे में सिवाय इस तथ्य के और कोई जानकारी नहीं थी कि वह बीस वर्ष की सज़ा अब लगभग पूरी कर चुका है। एक दिन मैंने उससे उसके परिवार के बारे में पूछा। शुरू में तो वह संकोच करता रहा लेकिन उसके बाद अपने बारे में उसने इतना कुछ बताया कि जिससे लगा कि वह बहुत दिनों से किसी से यह सारी बातें बताना चाहता था। वह एक मध्यवर्गीय किसान था। उसके परिवार के पास पर्याप्त खेत थे जिससे साल भर का खर्च चल जाता था और थोड़ा अनाज बच भी जाता था। एक बार की बात है कि उस वर्ष उस इलाक़े के एक बड़े ज़मींदार ने अपने किराये के आदमियों के ज़रिये उसकी फ़सल को जान-बूझकर बर्बाद करा दिया। दरअसल वह ज़मींदार इसकी उपजाऊ ज़मीन को बन्धक रखना चाहता था। एक दिन शाम को जैसे ही हरी खेतों से होकर अपने घर पहुँचा उसने देखा कि घर में खाने के लिए कुछ भी नहीं है और परिवार का पेट भरने के लिए कई दिनों से उपवास कर रही उसकी बूढ़ी माँ भूख के कारण मर चुकी है। उसने फ़ौरन ही फैसला कर लिया कि वह इस सारी दुर्दशा के लिए ज़िम्मेदार व्यक्ति को मार डालेगा। उसने महसूस किया कि घर का बड़ा लड़का होने के नाते अपने परिवार के दुश्मनों से बदला लेना उसका कर्त्तव्य है। उसने ज़मींदार की हत्या कर दी और खुद पुलिस के सामने आत्म-समर्पण कर दिया।

हरी ने मुझे बताया कि अपने इस कृत्य का उसे कभी अफ़सोस नहीं रहा। दुश्मन का सफ़ाया कर दिये जाने से उसके भाई अब चैन के साथ खेती कर रहे होंगे। लेकिन अब जैसे-जैसे उसकी रिहाई का समय नज़दीक आ रहा था वह अशांत और सोचता था कि गाँव वापस जाने पर कैसा लगेगा। मैं समझ रही थी कि वह सोचता रहा होगा कि हो सकता है कि हत्या के बदले में उसे भी मार डाला जाये। देहात में लोगों की याददाश्त बड़ी अच्छी होती है और सींखचों के अन्दर वर्षों तक रह लेने से भी इस बात की गारंटी नहीं हो सकती कि गाँव का न्याय संतुष्ट हो चुका है।

अगली बार की यात्रा में मैं केवल तीन दिन ही जमशेदपुर में रही और यह भी पहले की तरह व्यर्थ साबित हुई। उच्च न्यायालय में पेश की गयी याचिका पर फ़ैसला हो चुका था लेकिन सारे दस्तावेज़ अभी जमशेदपुर नहीं पहुँचे थे इसलिए मुक़दमे की कार्यवाही में देर थी। सारे मामले को तेज़ करने के लिए हमारे वकील ने अभियोग पक्ष के साथ एक समझौता कर लिया था। उसने बताया कि मुक़दमे की कार्यवाही एकदम शुरू न होने से बेहतर यह है कि अलग-अलग मुक़दमे चलाये जायें और चूँकि उच्च न्यायालय के सामने पहले से ही इतनी ज़्यादा याचिकाएँ पड़ी हुई हैं कि फिर याचिका पेश करके देर करने में कोई फ़ायदा नहीं है। मुझे इससे कोई मतलब नहीं था कि कितने मुक़दमे उन्होंने दर्ज किए थे। मैं चाहती थी कि वे जल्दी शुरू हों ताकि मुझे किसी एक स्थान पर रखा जा सके।

एक बार फिर मुक़दमे की तारीख निर्धारित हुई और इस बार यह २८ अप्रैल थी।

आख़िरी बार तबादला

उस वर्ष बार-बार देर होने के बावजूद मुझे कम-से-कम यह आभास होने लगा था कि मुक़दमे के सिलसिले में कुछ हो रहा था। हालाँकि मैंने शुरू से ही इन चीज़ों से लापरवाह दिखने का अभिनय किया था और अपने काम में इस तरह लगी रहती थी गोया सारी ज़िन्दगी मुझे जेल में ही बितानी हो, फिर भी मेरे अन्दर कहीं कोई आशा पल रही थी। हाँ, मेरे अन्दर यह साहस नहीं था कि मैं स्वीकार करूँ कि मैं कुछ आशा कर रही थी। अदालत में एक पेशी से दूसरी पेशी के बीच का जो समय मिलता था उसमें मैं अपने अध्ययन का कार्यक्रम चलाते रहने की कोशिश करती थी और इससे मुझे अपने मुक़दमे तथा अपने चारों ओर की अनिश्चितताओं से कुछ देर के लिए छुटकारा मिल जाता था। मेरे सह-प्रतिवादी बहुधा मुझसे तरह-तरह के सवाल किया करते थे—वे कभी ब्रिटेन के बारे में, कभी आयरलैण्ड की समस्या के बारे में और लेबर सरकार या ब्रिटेन के जीवन-स्तर के बारे में पूछा करते थे। चीज़ों को जानने की उनकी चाह से भी मुझे यह प्रेरणा मिलती थी कि मैं लगातार किसी-न-किसी मानसिक चेष्टा में जुड़ी रहूँ।

जेल में तथा बाहर धार्मिक त्योहारों का एक कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला जारी था। मेरे दैनिक क्रिया-कलापों की एकरसता इन समारोहों से टूटती थी और यह मुझे अच्छा लगता था। उस वर्ष कुछ युवतियों ने सुझाव दिया कि हिन्दू वर्ष के अन्त में वसन्त में पड़ने वाले होली समारोह के समय हम हर रोज़ की तरह छोटे-छोटे गुटों में खाना बनाने और खाने की बजाय एक दावत का आयोजन करें और वॉर्डर से अनुरोध करें कि वह हमारे लिए एक बड़ी अँगीठी और कुछ बर्तनों का इन्तज़ाम कर दे जिससे हम एक साथ खाना तैयार कर सकें। कुछ ही क़ैदी ऐसे थे जो इस आयोजन में भाग लेना नहीं चाहते थे। जेल से बाहर उनके बच्चे थे और वे यह उचित नहीं समझते थे कि वे तो आनन्द मनायें और उनके बच्चों को शायद पर्याप्त खाना भी न मिल सके।

समारोह के लिए एक तिथि निश्चित किये जाने के बाद हम इस बात से निश्चित होना चाहती थीं कि उस तिथि से पहले क़ैदियों के बीच कोई झगड़ा न हो वरना हो सकता है कि झगड़े के कारण क़ोई क़ैदी हमारे समारोह में शामिल होने से इंकार कर दे। लेकिन यह कहना जितना आसान था, करना उतना ही कठिन था। सवेरे से शाम तक हर रोज़ धूल भरी लू चलती थी जिससे हमारा मिजाज़ भी मौसम के ही अनुपात में गर्म हो जाता था। हमारे अहाते में फूलों वाले दो पौधे थे जिन्हें सुपरिंटेंडेंट ने अपने किसी सदाशयता वाले क्षण में उन पेड़ों के स्थान पर लगवा दिया था जिन्हें पहले काटकर गिरा दिया गया था। मैं इनके लाल रंग के बड़े-बड़े फूलों को बहुत पसन्द करती थी। इनके फूल अप्रैल में खिलते थे। लेकिन दूसरी औरतें मेरी इस पसन्द पर बिलकुल खुश नहीं थीं। वे इसे झगड़ेला फूल (झगड़ा करने वाला फूल) कहती थीं और वे इस बात पर ज़ोर देती थीं कि जब तक इस पेड़ में फूल लगे रहेंगे तब तक जो कोई भी इन फूलों को देखेगा, उसकी आपस में कभी पट न सकेगी। मेरा अनुमान था कि लू के दिनों में लोगों का स्वभाव वैसे ही चिड़चिड़ा हो जाता है और चूँकि ये फूल लू के दिनों में खिलते हैं, इसलिए लोगों के गर्म मिजाज़ के साथ फूल के बुरे गुणों को जोड़ दिया गया था।

लू के कारण काफ़ी बड़ी मात्रा में 'धूल और रेत' हमारी खुली सलाखों के रास्ते अन्दर आ जाती थीं और सारी कोठरी पत्तियों और झाड़-झंखाड़ के टुकड़ों से भर जाती थी। हर रोज़ दोपहर में लगभग दो बजे आँधी-जैसी हवा चलती थी। कुछ मिनटों के लिए समूची कोठरी में रेत भर जाती और हमारी आँखों, कानों, गले और नाक में घुस जाती। जब आँधी रुकती तो हमारी कोठरी—जिसे हम हर रोज़ साफ़ करती थीं—ऐसी लगती थी, जैसे किसी बहुत बड़े तूफ़ान ने इस पर हमला किया हो। ऐसे ही दिनों में मैं दुलाली के गुणों की बहुत प्रशंसा करती थी। हर रोज़ शाम को वह बड़े धीरज के साथ कई बाल्टी पानी लाती, सारे कम्बलों, कपड़ों और पुस्तकों को अच्छी तरह झाड़ देती थी और समूची कोठरी को तब तक पानी से रगड़-रगड़कर साफ़ करती जब तक धूल का नामोनिशान भी नहीं खत्म हो जाता। यदि दुलाली हमारे साथ नहीं होती तो मेरे अन्दर न तो इतनी ताक़त थी और न नल के पास खड़े होकर एक-एक बूँद पानी से बाल्टी के भर जाने का इंतज़ार करने का धैर्य था। धूल से मैं बुरी तरह थक जाती थी और स्वभाव में बेहद चिड़चिड़ापन आ जाता था जिसके कारण मैं ठीक ढंग से कुछ भी नहीं सोच पाती थी। दूसरी तरफ़ दुलाली पर इन चीज़ों का कोई असर नहीं दिखायी पड़ता था। वह बेहद फुर्तीली थी और हर तरह के मौसम में कठिन काम करने की उसकी आदत थी इसलिए उसने कभी मेरी तरह सरदर्द की शिकायत नहीं की।

जमशेदपुर में शुरू में उन पादरी महोदय द्वारा मेरे प्रति दिलचस्पी लिये जाने के बाद मेरे पास समय-समय पर कई दूसरे पादरी और नन आने लगीं जो यहाँ के विभिन्न मिशन स्कूलों और कॉलेजों से सम्बद्ध थीं। मैं उनके उपहारों तथा उनके द्वारा अपने 'साहस' की तारीफ़ सुनकर बहुत उलझन में पड़ जाती, यह सोचकर कि मैं उनको किसी तरह का बहुत कम संतोष दे पाती हूँ। हालाँकि हमारी और उनकी दुनिया के बीच बहुत फ़र्क़ था और मैं उनके काम को भारत की समस्याओं के संदर्भ में संगत नहीं मानती थी फिर भी मैं उनकी निष्ठा का सम्मान करती थी। जहाँ तक मैं समझ सकी थी, उनके स्कूलों के ज़रिये

अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों का एक अभिजात वर्ग तैयार किया जा रहा था और इन स्कूलों में पढ़ने वाले लोग वर्षों तक इन संस्थाओं से जुड़े रहने के फलस्वरूप देश की बाक़ी आबादी से पूरी तरह कट जाते थे। इसके अलावा व्यापक भ्रष्टाचार में शामिल हुए बिना उनके लिए कुछ भी कर पाना असम्भव था। एक पादरी ने मुझसे यह बताया कि अपने स्कूल के लिए खाद्य सामानों की नियमित सप्लाई की गारंटी के लिए उन्हें स्थानीय सरकारी अधिकारियों के लड़कों को छात्र के रूप में अपने यहाँ भर्ती करना पड़ता है।

एक दिन बेहद गर्मी पड़ रही थी और मुझे दो ननों से मिलने के लिए जेल के ऑफ़िस में बुलाया गया—इनमें एक स्विस थी और दूसरी आस्ट्रियन। उनके निर्विकार और चमकते चेहरे तथा शान्तिपूर्ण मुद्राओं से साफ़ लगता था कि वे अपने इर्द-गिर्द की घटनाओं से पूरी तरह उदासीन थीं। कुछ विशिष्ट भूतपूर्व क़ैदियों की तस्वीरों के नीचे वे बैठी हुई थीं और सुपरिंटेंडेंट की पत्नी की ओर से पेश की गयी कॉफ़ी की चुस्की लेते हुए तथा केक खाते हुए देखकर मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं हज़ारीबाग की धूल भरी गर्म सड़क से तथा धूप से झुलसे खेतों से कुछ हज़ारों मील की दूरी पर खड़ी हूँ। मुझे ऐसा लगा कि यदि मैं टहलती हुई खिड़की तक पहुँच जाऊँ तो मुझे पहाड़ों की हरियाली और बर्फ़ से ढँकी चोटियाँ दीख जायेंगी। वे भारत में विताये गये अपने साठ वर्षों के लंबे समय से पूरी तरह अप्रभावित लग रही थीं। एलपाइन के फूलों और स्विट्ज़रलैण्ड के सैरगाहों से सम्बन्धित पुस्तकों को देखकर मेरी यह धारणा और पुष्ट हुई—ये पुस्तकें वे मेरे लिए लायी थीं। हालाँकि मैं वास्तविकता से उनके कटे रहने की बजाय उनके लालसारहित आनंद के बारे में सोचती रही, फिर भी मुझसे मिलने की उनकी उदारता की सराहना किये बिना भी न रह सकी।

उस दिन दोपहर बाद ऑफ़िस से वापस लौटते समय मुझे रास्ते में एक क़ैदी मिली जिसने अभी कुछ ही दिन पहले हमारे वॉर्ड में प्रवेश किया था। वह जाति की धोबिन थी और चूँकि वह हमेशा हमारे ऊपर घिर रहे दुर्भाग्य की भविष्यवाणी किया करती थी इसलिए उसे अन्य महिलाएँ ज़्यादा पसन्द नहीं करती थीं। उसने मुझे अत्यन्त रहस्यमय ढंग से अपनी ओर आने का इशारा किया। मैं समझ नहीं पायी कि मामला क्या है और तेज़ी से उस कोने की तरफ़ बढ़ी जहाँ वह कुछ अन्य महिलाओं के साथ बैठी हुई थी। मुझे बैठने का इशारा करते हुए उसने फुसफुसाते हुए कहा, "दीदी क्या तुम जानती हो कि गर्भपात कैसे किया जाता है?" मैं सकते में आ गयी। हालांकि कई अजीबोग़रीब अनुरोध मेरे सामने आ चुके थे, यह पहला अवसर था जब मुझसे इस तरह का काम करने को कहा गया। उन्हें यह बताते हुए कि इन मामलों में मुझे थोड़ा भी अनुभव नहीं है, मैंने जानना चाहा कि किसको गर्भपात कराना है। उसने अलमोनी की तरफ़ इशारा किया। वह एक दुबली-पतली और बीमार-सी दिखने वाली औरत थी और उसके हाव-भाव तथा उदास चेहरे को देखकर मुझे काफ़ी पहले ही शक हो गया था कि वह गर्भवती है। अलमोनी का पति एक धनी किसान को लूटने की कथित कोशिश में लड़ाई के दौरान मारा गया था। उस घटना के बाद उसे और उसकी सहेली राधामोनी को गिरफ़्तार कर लिया गया था।

उस धोबिन ने अलमोनी को यह समझा दिया था कि जब वह जेल से रिहा होकर जायेगी तो गाँव में कोई भी व्यक्ति इस बात पर विश्वास नहीं करेगा कि यह बच्चा उसके मृत पति का है। वे समझेंगे कि जेल में ही वह गर्भवती हुई

है और उसे गाँव से बाहर निकाल देंगे। यह आम धारणा थी कि जेल एक ऐसी खतरनाक जगह है, जहाँ औरतें अपने सतीत्व की रक्षा नहीं कर सकतीं और हालाँकि मेरे सामने कभी ऐसी कोई घटना नहीं आयी जिससे इस धारणा की पुष्टि हो सके। फिर भी अलमोनी को उस धोबिन ने बड़ी आसानी से अपनी बातों की चपेट में ले लिया। इसके अलावा वह भी नहीं चाहती थी कि बच्चा पैदा हो। वह समझ नहीं पाती थी कि पति के मर जाने के बाद वह इस बच्चे का पालन-पोषण कैसे कर पायेगी जबकि पहले से ही उसके दो बच्चे घर पर पड़े हुए हैं। उसने तय किया कि इस मुसीबत से बचने का एक ही उपाय है और वह है गर्भपात। मैंने उसे सलाह दी कि वह यह विचार छोड़ दे क्योंकि इस तरह के कामों के लिए जेल में सुविधाएँ नहीं उपलब्ध हैं। लेकिन ऐसा लगता था कि उसने बच्चा न पैदा होने के लिए अपने को दिमाग़ी तौर पर पूरी तरह तैयार कर लिया था। उसने खाना-पीना बन्द कर दिया और यह आशा करने लगी कि शायद कमज़ोरी की वजह से अपने आप ही गर्भपात हो जाये।

हमारा बहुप्रतीक्षित होली-समारोह महिला क़ैदियों के बीच एक नया सम्बन्ध क़ायम करने में महत्त्वपूर्ण साबित हुआ। निर्धारित तिथि से पहले पड़ने वाले इतवार के दिन हमने उपवास किया और अपने सारे साधनों को एक जगह जुटाया। हमारे पास आटा, शीरा, आलू, सरसों का तेल और मिर्च का भण्डार इकट्ठा हो गया। सवेरे का वक्त हमने पूड़ी और आलू की सब्ज़ी बनाने में गुज़ारा, तेल में खूब अच्छी तरह तलकर कुछ चिल्ले बनाये और नीम के पेड़ के नीचे एक बड़े घेरे में बैठकर हम लोगों ने साथ-साथ भोजन किया। हालाँकि महीनों से हम लोग जो खाते आ रहे थे, उससे बहुत अच्छा खाना आज मिल रहा था फिर भी मुझे सबसे ज़्यादा खुशी इस बात की हो रही थी कि पहली बार हमने पूरी एकता के साथ कोई कार्यक्रम तैयार किया और उसे कार्यान्वित भी कर दिया। उस समय एकता का जो वातावरण बना, तरह-तरह की जातियों और क़िस्मों के लोगों का जो संगम हुआ, तमाम आपसी विद्वेषों और अवरोधों पर जो विजय मिली, वह भले ही थोड़ी ही देर के लिए क्यों न रही हो मेरे जेल-जीवन के अनुभव का एक अद्भुत अनुभव थी।

२८ अप्रैल को हमें जमशेदपुर नहीं ले जाया जा सका। इसका कारण यह था कि हज़ारीबाग में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो गये थे और पुलिस के सभी उपलब्ध दस्तों को इन दंगों को शांत करने के लिए लगा दिया गया था। मज़े की बात यह थी कि जेल के अन्दर हिन्दू और मुसलमानों के बीच गज़ब की एकता थी। जहाँ तक दंगों की बात है अप्रैल का महीना हमेशा बुरा साबित हुआ था। होली के कुछ ही दिनों बाद मुसलमानों का एक त्योहार हिन्दुओं के त्योहारों के साथ-साथ पड़ता और आमतौर से कुछ कट्टरपंथी इस इंतज़ार में रहते थे कि इन धार्मिक सम्प्रदायों के दोनों गुटों के बीच गड़बड़ी पैदा कर दी जाये। काफ़ी गिरफ़्तारियाँ हुई थीं और हमारे वॉर्ड के एक तरफ़ के वॉर्ड में हिन्दुओं को तथा दूसरी तरफ़ के वॉर्ड में मुसलमानों को रख दिया गया था और दोनों अपने-अपने नारे लगाते थे। उस समय इस बात का कोई संकेत भी नहीं दिया गया कि हमारा मुक़दमा कितने दिनों तक स्थगित रहेगा। मुझे यह सोचकर आराम मिलता था कि इस धूप और लू में मुझे सफ़र नहीं करना पड़ेगा।

हालाँकि जयप्रकाश नारायण का आन्दोलन अब शांत हो गया था फिर भी

हड़ताली स्कूल-अध्यापकों और कारखाना-मज़दूरों से जेलें भरने लगीं। एक दिन लगभग १७ वर्ष की एक लड़की को कुछ लोग ढोकर ले जा रहे थे—उसके सिर, कंधे, पीठ और पैर में गोलियों के घाव थे। उसने एक मिशन स्कूल से मैट्रिक किया था और उसके परिवार के लोग अब उसे अधिक नहीं पढ़ा सकते थे इसलिए एक कोयला खान में उसे नौकरी करनी पड़ी थी। हालांकि कोयला खान की वास्तविक सतह पर काम करने के लिए काफ़ी पहले से औरतों पर प्रतिबंध था फिर भी वे अपने सरों पर खान से कोयले से भरे टोकरे ढोकर ट्रकों तक पहुँचाती थीं। मैं यह सोचकर हैरान हो गयी कि वह दुबली-पतली लड़की, जो देखने में एक बच्चे-जैसी लगती है, किस तरह अपने सर पर कोयले से भरी टोकरी ढोती रही होगी। उसके शरीर में इतनी ताक़त कहाँ से आयी होगी। मैंने उससे पूछा कि उसे कैसे चोट लगी।

उसने बताया कि उसके खान मज़दूरों ने 'आधिकारिक' यूनियन से असंतुष्ट होकर एक दूसरा संघ बना लिया था और मज़दूरी में वृद्धि के लिए तथा जीवन-यापन की स्थितियों में सुधार के लिए उन्होंने एक-दो बार हड़तालें की थीं। क्वार्टर के नाम पर उनके पास लोहे की लहरदार चद्दरों की छाजन वाला एक कमरा था और पानी-सप्लाई की कोई उचित व्यवस्था नहीं थी। वह दिन भर में केवल चार रुपये कमाती थी और उस समय चावल की क़ीमत प्रति किलोग्राम तीन रुपये से भी अधिक थी। एक रात कांग्रेस समर्थित 'आधिकारिक' यूनियन के कुछ नेता अपने साथ कुछ आदमियों को लेकर वहाँ पहुँचे और मज़दूरों को उनकी झोंपड़ियों से बाहर बुला लिया। फिर दोनों गुटों में जमकर लड़ाई हुई और झगड़े को निपटाने के लिए पुलिस पहुँची। पुलिस ने गोली चलायी और सात व्यक्ति घायल हुए—ये सभी मज़दूरों की अपनी यूनियन के सदस्य थे। वे तथा यूनियन के कुछ अन्य सदस्य दंगा भड़काने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिये गए।

अब तक मैं अपने मुक़दमे के सिलसिले में लगातार हो रही देर की अभ्यस्त हो चुकी थी। फिर भी मैं अक्सर यह सोचा करती कि मेरे माता-पिता को कैसा महसूस हो रहा होगा। मैं अनुमान लगा सकती थी कि वे हर नयी तारीख़ की ख़बर पाकर इस आशा में रहते होंगे कि मेरा मुक़दमा सचमुच अब शुरू होने जा रहा है। वे कैसे उन एक सौ एक सम्भावनाओं का अंदाज़ा लगा सकते हैं, जिनकी वजह से मेरा मुक़दमा बार-बार मुल्तवी किया जा रहा था, दूसरी तरफ़ उनके पत्रों में हमेशा मेरे बारे में चिंता रहती थी। उन्हें भय था कि बार-बार मुक़दमे के स्थगित किये जाने से उत्पन्न तनाव को मैं शायद बर्दाश्त न कर पाऊँ। इतने वर्षों तक जेल में रहने के बाद मेरे परिवार के सदस्यों और मेरे मित्रों ने मुझे छोड़ा नहीं था—इस तथ्य का जेल के कर्मचारियों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता था। इससे वे यह सोचते थे कि मैं ज़रूर कोई महत्त्वपूर्ण महिला हूँ। स्पेशल ब्रांच के एक अधिकारी ने एक बार उच्चायोग के अधिकारी से जानना चाहा कि क्या मैं किसी बहुत बड़े घराने से सम्बन्ध रखती हूँ। उनका अनुमान यह था कि यदि ऐसा नहीं है तो लोग मेरे बारे में इतने चिंतित क्यों हैं।

एक दिन मैंने द टाइम्स में पढ़ा कि हैलडेन सोसाइटी ऑव लाइअर्स ने श्रीमती गांधी के पास विरोध प्रकट करते हुए लिखा है कि मेरे ऊपर मुक़दमा चलाने में इतनी देर क्यों की जा रही है। इसके कुछ ही दिनों बाद चीफ़-हैड वॉर्डर ने मुझे बताया कि बी० बी० सी० वर्ल्ड सर्विस ने मेरी गिरफ़्तारी के बारे में समाचार दिया था। मैं जानती थी कि देर-सवेर मेरे मित्रों और परिवार के सदस्यों द्वारा किये गये प्रयत्नों का असर पड़ेगा और मेरा मुक़दमा जल्दी ही शुरू

होगा। फिर भी इसके नतीजे के बारे में मुझे बराबर संदेह रहा। मैंने सोचा कि इतने दिनों तक मुझे गिरफ़्तार रखने का औचित्य साबित करने के लिए शायद अधिकारीगण मुझे अपराधी साबित करने की पूरी कोशिश करेंगे। इसके अलावा बीस साल की सज़ा की धमकी एक ही बार नहीं बल्कि कई बार दी गयी थी।

१० मई, १९७५ को चीफ़-हैड वॉर्डर ने मुझे बताया कि अगले दिन सवेरे आठ बजे मुझे जमशेदपुर जाना है और मैं तैयार हो जाऊँ। दूसरे दिन लगभग दस बजे तक मैं इंतज़ार करती रही। अपने फटे-पुराने खाकी रंग के थैलों तथा पुस्तकों और कपड़ों से भरे कार्ड बोर्ड के बक्सों से घिरी मैं अपने कम्बल पर लेटी हुई थी कि तभी एक बच्चा दौड़ता हुआ मेरे पास आया और बोला, "मौसी, अलमोनी का बच्चा गिर रहा है।" जेल में थोड़ी भी गोपनीयता नहीं थी—यहाँ तक कि बच्चे भी जानते थे कि किसको मासिक धर्म हो रहा है, कौन गर्भवती है और अब वे सभी अलमोनी का गर्भपात देख रहे थे। मैं दौड़ती हुई डार्मिटरी तक गयी जहाँ अलमोनी एक कोने में पड़ी कराह रही थी। उसके पैर मुड़े हुए थे और एक-दूसरे से दूर फैले हुए थे। एड़ियाँ फ़र्श पर तेज़ी से गड़ी हुई थीं और एक औरत उसके पेट पर मालिश कर रही थी तथा दूसरी उसके कंधों को मल रही थी जिससे पेट में से भ्रूण किसी तरह बाहर आ जाये। उसका रंग एकदम पीला पड़ गया था, शरीर पसीने से तर-ब-तर था और वह दर्द से चीख रही थी। मैं उसकी तकलीफ़ बर्दाश्त नहीं कर पायी। मुझसे यह सब देखा नहीं जा रहा था। मैं बार-बार दूर जाती थी और फिर वापस लौट आती थी। न तो मुझसे उसे छोड़ते बनता था और न उस दृश्य को देखकर मैं चक्कर और उबकाई से अपने को बचा ही पाती थी। मैंने उसके गीले बालों को पीछे बाँधना चाहा लेकिन एक दूसरी औरत ने मुझे ऐसा करने से रोक दिया और कहा कि इससे बच्चा उसके गर्भ में बँधा रह जायेगा और गर्भपात में और भी ज़्यादा देर होगी। लगभग एक घंटे बाद तीन महीने का भ्रूण दिखायी दिया और उसे डार्मिटरी के एक कोने में फेंक दिया गया जहाँ वह तब तक पड़ा रहा जब तक उसे बाहर फेंकने के लिए मेहतरानी को बुला नहीं लिया गया। अलमोनी के शरीर में तेल की मालिश की गयी और कम्बलों से ढककर उसे आराम करने के लिए तथा इस सारी दुर्दशा के आतंक से छूटकर सामान्य स्थिति में आने के लिए छोड़ दिया गया। जब तक डॉक्टर पहुँचा सारा काम हो चुका था।

उस दिन दोपहर बाद तीन बजे हम सभी डार्मिटरी में थीं। तेज़ हवा के झोंके दरवाजे की टूटी खिड़कियों से टकरा रहे थे और सलाखों पर लटक रहे फटे-पुराने बोरों से होकर रेत के झोंके अन्दर भरते जा रहे थे। डार्मिटरी में चारों तरफ़ रेत भर गयी थी। प्रकाश की माँ दर्ज़ी के अंदाज़ में बैठी हुई थी—उसका अपंग पैर उस गंदी रज़ाई पर बड़े बेतुके ढंग से फैला हुआ था जिसे वह इधर-उधर से जुटाये गये कम्बल के टुकड़ों और गाँठ लगे धागों की मदद से सिल रही थी। उसके बग़ल में अपनी छाती नंगी खोले बिरसी पालथी मारकर बैठी थी और अपने फटे-पुराने ब्लाउज़ में से जुएँ निकाल रही थी। थोड़ा नीचे दुलाली और कोरमी सोयी हुई थीं—उनके चेहरों पर रेत जमी पड़ी थी और उनके पैरों तथा जेल से मिली मोटे कपड़े की साड़ी पर असंख्य मक्खियाँ भिनभिना रही थीं तथा सफ़ेद साड़ी पर काले रंग की चित्तियाँ छोड़ती जा रही थीं। डार्मिटरी के मध्य में बुधनी अपने कूल्हों का टेक लगाकर बैठी थी और उसके सामने कोयले की अँगीठी थी जिसे उसने तेल के एक पुराने टिन में बनाया था। वह हवा से उसे बचा रही थी ताकि

शाम के लिए उस पर कुछ चपातियाँ बना ले। उसके माथे पर और गर्दन पर से पसीना बह रहा था जिससे उसके नीले ब्लाउज़ का रंग गाढ़ा नीला हो रहा था। कुछ बच्चे खिलौनों से खेल रहे थे जो उन्होंने मिट्टी से बनाकर धूप में सुखा लिये थे—उन्होंने छोटे-छोटे बर्तन, गुड़िया और जानवर बनाये थे। बूढ़ी गुरुवाड़ी यानी मेटिन अपनी चादर के अन्दर खर्राटे ले रही थी जबकि ड्यूटी पर तैनात वॉर्डर लकड़ी के तख्त पर लेटकर रोज की तरह मालिश का मज़ा ले रही थी। बुधनी की सास बशीरन 'दादी' खाँसी का एक ताज़ा दौरा पड़ने के बाद हाँफ रही थी। उम्र और मेहनत के कारण उसका शरीर सूख गया था और चेहरा कमज़ोर लग रहा था। सावित्री भी आराम कर रही थी, वह बहुत चिंतित और घबरायी हुई थी—आज लगातार तीसरे दिन उसके मुँह से खून के थक्के गिरे थे। मेरी बग़ल में एक नौजवान क़ैदी शांति बैठी थी। क़ैदियों में एक 'वफ़ादार' से उसकी दोस्ती हो गयी थी और वह भंडार-घर से शांति के लिए कपड़े और धागे ला देता। शांति अपने उसी दोस्त क़ैदी के लिए स्कार्फ़ सिल रही थी। सत्या उसकी क़सीदाकारी को देख रही थी—वह १२ वर्ष की थी और बहुत ऊब तथा अकेलापन महसूस करती थी। मैं शांति द्वारा बनाये लिहाफ़ पर पसर गयी। सत्या ने मेरे सर के नीचे एक तकिया लगा दिया था और मैं लेटे-लेटे आयरलैंड के बारे में एक पैम्फलेट पढ़ रही थी जो किसी तरह सेंसर वालों की रुकावट को तोड़कर मेरे पास तक पहुँच गया था—बाहर की दुनिया से कटी मैं इस मामूली-सी खुराक में निमग्न थी। प्रकाश मेरे पाँव के पास बैठकर तेल लेकर मालिश कर रहा था और बड़ों की नकल उतारते हुए मेरे पैर की उँगलियों को चटखा रहा था। मेरी बायीं ओर अलमोनी बेचैन हालत में पड़ी थी और कराह रही थी। थकान और तेल से उसके बाल गीले तथा उलझे हुए थे। राधामोनी उसकी हथेलियों और कलाई को धीरे-धीरे मल रही थी ताकि उसके पतले और ठंडे शरीर को कुछ गर्मी मिल सके—उसका शरीर ठंडा पड़ गया था जबकि हम सब गर्मी और सूखेपन से परेशान थीं। नीचे बिछे उसके पतले कम्बलों से बदबू आ रही थी। समूची डार्मिटरी का माहौल धूल से भारी हो रहा था और चारों तरफ सरसों तथा नारियल के तेल, पसीना, पेशाब और खाना पकाने की गंध भरी हुई थी।

हम लोग उस दिन असाधारण रूप से शांत थे। शायद अलमोनी के दर्द को देखकर उदास थे। यहाँ तक कि बच्चे भी न तो दौड़ रहे थे और न उस समय खुशी में चीख रहे थे, जब लगता था कि हवा उनको लेकर उड़ जायेगी। उन गर्म दुपहरियों में हमारे अन्दर स्वतंत्रता का अजीब बोध होता। हम जानती थीं कि इस तपती हुई दुपहरी में किसी वॉर्डर की इधर आने की हिम्मत नहीं पड़ेगी और हम सारी मर्यादा को ताक पर रखकर घुटनों तक साड़ी को उठाये आराम से लेटी रहती थीं। लगभग ४ बजे क़ैदी नवयुवतियाँ अपने बालों में कंघी करना शुरू करतीं और तरह-तरह से अपने बाल बनातीं, माँगों में सिंदूर भरतीं, आँखों में काजल लगातीं और साड़ी को हाथ से मल-मलकर ठीक करतीं फिर दिन का मुख्य कार्यक्रम शुरू होता जब धुंधलके से कुछ पहले शाम की दाल और सब्ज़ी तथा मरीज़ों के लिए दवा की कुछ टिकियाँ लेकर पुरुष क़ैदी हमारे अहाते में प्रवेश करते।

अचानक फाटक के बाहर की घंटी ज़ोर-ज़ोर से बजने लगी। महिला वॉर्डर अपनी नंगी छातियों को छिपाने की कोशिश में साड़ी को अपने चारों तरफ़ लपेटती हुई और सर पर आँचल रखती हुई तेज़ी से उठ बैठी। उसके प्रिय मनुआ ने बूढ़ी

गुरुवाड़ी को झिझोड़ते हुए जगाया। उनींदी हालत में ही मेटिन नंगे पाँव जलते हुए रेत को पार करती हुई फाटक तक यह देखने दौड़ पड़ी कि कौनसे ज़रूरी संदेश ने हमारी शांति में खलल डाल दिया।

"मेरी टाइलर को जमशेदपुर जाना है।"

"क्या, अभी?"

"हाँ, फ़ौरन, उसे कहो जल्दी तैयार हो जाये।"

गुरुवाड़ी दौड़ी-दौड़ी मुझसे बताने आयी। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयी। दोपहर में जो वॉर्डर ड्यूटी पर आयी थी, उसने तो मुझसे बताया था कि हमारे साथ जमशेदपुर तक जाने के लिए कोई पुलिस दस्ता ही उपलब्ध नहीं है। अब मुझे पन्द्रह मिनट के अन्दर ही तैयार हो जाना था। मेरे सामान को फिर जल्दी-जल्दी बाँधा गया। शांति ने मेरे बालों में कंघी कर दी और दुलाली तथा कोरमी ने खाकी रंग के मेरे थैलों को रस्सी में बाँध दिया। बुधनी अपने शाम के खाने के लिए बनायी चपातियाँ लेकर दौड़ी-दौड़ी आयी। चपातियों को अल्यूमीनियम की एक प्लेट में रखते हुए उसने मेरे सामने बढ़ा दिया।

"दीदी, तुम इसे खा लो। तुम्हें भूख लगी होगी।"

"फिर तुम्हें भूखा रहना पड़ेगा।"

"नहीं दीदी, मेरे पास अभी और है। तुम इसे ज़रूर खा लो—बड़ा लम्बा सफ़र है।"

मनुआ थोड़ी-सी चीनी तलाशने लगी जिसे उसने गाढ़े समय के लिए बचाकर कहीं रख छोड़ा था। उसने घड़े से ठंडा पानी निकालकर एक बर्तन में डाला और चीनी घोलने लगी, फिर मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए बोली—

"दीदी यह शरबत पी लो। बहुत गर्मी है और जीप में तुम्हें प्यास लग जायेगी।"

बच्चे मुझे घेरकर खड़े हो गए थे—वे मेरी साड़ी को छू रहे थे और सहला रहे थे और अपनी चिपचिपी छोटी उँगलियों से मेरा हाथ दबा रहे थे।

"मौसी, तुम कब वापस आओगी?"

"बस, बहुत जल्दी। तुम देखते नहीं वे हरदम मुझे ले जाते हैं और वापस लाते हैं। मुझे पक्का पता है कि मेरा मुक़दमा अभी नहीं शुरू होगा और मैं फिर तुम लोगों के पास वापस जा जाऊँगी।"

लेकिन यह मेरी अंतिम मुलाक़ात थी। आज मैं उनसे हमेशा के लिए विदा ले रही थी।

किसी तरह भंडार-घर में हरी को पता चल गया था कि मैं जा रही हूँ। वॉर्डर से कुछ पूछने के बहाने वह फाटक तक आया और तेज़ी से घंटी बजाने लगा। डार्मिटरी के भीतर से भी हम लकड़ी के टुकड़ों से बने फाटक के पार उसका धूल भरा चेहरा पहचान गयीं। सभी जानती थीं कि वह मुझे विदा देने आया था। मैं अकेले फाटक तक गयी।

"दीदी, मैंने सुना है तुम जा रही हो?"

"हाँ, मैं फिर जा रही हूँ। जाने की दरअसल कोई तुक नहीं है लेकिन मैं सोचती हूँ कि मुझे चले ही जाना चाहिए। मैं इस भीषण गर्मी में खुली जीप में मर जाऊँगी। ऐसा लगता है कि सरकार अभी भी मुझे मार डालना चाहती है। लेकिन हमारे अंदर हर तरह की मुसीबतें बरदाश्त करने की क्षमता होनी चाहिए—क्यों? बेशक, मैं जाने से इनकार कर सकती थी। यह एक और फालतू

यात्रा है।"

"नहीं दीदी, तुम्हें जाना ही चाहिए—कम से कम दूसरों के लिए ही सही। यदि तुम नहीं जाओगी तो मुक़दमे में और भी देर हो सकती है। दूसरों की भलाई के लिए क़ुरबानी तो देनी ही पड़ती है।"

बेशक, वह इसे जानता था तभी तो वह जेल में पड़ा था।

उस दिन मैंने हरी, दुलाली, कोरमी और अपनी सारी प्रिय सहेलियों तथा बच्चों से विदा ली—मुझे पक्का यक़ीन था कि मैं जल्दी ही लौट आऊँगी। मैं नहीं जानती थी कि दो महीने के अन्दर ही मैं इंग्लैण्ड पहुँच जाऊँगी और वे महज़ कुछ विचारों, यादों और मेरे सोते-जागते स्वप्नों के रूप में ही मेरे साथ रह पायेंगे।
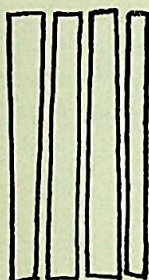
लंदन का टिकट

बीना और मैं एक-दूसरे को आश्चर्य में डाल देने वाली योजनाएँ बनाती रहती थीं। मैं खासतौर से उससे मिलने की आस लगाये थी। मैंने अपने हिस्से का राशन बेच-कर उसके लिए एक गज़ कपड़ा ले लिया था और ब्लाउज़ तैयार कर दिया था। लेउनी ने बगीचे से तोड़कर मुझे कुछ मिर्चें, लहसुन और धनियाँ की पत्तियाँ दे दी थीं ताकि मैं उसे बीना तक पहुँचा दूँ। बीना कभी चावल के साथ परोसे जाने वाली दाल और सब्ज़ी नहीं खाती थी। उसे थोड़ा-सा नमक और एक-दो मिर्चें या थोड़ी-सी चटनी की ज़रूरत पड़ती थी और उसी से वह अपना काम चला लेती थी।

मेरे न रहने पर उसने मिट्टी का एक खूबसूरत चूल्हा बना लिया था। मेरी कोठरी के पीछे वाले अहाते में कभी कोयले की राख फेंकी जाती थी और बीना ने वहाँ की मिट्टी खोद-खोदकर कोयले के ढेर सारे छोटे टुकड़े इकट्ठे कर लिये थे। उन टुकड़ों को मिट्टी में गूँधकर उसने कई गोलियाँ बना ली थीं और उन्हें धूप में सुखा लिया था जिससे वे बहुत अच्छे ईंधन का काम करने लगे थे। लकड़ी और टीन के पुराने टुकड़ों से उसने रसोईघर में काम आने वाली कुछ ज़रूरी चीज़ें, मसलन एक छननी, नूडल बनाने के लिए एक बोर्ड और चम्मच आदि तैयार कर ली थीं। उसने रोज़ाना सुबह मिलने वाली मटर में हमेशा पाये जाने वाले गेहूँ और जौ के दाने भी जमा कर लिये थे। महिला वॉर्ड में रखी चक्की पर उन्हें पीस-कर अब वह सेर-दो सेर आटा तैयार कर सकती थी। इस चक्की पर औरतें जेल-कर्मचारियों के लिए आटा और मसाला पीसा करती थीं। बीना की यह सारी तैयारियाँ मेरे लिए थीं। वह कुछ देहाती व्यंजन बनाना चाहती थी ताकि रोज़ मिलने वाले जेल के खाने से किसी दिन छुट्टी मिले।

उसकी साधन-सम्पन्नता से मैं हमेशा हैरान हो जाती थी। यदि कभी किसी चीज़ की मैं माँग करती तो वह फ़ौरन कोई जवाब नहीं देती। कभी-कभी तो वह

कई-कई दिन तक उस विषय पर कोई बात भी नहीं करती और फिर अचानक मेरे सामने वह चीज़ लाकर रख देती जिसकी मुझे ज़रूरत थी। इस प्रकार धीरे-धीरे हमने कीलों और खूंटियों का इन्तज़ाम कर लिया ताकि चूहों से बचाव के लिए हम अपना सामान इन पर टाँग सकें। अपने छोटे-से बगीचे में चिड़ियों को डराने के लिए भी हमने एक उपाय ढूँढ़ निकाला और इसी तरह ढेर सारे सामान हमने इकट्ठा कर लिए। मेरी कोठरी के ऊपर एक कोटर में गौरैयों ने घोंसले बनाये थे जिनमें से प्राय: कुछ तिनके और धागे के छोटे-छोटे टुकड़े गिरते रहते थे। बीना इन सबको एक जगह इकट्ठा कर रही थी और एक दिन उसने इन्हीं सामानों से तैयार की गयी खूबसूरत और मजबूत अलगनी मुझे दी ताकि मैं अपने कपड़े सुखा सकूँ। हम लोग इतने नज़दीक रहती थीं फिर भी मैं कभी यह जान ही न सकी कि बीना को यह सारी चीज़ें कहाँ से मिल जाती हैं। लेकिन इसमें कोई बहुत बड़ा रहस्य नहीं था। दरअसल वह हमेशा चौकन्नी रहती थी और ऐसी किसी भी चीज़ को बर्बाद नहीं होने देती थी जिसका कोई इस्तेमाल किया जा सकता है। बचपन से ही उसे अपनी योग्यता और निपुणता पर निर्भर रहने का अभ्यास हो चुका था और इसीलिए ये सारी बातें उसके लिए बड़ी स्वाभाविक थीं।

१५ मई बृहस्पतिवार का दिन भी आ गया। अदालत जाने के ख़याल से ही मुझे दहशत होने लगी और मैं सोचने लगी कि हर बार की तरह पुलिस की दम-घोंट गाड़ी में बैठकर एक लम्बे इन्तज़ार में समय गुज़ारना पड़ेगा। यह मई का महीना था और मौसम में गर्मी तथा नमी अपनी चरम सीमा पर थी। हमने बार-बार विरोध किया था कि अदालत में जाने से पहले इन्तज़ार करने के लिए हमें पीने के पानी तथा शौचालय आदि की सुविधाओं से युक्त हवादार कमरा दिया जाए। हमारे इस विरोध पर जज ने ध्यान दिया था पर उसने जो आदेश जारी किये थे उन पर पुलिस ने कभी अमल नहीं किया और हमें पहले ही की तरह उसी भीड़ भरी गाड़ी में बैठकर इन्तज़ार करना पड़ रहा था। मेरे साथ हमेशा एक महिला वॉर्डर को सम्बद्ध कर दिया जाता था और उसे हिदायत दी जाती थी कि वह मुझे एक मिनट के लिए भी छोड़कर न जाये। हम दोनों ड्राइवर की सीट की बग़ल में एक-दूसरे से सटकर बैठी रहतीं, हमारी साड़ियाँ हमारे गीले बदन से चिपकी होतीं और पर्याप्त हवा न होने तथा सामने के शीशे पर सूरज की तेज़ किरणों के पड़ने से हमारे सिर में भयंकर दर्द होने लगता। हम न तो अपने पैर फैला सकती थीं और न पीने के लिए पानी पा सकती थीं। प्यास लगने पर गाड़ी के आसपास टहलते पुलिस के जवानों से बार-बार अनुरोध करना पड़ता और उन्हें समझाना पड़ता लेकिन जो लोग गाड़ी के पीछे वाले हिस्से में थे उनकी और भी बुरी हालत थी।

अदालत में हमारी पेशी के समय तीन विभिन्न पुलिस दलों के संतरी हमारी निगरानी के लिए तैनात रहते। इनमें काली टोपी वाले सशस्त्र रक्षा दल, हरी टोपी वाले मिलिटरी पुलिस और लाल टोपी वाले नियमित पुलिस के जवान हुआ करते थे। पेशी की इस सारी कार्यवाही से हमें जितनी ऊब होती थी उतनी ही ऊब इन्हें भी होती थी लेकिन ये लोग कम-से-कम पेड़ों के नीचे खुली हवा में खड़े होकर या अपनी राइफलों पर आगे की तरफ़ झुककर और एक-दूसरे के साथ बिना किसी सिलसिले की बातचीत करके अपना समय तो बिता सकते थे। कभी-कभी वे उन दर्शकों को भगाने के लिए चीख पड़ते जो उत्सुकतावश हमारी गाड़ी के क़रीब आ जाते थे। जेल कर्मचारियों की ही तरह वे अपनी सिलवट पड़ी वर्दियों को सँवारने

के लिए रंग-बिरंगे रूमालों और स्कार्फों को गले के गिर्द बाँधे रहते। कुछ की कमर पर बेल्ट होती और कुछ अपनी कमीज़ों को पेंट के बाहर निकालकर आराम से टहलते होते। इनमें से सबकी दाढ़ी के बाल बढ़े होते थे और सिर के बाल बिखरे होते थे।

उस दिन एक बड़ी उत्साहजनक घटना हुई। जज ने आदेश दिया था कि हमें अब जमशेदपुर में ही रहना पड़ेगा क्योंकि सारे गवाहों को बुलाया जा रहा है और मुक़दमे के शुरू होने में अब कोई देर नहीं है। मैं यह सोचकर खुश हो गयी कि आखिरकार कहीं रहने के लिए मुझे स्थायी तौर पर आदेश मिला। अब मैं अपनी किताबें और ज़रूरी कागज़ात छाँट सकूँगी, खुद के पढ़ने का तथा बीना की पढ़ाई में मदद पहुँचाने का कार्यक्रम तैयार कर सकूँगी। अदालत से वापस आने पर हम अपनी कोठरी को अधिक-से-अधिक आकर्षक बनाने में जुट गये। बीना ने किसी तरह एक वॉर्डर से कोठरी की सफ़ेदी के लिए सामान इकट्ठा कर लिया था और अगले दिन सवेरे ही हमने अपनी कोठरी के बाहरी और भीतरी हिस्से की पुताई की। मेरे मामले से सम्बद्ध वाणिज्य दूत ने कृपा करके मेरे लिए प्लास्टिक के विविध प्रकार के कुछ थैले ला दिये थे ताकि मैं अपनी पुस्तकें और कपड़े उनमें सुरक्षित रख सकूँ। हालाँकि उन थैलों पर 'मदर केयर' और 'सेल फ़्रिजेज़' जैसे असंगत शब्द छपे थे फिर भी सफेद दीवारों पर उनका टँगा होना बहुत सुन्दर लग रहा था। मुझे इस बात पर खुद आश्चर्य हो रहा था कि मेरे अन्दर मुक़दमा शुरू होने की सम्भावना से ज़्यादा दिलचस्पी कमरे को और आसपास के वातावरण को आकर्षक बनाने में हो गयी थी।

दो दिनों बाद दोपहर का खाना खाने के कुछ ही देर पश्चात मुझे ऑफ़िस में बुलाया गया। बहुधा इस समय अधिकांश लोग आराम करते रहते थे और किसी के आराम में खलल नहीं डाला जाता था। दोपहर की गर्मी से बचने के लिए मैंने अपनी साड़ी खोलकर टाँग दी थी और ऑफ़िस का बुलावा सुनते ही मैं जल्दी से साड़ी पहनकर बाहर निकली और मुझे सीधे सुपरिंटेंडेंट के पास ले जाया गया। उसका चेहरा देखकर ही मैं समझ गयी कि कहीं कुछ गड़बड़ है। उसने टेली-फोन की तरफ़ इशारा करते हुए कहा कि कलकत्ता से उप-उच्चायोग ने अभी-अभी फोन पर यह खबर दी है कि बृहस्पतिवार १५ मई को मेरी माँ की मृत्यु हो गयी। हालाँकि यह खबर मेरे लिए एक बेहद गम्भीर सदमे की तरह थी फिर भी अपने इन पाँच वर्षों के जेल-जीवन में मैं शायद लगातार इस तरह की खबर का अपने अवचेतन में इन्तज़ार कर रही थी। मेरी माँ काफ़ी दिनों से हृदय रोग से ग्रस्त थीं और मुझे बहुधा हैरानी होती थी कि यह सारा तनाव वह कैसे झेल रही होंगी। आखिर वह क्षण आ ही गया जिसकी मुझे आशंका थी। मैं वापस सीधी अपनी कोठरी में गयी — मैं नहीं चाहती थी कि जेल के अधिकारियों के सामने मेरी आँखों से आँसू निकलें।

फाटक के अन्दर पहुँचते ही मैंने देखा कि बीना मेरी ओर चली आ रही है और उसके चेहरे पर एक कौतूहल था कि मुझे ऑफ़िस में क्यों बुलाया गया था। मैंने उससे सारी बातें बतानी चाहीं लेकिन अब मुझसे अपने आँसू रोके नहीं गये। एक-दो दिन पहले ही मुझे अपनी माँ का पत्र मिला था जिसमें उसने मेरे लिए चिन्ता ज़ाहिर की थी, अपने स्वास्थ्य के बारे में कुछ भी नहीं लिखा था और मुझे उसने ढाढस दिया था कि मैं न तो घबराऊँ और न निराश होऊँ। अब वह दुनिया से जा चुकी है। बीना ने मेरा हाथ अपने हाथों में ले लिया और धीरे-धीरे पानी के

नल की तरफ़ बढ़ी। नल के नीचे कांक्रीट के बने चबूतरे पर उसने मुझे बैठा दिया और लगातार एक के बाद एक मग पानी मेरे तपते सिर पर वह डालती रही। काफ़ी देर तक वह खामोश रही फिर बड़े शान्त स्वर में उसने मुझे दिलासा दिया और मुझे बहादुरी से काम लेने तथा उन लाखों-करोड़ों लोगों के बारे में सोचने को कहा जो हमसे भी ज़्यादा तकलीफें रोज उठा रहे हैं। मैं अकेली नहीं थी और मुझे यह याद रखना चाहिए कि जो दूसरों की मदद करना चाहते हैं उनके लिए न तो गर्मी है और न सर्दी, उनका कोई व्यक्तिगत सुख या दुःख नहीं है। उनके लिए कोई चीज़ कठिन या आसान नहीं है। हर परिस्थिति को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार करना होगा।

इस प्रारम्भिक सदमे के बाद मैं एक पागलपन की धारा में बह गयी और उन सारे लोगों से नफ़रत करने लगी जिन्होंने मेरे निर्दोष और इस मामले से पूरी तरह असम्बद्ध माँ-बाप को इतना दुःख और यातना दी है। मैं बहुत निराश और असहाय महसूस करने लगी। मैं अपने पिता के बारे में सोचती रही जिनके सिर पर माँ की मौत और मेरी गिरफ़्तारी— दोनों का बोझ आ पड़ा है। लेकिन मैं उन्हें एक तार भी नहीं भेज सकती थी। मैं चाहती थी कि किसी तरह मैं उनसे और अपनी बहन से महज़ एक घंटे के लिए मिल पाती ताकि उन्हें थोड़ा-बहुत दिलासा दे पाती। मैं जानती थी कि वे यह सोचकर बहुत चिंतित होंगे कि माँ की मृत्यु का समाचार पाकर मुझे कैसा लगा होगा। मैंने उन्हें जो पत्र लिखा वह हर बार की तरह स्थानीय पुलिस ऑफ़िस में पन्द्रह दिन तक पड़ा रहा। सबसे बुरी बात तो यह हुई कि मुझे वाणिज्य दूत से मिलने की इजाजत नहीं दी गयी जबकि वह खुद ही यहाँ आया था। ऐसा पहली बार हुआ था। मैं यह जानने के लिए बहुत व्यग्र थी कि मेरी माँ की मृत्यु कैसे हुई और मैं चाहती थी कि वाणिज्य दूत के ज़रिये अपने पिता के पास एक संदेश भेजूँ लेकिन मुझे इसके लिए इन्तज़ार करना पड़ा। ऐसा लगता था कि मेरी ज़िन्दगी को नियंत्रित करने वाले नौकरशाहों के अन्दर कोई भी घटना मानवीयता नहीं उत्पन्न कर सकती है। सौभाग्य से मेरे पास बीना तथा अन्य औरतें थीं जिनसे मैं अपने मन की बात कह पाती।

हज़ारीबाग और जमशेदपुर—इन दोनों जगहों में कीड़े-मकोड़ों से हमेशा हमारे सामने समस्याएँ पैदा होती रहीं। मैंने ग़ौर किया कि मेरी बिल्ली के मर जाने के बाद चूहों की संख्या में ज़बर्दस्त वृद्धि हुई है। रात में कभी-कभी मैं महसूस करती कि मेरे नंगे शरीर पर से कोई चूहा गुज़र रहा है और मेरी नींद खुल जाती। एक बार मुझे लगा कि कोई चूहा मेरी एड़ी को कुतर रहा है। अगली रात एक टीन गिरने की आवाज़ से मेरी नींद खुल गयी। चार चूहे किसी तरह शीरे की मेरी टीन में घुस गये थे और शीरे से तरबतर हो गये थे। अपने दाँतों से उन्होंने जिस चीज़ को पकड़ लिया उसे बर्बाद करके छोड़ा। न जाने कितनी बार मुझे विशालकाय चूहों के बारे में भयानक सपने दिखायी दिये। जब भी मैंने अधिकारियों से चूहेदानी की माँग की, वे इस तरह हँस पड़े जैसे मैं थोड़ी पागल हो गयी हूँ। अगली बार जून के मध्य में जब ब्रिटिश वाणिज्य दूत मुझसे मिलने आया तो मैंने उससे अनुरोध किया कि वह मेरे अपने पैसे से बाज़ार से एक चूहेदानी ला दे। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने शायद पहले कभी किसी क़ैदी से इतनी आश्चर्यजनक चीज़ की माँग नहीं सुनी थी। फिर भी उसने यह माँग पूरी कर दी। एक सप्ताह के अन्दर मैंने मोटे-मोटे १७ चूहों को पकड़ा और इनके अलावा भी

अभी ढेर सारे बच रहे थे।

लगभग इन्हीं दिनों जेल को नया रूप देने के लिए कुछ निर्माण कार्य शुरू हुए। हमारी कोठरियों में बिजली के बल्ब लगा दिये गये। सुपरिंटेंडेंट को अपनी इस उपलब्धि पर बहुत गर्व था। उसकी समझ में यह बात नहीं आ सकी कि इससे क़ैदियों की हालत में कोई सुधार नहीं होने जा रहा है। कुछ ही दिन पहले जेलर ने जेल मंत्री के नाम लिखे गये पत्र में बताया था कि वह बूढ़े और बीमार क़ैदियों को बाहर बरामदे में सोने की इजाज़त दे रहा है ताकि वॉर्ड के दमघोंट वातावरण से वे बच सकें। अब बल्ब लगने से हालत पहले से भी ज़्यादा ख़राब हो गयी। इन बल्बों को जलाने और बुझाने के लिए एक सेन्ट्रल स्विच थी और इसे सारी रात जलते छोड़ दिया जाता था। हमारी आँखों पर बल्ब की तेज़ रोशनी पड़ती रहती जिससे गर्मी भरी रातें और भी ज़्यादा गर्म लगतीं। ताला बंद होने के बाद अँधेरे में हमें जो शांति मिलती थी उससे अब हम वंचित हो गये थे।

हमारा मुक़दमा अब २३ जून को शुरू होने वाला था। इससे कुछ ही दिन पहले समाचारपत्रों में भोजपुर ज़िले के एक गाँव हृदियाबाद के बारे में एक लम्बी रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी जिसमें बताया गया था कि किस तरह ज़मींदारों और उनके आदमियों के एक गुट ने नक्सलवादियों को आश्रय देने के कथित आरोप में गाँव के हरिजनों से बदला लेने के लिए समूचे गांव को ही जला दिया। १४ साल के एक लड़के को इन ज़मींदारों ने टुकड़े-टुकड़े करके काट दिया क्योंकि वे इस लड़के के पिता को—जो एक नक्सलवादी था—नहीं पकड़ सके थे। हरिजनों पर हमला करने वाले ज़मींदारों में से एक भी व्यक्ति गिरफ़्तार नहीं किया गया हालांकि उनमें से अनेक के नाम अखबारों में प्रकाशित हुए थे।

मुक़दमे की शुरुआत ने सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। इतने दिनों से जिस महान घड़ी का हम इंतज़ार कर रहे थे वह इतने भद्दे और उबाऊ तरीक़े से आयी जिसकी हमने कभी कल्पना नहीं की थी। बड़े अनाटकीय ढंग से मुक़दमे की कार्यवाही चली और शुरू से ही यह स्पष्ट हो गया था कि फ़ैसले तक पहुँचने में बहुत लम्बा समय लगेगा। एक-एक गवाह के सामने आने पर जज ने बड़ी मेहनत के साथ बिना शार्टहैंड की मदद लिये उसके बयानों को दर्ज किया। अभियोग-पक्ष ने लगभग एक सौ गवाहों की सूची पेश की थी जिनमें से एक या दो को छोड़कर शेष सभी पुलिस के लोग थे। इन सारे गवाहों को अलग-अलग मुक़दमों में बुलाया जाना था।

अदालत का समूचा दृश्य मुझे ऐसा लग रहा था जैसे काफ़्का के उपन्यासों में वर्णित कोई दृश्य हो : अदालत के पिछले हिस्से में मैं खड़ी थी और कुछ भी नहीं सुन पा रही थी कि काले रंग का चोग़ा पहनकर जज की कुर्सी पर बैठे व्यक्ति और काले गाउनों तथा कलफ़ लगे सफ़ेद कालरों से सज्जित पेंग्विन-जैसी मुद्रा में खड़े वकीलों के बीच क्या बातचीत हो रही थी। मेरी इस शिकायत पर कि कुछ भी सुनायी नहीं पड़ रहा है, अभियोग-पक्ष ने आरोप लगाया कि मैं जान-बूझकर बाधा डाल रही हूँ और मुक़दमे की कार्यवाही में देर कराना चाहती हूँ। विरोध करने का कोई फ़ायदा नहीं था, कठघरे के सामने चल रही बातचीत अब भी कानों तक नहीं पहुँच रही थी और मेरे सह-प्रतिवादियों में से कुछ ही ऐसे थे जो इस अवसर के लिए बिछाये गये कारपेट पर जहाँ तक सम्भव हो सकता था आगे बैठकर सारी बातें सुनने की कोशिश में अपने कान लगाये हुए थे।

मैं दीवार से पीठ टिकाकर खड़ी हो गयी और समूची कार्यवाही को इस तरह

देखने लगी जैसे कोई बाहर से देख रहा हो जबकि उस समय प्रेत-जैसी आकृतियाँ मेरे भाग्य का फ़ैसला कर रही थीं। उनके होंठ हिल रहे थे लेकिन आवाज़ें एक धीमी गूँज की तरह तैर रही थीं। जिन सह-अभियुक्तों ने अब तक उनकी बातचीत सुनने की कोशिश छोड़ दी थी, वे अब शरारती स्कूली बच्चों की तरह से हरकतें कर रहे थे। कोई मटर के दाने चबा रहा था तो कोई सामने बैठे लड़के को छेड़ रहा था, कोई जम्हाइयाँ ले रहा था तो कोई अखबार में डूबा हुआ था। एक लड़का अपने बग़ल के साथी की जेब से रूमाल निकालकर छिपा रहा था। यह विश्वास करना भी मुश्किल था कि ज़िन्दगी और मौत जैसे मामलों पर फ़ैसला लिया जा रहा है। अगर अदालत के चारों तरफ़ हथियारबन्द संतरी नहीं होते और मेरी नाक से एक गज़ के फासले पर संगीन नहीं दिखायी देती तो सचमुच हम उसी वातावरण में पड़े रहते जैसे स्कूल के दिनों में अपनी कक्षा में बैठे हों। अब तक मैं हर जगह हथियारों से लैस पुलिस को देखने की इतनी अभ्यस्त हो गयी थी कि अब मैं उनकी मौजूदगी पर ध्यान ही नहीं देती थी। लेकिन हर रोज़ जैसे ही सुनवाई समाप्त होती और अभी अदालत छोड़कर जज महोदय गये भी नहीं होते कि तभी संतरियों का झुंड रस्सियों और हथकड़ियों के साथ हमें घेर लेता ताकि बाँधकर वापस जेल ले जा सके।

भारत के एक दूसरे हिस्से में हाल की इन अदालती कार्रवाइयों के बड़े दूरगामी नतीजे निकल रहे थे। हमारा मुक़दमा शुरू होने से कुछ ही दिन पहले इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को चुनाव में भ्रष्ट तरीक़े अपनाने के लिए दोषी ठहराया था। श्रीमती गांधी के खिलाफ जिस दिन फ़ैसला आया उसी दिन गुजरात के चुनाव में कांग्रेस पार्टी की हार की भी खबरें आयीं और सरकार के लिए यह एक बहुत जबर्दस्त आघात था। विपक्षी दलों ने श्रीमती गांधी से इस्तीफ़े की माँग की। लेकिन इस माँग के पालन की बात तो दूर रही, २६ जून १९७५ को श्रीमती गांधी ने देश में आपात-स्थिति की घोषणा कर दी और विपक्षी दलों के नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की व्यापक गिरफ़्तारी शुरू कर दी। २६ जून की रात में, जिस समय यह समाचार मुझ तक पहुँचा भी नहीं था, जेल के बाहर भारी गाड़ियों की आवाज़ें सुनायी दीं। जैसा कि मैं आशा करती थी, मुझे लगा कि शायद अमलेन्दु, कल्पना तथा अन्य लोगों को कलकत्ता से वापस लाया गया है। दूसरे दिन सवेरे मुझे पता चला कि दरअसल रात में ट्रकों में लादकर सरकार के नये विरोधियों को लाया गया था। उस दिन आखिरी बार समाचारपत्रों ने गिरफ़्तारियों का विवरण प्रकाशित किया। सेंसरशिप क़ानूनों को लागू करने के बाद इन अखबारों में केवल मंत्रियों के भाषण और प्रधानमंत्री की खुशामद से भरे समाचार ही स्थान पाते।

कुछ ही दिनों बाद नक्सलवादियों के वॉर्ड में भोर में अचानक तलाशी का काम शुरू हुआ। उस दिन सवेरे मुझसे कहा गया कि मैं अपने साथ अदालत में कलम या समाचारपत्र लेकर न जाऊँ। मैंने कहा कि पुलिस की गाड़ी में बैठकर मैं समय बिताने के लिए वर्ग पहेलियाँ भरती रहती हूँ और इसलिए कलम और अखबार मेरे लिए जरूरी है। अंततः जेलर मेरी बात मान गया। हालाँकि यह घटनाएँ नि.संदेह रूप से आपात-स्थिति का परिणाम थीं फिर भी हमें यही लगा कि उस मनमाने और धाँधली भरे तरीक़े को और तेज कर दिया गया है जिसके हम काफ़ी पहले से अभ्यस्त हो चुके हैं। देश में प्रतिपक्ष से निपटने के लिए श्रीमती गांधी द्वारा आपात-स्थिति की घोषणा करना इस बात का संकेत था कि

उनकी सरकार कितनी कमज़ोर हो गयी थी। सबसे ज़्यादा हैरानी मुझे तब हुई जब सोवियत संघ ने—जिससे दुनिया की पीड़ित जनता की खुशहाली के लिए काम करने की अपेक्षा की जाती है—पहले के अनेक अवसरों की तरह इस बार भी भारत सरकार की कार्रवाई को पूरा-पूरा समर्थन दिया।

१९७३ में जब मुझे पहली बार जमशेदपुर लाया गया था, उसी समय से मैंने बार-बार अधिकारियों से शिकायत की थी कि मेरी कोठरी की छत टपक रही थी। यदि थोड़ी भी बारिश हो जाती तो पानी छत के रास्ते कोठरी में घुसने लगता। मेरी इस शिकायत को दर्ज कर लिया गया था और सार्वजनिक कल्याण विभाग के छोटे-बड़े अफ़सरों ने कम-से-कम एक दर्जन बार आकर निरीक्षण किया और इस बात की जाँच की कि इस सिलसिले में क्या किया जा सकता था। आखिरकार हमने खुद ही गोबर, तारकोल और सीमेंट मिलाकर अपनी छत की मरम्मत की। अब तीन मज़दूर और एक मिस्त्री मरम्मत के लिए प्रकट हुए हैं। दुर्भाग्यवश, मैं यह नहीं कह सकती कि श्रीमती गांधी की आपात-स्थिति से प्रभावित होकर छत की मरम्मत का काम इतनी तेज़ी से शुरू हो गया क्योंकि इस काम के लिए जो तारीख नियत की गयी थी उसे बीते पहले ही कई सप्ताह हो चुके हैं। वॉर्डर ने मज़दूरों में दो औरतों के होने पर आपत्ति की लेकिन मिस्त्री का कहना था कि काम के लिए उनकी मौजूदगी ज़रूरी है—रेत और सीमेंट ढोने का काम कोई मर्द नहीं करेगा। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ कि इन दोनों औरतों की आय पुरुषों की तुलना में कम थी जबकि इनसे कठिन-से-कठिन काम लिया जाता था।

मुक़दमा शुरू होने के एक सप्ताह बाद हमारे साथ के एक अभियुक्त को टाइफाइड हो गया। कुछ दिनों के लिए मुक़दमे की कार्यवाही रोक देनी पड़ी और इस बात का इंतज़ार किया जाने लगा कि वह अपनी ग़ैर-मौजूदगी में सुनवायी जारी रखने की सहमति पर हस्ताक्षर करने योग्य हो जाये। एक दूसरे लड़के ने दो दिनों के पैरोल के लिए अर्ज़ी दी ताकि लीवर कैंसर से मर रहे अपने वृद्ध पिता को देखने के लिए वह जा सके। उसकी अर्ज़ी नामंजूर कर दी गयी। एक या दो दिन बाद उसे एक तार मिला जिसमें बताया गया था कि उसके पिता की मृत्यु हो गयी।

शुक्रवार ४ जुलाई, १९७५ को जैसे ही मैंने अदालत में प्रवेश किया मेरे वकील ने इशारे से मुझे बुलाया। उसने मुझसे फुसफुसाहट भरे स्वर में कहा कि मेरे विरुद्ध जो मुक़दमा है उसे वापस ले लिया जायेगा। मैंने पूछा, "कौन-सा मुक़दमा?" मैं यह सोच रही थी कि शायद अभियोग-पक्ष ने पिकरिड एसिड वाले आरोप पर कोई कार्यवाही न करने का फ़ैसला किया हो क्योंकि पहले की तारीख पर इस आरोप के सिलसिले में कुछ बहस हो गयी थी। मेरे वकील मिश्रा महोदय ने यह कहकर मुझे आश्चर्य में डाल दिया कि सारे मुक़दमे वापस ले लिए जायेंगे। अभियोग-पक्ष मेरे विरुद्ध लगाये गये सभी आरोपों को वापस लेने के सिलसिले में एक याचिका तैयार कर रहा था। घटनाक्रमों के इस नये विकास के कारण अगले दिन तक के लिए सुनवाई का काम स्थगित कर दिया गया।

दूसरे दिन उक्त याचिका बाक़ायदा पेश की गयी। अभियोग-पक्ष ने 'अनौचित्य के आधार पर' मुक़दमा वापस लेने का फ़ैसला किया था। दिल्ली से इस अवसर के लिए खास तौर से आये वकील द्वारा तैयार किये गए मसविदे की अजीबोग़रीब भाषा पर मैंने तब तक ध्यान भी नहीं दिया जब तक उच्चायोग के

सचिव ने मेरा ध्यान उधर आकृष्ट नहीं किया। इस शब्दावली में फ़ौरन ही संशोधन कर लिया गया। अब मुझे 'औचित्य के आधार पर' छोड़ा जा रहा था क्योंकि मुझे और अधिक दिनों तक जेल में रखना राष्ट्रमण्डल के दो सदस्य देशों भारत और ब्रिटेन के अच्छे सम्बन्धों के लिए हानिकारक था। जज ने टिप्पणी की कि यह आधार बहुत कमज़ोर है लेकिन साक्ष्य के दौरान अब तक उन्हें कुछ ऐसा नहीं दिखायी दिया, जिससे वह इस याचिका पर आपत्ति करते। उन्होंने मुझे गवाह के कठघरे में बुलाया और कहा, "तुम्हें सारे आरोपों से बरी किया जाता है। जाओ और खुश रहो।"

"जब तक इतने सारे लोग बिना मुक़दमा चलाये जेल में पड़े रहेंगे तब तक यह कैसे सम्भव होगा कि कोई खुश रहे।" मैंने कहा। और मेरी तरफ़ देखकर जज महोदय मुसकरा पड़े। शायद उन्होंने मेरी बात समझ ली थी।

मुझे बधाई देने के लिए वकीलों, अभियुक्तों और अखबारों के संवाददाताओं की भीड़ इकट्ठी हो गयी। पुलिस ने उन्हें रोकने की कोशिश की। पत्रकारों ने जानना चाहा कि मेरी तात्कालिक योजनाएँ क्या हैं। "अभी तक ये सिलसिला खत्म नहीं हुआ है।" मैंने कहा। वे कुछ समझ नहीं पाये लेकिन मैं जानती थी कि इतने वर्षों तक हिरासत में रखने के बाद भी भारत सरकार, मुझे खास तौर से देश के इतिहास के इस नाजुक मोड़ पर, बिना शर्त रिहा नहीं करेगी। मेरा सोचना सही था। मैं हर बार की तरह एक अन्य अभियुक्त के साथ जेल वापस पहुँची। फाटक पर पहुँचने पर मुझे पुलिस की गाड़ी से उतरने से रोक दिया गया। मेरे बग़ल में बैठी महिला वॉर्डर चुपचाप रो रही थी। उसे खास तौर से मेरी निगरानी के लिए नियुक्त किया गया था और वह जानती थी कि उसकी नौकरी अब खत्म हो चुकी है—अब उसे अपने चारों बच्चों का पालन-पोषण करने तथा उनकी शिक्षा के लिए किसी और काम की तलाश करनी पड़ेगी। उसकी ज़बर्दस्त आर्थिक असुरक्षा तथा भविष्य के बारे में उसके भय ने मेरी रिहाई के सुखद अवसर को दुखांत कर दिया। दरअसल तीन वर्षों तक नौकरी करने के बाद उसे स्थायी कर्मचारी का पद मिल जाना चाहिए था लेकिन तीन वर्ष की अवधि से दो दिन पहले उसकी नौकरी समाप्त कर दी जाती थी और उसे फिर से नियुक्त किया जाता था। इन दो दिनों की सेवा में अंतराल माना जाता था। इस तरीक़े का इस्तेमाल करके हर तीन साल पर एक व्यक्ति को स्थायी बनाने से रोका जा सकता था। इसका अर्थ यह होता था कि सम्बद्ध कर्मचारी को क्षण भर के नोटिस पर नौकरी से निकाला जा सकता था और बदले में कोई मुआवज़ा नहीं देना पड़ता।

जैसे ही अन्य क़ैदी जेल के अन्दर पहुँच गये अचानक टोपी लगाये और भारी बूट पहने एक पुलिस अफ़सर सामने आया और उसने मुझे देश से निर्वासित किये जाने का सरकारी आदेश दिया। मुझे निर्देश दिया गया था कि सात दिनों के अन्दर मैं भारत से चली जाऊँ। इस आदेश पर १७ जून की तारीख थी और भारत सरकार के संयुक्त सचिव के हस्ताक्षर थे। मुझे वापस जेल में जाने का आदेश दिया गया। सिद्धांत रूप में मैं अब 'स्वतंत्र' थी लेकिन पुलिस ने सारी आवश्यक तैयारियाँ कर ली थीं। मेरी गिरफ़्तारी के लिए दूसरा वारंट जारी किया जा चुका था जिसमें आरोप लगाया गया था कि मैं वैध दस्तावेज़ों के बिना सफ़र कर रही थी। पुलिस ने मेरी गिरफ़्तारी के बाद मेरा पासपोर्ट ज़ब्त कर

लिया था और वह अभी भी उसी के अधिकार में था।

स्थानीय पुलिस सुपरिंटेंडेंट से मिलने के बाद ब्रिटिश वाणिज्य दूत मेरे पास आया। अगले दिन के लिए विमान से इंग्लैण्ड जाने का टिकट मेरे लिए सुरक्षित करा दिया गया था। दूसरे दिन सवेरे मुझे भोर में ही कलकत्ता के लिए रवाना हो जाना था। वाणिज्य दूत कलकत्ता तक मेरा साथ देने के लिए आया था।

अपनी कोठरी में वापस आकर मैंने बीना से बातचीत करने की कोशिश की जबकि अन्य तमाम औरतें हमें चारों ओर से घेरकर बैठ गयीं। मैं उससे कह रही थी कि उसे अपनी पढ़ाई जारी रखनी चाहिए, कभी निराश नहीं होना चाहिए और चाहे मैं कितनी भी दूर क्यों न रहूँ मैं उसे कभी नहीं भूलूँगी। मैंने उससे कहा कि मैं ख़त लिखूँगी और कौन जाने भविष्य में हम फिर कभी मिल ही जायें।

उस रात मैं सो नहीं सकी। मैं यह सोचकर चिंतित थी कि यदि मेरे नोटों और डायरियों को ज़ब्त कर लिया गया तो मैं क्या करूँगी। मैं अपने दिमाग़ पर ज़ोर देने लगी कि इन्हें किस तरह देश से बाहर ले जाऊँ। ये इतनी मोटी थीं कि इन्हें छिपाया नहीं जा सकता था। अंततः मेरे दिमाग़ में एक योजना आयी। मैंने बड़ी सावधानी के साथ समूची डायरी में 'भारतीय' शब्द को काटकर 'ब्रिटिश' शब्द लिखा ताकि जहाँ-जहाँ सरकार पर गम्भीर टिप्पणी की थी उसे देखते समय कोई भी पाठक यह समझे कि मैंने यह टिप्पणी ब्रिटिश सरकार के लिए की है। जहाँ-जहाँ मैंने श्रीमती गांधी का नाम लिखा था उसे काटकर 'मिसेज़ थैचर' या 'द क्वीन' लिखा और हर पुस्तक के भीतर कवर पर धार्मिक पुस्तकों का शीर्षक लिख दिया। मैंने सोचा कि यदि स्पेशल ब्रांच के लोग कड़ा रुख़ अख़्तियार करने का फ़ैसला करेंगे तो मेरी यह चाल काम कर जायेगी।

अगले दिन सवेरे चार बजे के लगभग महिला वॉर्डर ने मुझे बुलाया। अँधेरा अभी फैला हुआ था और मैं अभी तक नहा भी नहीं सकी थी कि तभी वह मेरे पास आयी और उसने मुझे जल्दी से तैयार हो जाने को कहा—कोई मुझसे मिलना चाहता था। एक दिन पहले एक मित्र वॉर्डर ने मुझसे वायदा किया था कि वह चुपके से मेरी मुलाक़ात एक व्यक्ति से करायेगा। मेरे सामने मेरे मामले से सम्बद्ध एक साथी खड़ा था जिसकी आँखें अभी भी नींद से अधमुँदी थीं और जिसे स्पेशल ब्रांच के आदमियों के ड्यूटी से आने से पहले ही जगाकर मेरे पास पहुँचा दिया गया था। मैं चाहती थी कि अपने अन्य साथियों से मैं आख़िरी बार सब बता दूँ जो मेरे साथ हुआ है, क्योंकि मुझे पता था कि यहाँ के अधिकारी उनसे कभी नहीं बतायेंगे। मैं उन्हें सारी बातें साफ़-साफ़ बताना चाहती थी। उस व्यक्ति से जब मैंने यह बताया कि मुझे यहाँ से निर्वासित किया जा रहा है तो वह मेरी तरफ़ देखकर मुसकरा पड़ा और धीरे से बोला, "हम लोगों को मत भूलना।" फिर वह मुड़ पड़ा और थोड़ी दूर जाकर मेरी तरफ देखते हुए उसने मुट्ठी उठाकर अभिवादन किया और कहा, "हम फिर मिलेंगे, निश्चय ही, हम फिर मिलेंगे।"

कुछ ही मिनट के अन्दर मुझे बीना, हीरा, गुलाबी बुढ़िया तथा दूसरों से विदा लेनी पड़ी। बच्चे आगे बढ़ आये ताकि मैं उन्हें चूम लूँ। हीरा का लड़का राजू 'दीदी, दीदी' की रट लगाये हुए था। वॉर्डर ने मुझसे जल्दी करने को कहा। मैं बीना से बस इतना ही कह सकी, "घबराना मत, अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना।" हम दोनों लगातार रो रही थीं!

उस दिन मुझे विदा देने के लिए सुपरिंटेंडेंट और जेलर जल्दी उठ गये थे। उन्होंने पास की दुकान से मेरे लिए चाय मँगायी। पुलिस का रक्षक दस्ता पहले ही पहुँच गया था और ब्रिटिश वाणिज्य दूत मेरा इंतजार कर रहे थे। जेल के बाहर खड़े ट्रक में हम लोग साथ-साथ बैठे। न तो किसी ने मेरी तलाशी लेने की कोशिश की और न कोई पूछताछ ही की। रेलवे स्टेशन पर बिहार के गृह-मंत्रालय के संयुक्त सचिव पुलिस सुपरिंटेंडेंट के साथ मेरा इंतज़ार कर रहे थे। वे लोग हमें लेकर एक्सप्रेस ट्रेन में लगे फ़र्स्ट क्लास एयर कंडीशंड डिब्बे की तरफ़ बढ़े। जल्दी ही हमारी ट्रेन बंगाल के गाँव से होती हुई अपनी तेज़ रफ़्तार से कलकत्ता की तरफ़ दौड़ रही थी। खेतों में लगभग एक फ़ुट ऊँची धान की फ़सल खड़ी थीं। केले के पेड़ और बाँस के झुरमुट, तालाब, मिट्टी के बने मकान और गाँव के दृश्य तथा कभी-कभी क़ोई छोटा सा स्टेशन इस तरह गुज़र रहा था जैसे किसी फ़िल्म का दृश्य हो। मैं सोच रही थी कि मैंने इस देश को कितना प्यार दिया है। हम कॉफ़ी पीते रहे और बातचीत करते रहे। मेरे साथ तैनात की गयी महिला पुलिस में से एक के पास एक छोटी बच्ची थी जो दुबली-पतली और कमज़ोर दिख रही थी। उसने बड़े कौतूहल के साथ मेरी ओर देखा और वह यह समझ नहीं पा रही थी कि किसी 'मेम साहब' के साथ हथियारबंद पुलिस संतरी क्यों तैनात किये गये हैं।

हावड़ा स्टेशन पर मुझे कलकत्ता पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया। वाणिज्य दूत ने मुझसे हवाई अड्डे पर मिलने का वायदा किया। सादा वर्दी में तैनात तीन पुलिस अधिकारियों के साथ मुझे कलकत्ता के भीड़ भरे रास्तों से एक कार में ले जाया गया। अमलेन्दु और कल्पना मुझसे कुछ ही मीलों की दूरी पर थे। क्या उन्हें पता होगा कि मैं अब यहाँ से जा रही हूँ? मैंने ब्रिटिश अधिकारी से अनुरोध किया था कि रवाना होने से पहले अमलेन्दु तथा उसके परिवार से मिलने की मुझे अनुमति दी जाये लेकिन उसकी पक्की धारणा थी कि मुझे इस काम की अनुमति नहीं मिलेगी। मैंने पुलिस से कहा कि मेरी घड़ी और पैसे वापस कर दिये जायें जिन्हें मेरी गिरफ़्तारी के समय अमलेन्दु के घर से ज़ब्त किया गया था। उन्होंने केवल मेरा पासपोर्ट लौटाया और कहा कि अन्य चीज़ों के बारे में मुझे उन्हें 'पहले ही' बताना चाहिए था। वे इस तरह कह रहे थे जैसे उन्होंने मुझे पहले से कोई चेतावनी दी थी कि अचानक ही मुझे भारत छोड़ना पड़ेगा।

हवाई अड्डे पर मुझे बड़ी भद्रता के साथ अत्यंत विशिष्ट जनों के लिए बने एयर कंडीशंड वी० आई० पी० कक्ष में ले जाया गया। मुझे यहाँ आराम करना था। मेरा विमान लगभग आधी रात में यहाँ से रवाना होने वाला था और अभी दोपहर भी नहीं हुई थी। पुलिस अधिकारी यह कहते हुए चला गया कि मैं अब क़ैदी नहीं हूँ बल्कि सरकार की अतिथि हूँ—एक ऐसी अतिथि, जिसे चारों तरफ़ से घेरकर रखा गया हो। उन्होंने दरवाजे को बाहर से बंद कर रखा था। कुछ मिनट के बाद दरवाजे पर किसी ने दस्तक दी। वह अधिकारी फिर वापस आ गया था। उसने जानना चाहा कि यदि उनमें से दो लोग मेरे साथ उस कमरे में बैठ रहें तो मुझे कोई आपत्ति होगी। मैंने इस पर एतराज प्रकट किया। उनकी मौजूदगी में न तो मैं लेट सकूँगी और न सो पाऊँगी। फिर वे चले गये। दस मिनट बाद हवाई अड्डे पर तैनात एक पुलिस महिला मेरे पास आयी। उसकी उम्र बीस वर्ष से ज़्यादा नहीं थी। उसके चेहरे पर घबराहट और मुसकान दोनों थीं और मेरे कक्ष में पड़े सोफ़े पर वह बैठ गयी। मैं अलसायी-सी पड़ी रही लेकिन

वातानुकूलित कक्ष की ठंड से अभ्यस्त न होने के कारण सिहरन के बीच जगी रही। एक वेटर मेरे लिए मुर्ग और आइसक्रीम लेकर आया था। वे बार-बार मुझसे और खाने का अनुरोध करते रहे। मैं जो भी चाहती पा सकती थी। सादी वर्दी में एक व्यक्ति बीच-बीच में मेरे सामने आ जाता और बड़े दोस्ताना लहजे में बातचीत करता। क्या मैं उसके रिश्तेदारों से इंग्लैण्ड में सम्पर्क कर सकूँगी ? क्या मैं लंदन में मिस्टर दास को जानती हूँ ?

बाद में दिन में उप-उच्चायुक्त स्वयं ही मुझसे मिलने आये। वह बहुत खुश-मिजाज़ और सौम्य थे लेकिन बार-बार एक ही बात पर ज़ोर देते थे, मैं भारत वापस लौटने के बारे में फिर कभी न सोचूँ। क्या मैं ऐसा सोचती थी ? उच्चायुक्त को आशा थी कि मैं ऐसा नहीं सोच रही होऊँगी। पाँच वर्षों की अवधि एक लम्बी अवधि थी। कई उच्च पुलिस अधिकारी इस बीच आये। एक ने मुझे सलाह दी कि भारत वापस आने के लिए मैं एक-दो साल इंतज़ार करूँ तब तक अमलेन्दु भी रिहा हो जायेगा।

बाद में उस शाम रायटर के स्थानीय संवाददाता तथा एक अन्य पत्रकार मेरा इंटरव्यू लेने के लिए हवाई अड्डे पहुँचे। मैं इसके लिए बिलकुल ही उत्सुक नहीं थी लेकिन उन लोगों ने शायद सादी वर्दी वाले व्यक्ति के साथ कोई ऐसा 'इंतज़ाम' कर लिया था कि वह कुछ मिनट के लिए उनसे मिलने की खातिर मुझसे अनुरोध करने लगा। वे दोनों लारेल और हार्डी की तरह दिख रहे थे। फिर उन्होंने सवाल पूछने शुरू किये। क्या पाँच वर्षों तक जेल में रहने के बाद मैंने अपनी राजनीतिक विचारधारा बदल दी है ? नहीं। क्या मैं अभी भी हिंसात्मक क्रांति का समर्थन नहीं करती हूँ ? मैंने कहा कि वे अपने शब्द मेरे मुँह में न डालें। इस इंटरव्यू से कुछ खास खुश हुए बग़ैर वे चले गये। मैं यह कभी नहीं जान सकी कि वे इन सारे क्रियाकलापों की गोपनीयता को कैसे भेदकर दमदम हवाई अड्डे पर मेरी मौजूदगी के बारे में जान सके।

वाणिज्य दूत अपने साथ एक सूटकेस लेकर वापस पहुँचा। मेरे सारे सामान अभी भी उन खाकी थैलों में थे। उसने सहृदयतावश मेरी बहन के बच्चों के लिए कुछ मिठाइयाँ ला दी थीं और साथ में एक जोड़े जूते तथा टेनिस सॉक्स भी मँगा लिये थे। मुझे लगा कि इंग्लैण्ड की जलवायु के लिए मेरी सैंडिलें शायद ही उपयुक्त हों। हालाँकि यह जुलाई का महीना था फिर भी इन सैंडिलों से काम नहीं चलता। मैंने अपनी साड़ी बदल ली और मेरे पास जो एकमात्र यूरोपीय पोशाक थी---खुद का बनाया हुआ कुर्ता और एक पुरानी पैंट -- पहन ली। वाणिज्य दूत की पत्नी अपने साथ फूलों का एक बड़ा-सा गुलदस्ता लेकर आयी थीं। वे मेरे बारे में शायद मुझसे भी ज़्यादा खुश थीं। मैं अमलेन्दु और उसके परिवार के बारे में सोचती रही और मन-ही-मन यह कल्पना कर रही थी कि शायद अभी कोई चमत्कार हो जाये और उनको पता चले कि मैं जा रही हूँ और वह मुझे विदा देने आ जायें। मैंने फिर भोजन किया लेकिन इस बार केवल सब्ज़ी से काम चलाया। अब मैं और मांस नहीं खा सकती थी।

आखिरकार रात के पौने बारह बज गये। वे मुझे वी॰ आई॰ पी॰ कक्ष के बाहर निकलने वाले रास्ते से ले गये। बिहार के संयुक्त गृह सचिव वहाँ फिर मौजूद थे और उनके साथ वे तमाम लोग थे जो दिन के समय मुझसे मिलने आये थे। वे एक क़तार में खड़े थे और बड़ी भद्रता के साथ मुसकराते हुए मुझसे हाथ मिला रहे थे और मेरे लिए शुभकामनाएँ व्यक्त कर रहे थे। सादी वर्दी वाले

अधिकारियों में से दो लोग मेरे साथ विमान तक पहुँचे और वे वहाँ तब तक खड़े रहे जब तक मैं सुरक्षित ढंग से, अपने हाथ में टिकट और पासपोर्ट दबाये सीढ़ियों से होती हुई, विमान के अन्दर नहीं पहुँच गयी।

यह ब्रिटिश एयरवेज़ का विमान था। यहाँ मुझे भद्रता का एक और संकेत मिला। एक परिचारक मेरे कान के पास फुसफुसाहट भरे स्वर में बोल रहा था—क्या मैं जहाज़ में ब्रांडी लेना पसन्द करूँगी? नहीं, बिलकुल नहीं। मैंने वर्षों से अलकोहल को छुआ तक नहीं और मैं नहीं समझती कि मैं उसे पी सकूँगी। रात के साढ़े बारह बज चुके हैं। वे अब भुने हुए मुर्गे और चौकीगोभी (ब्रसेल्स स्प्राउट्स) खाने के लिए दे रहे थे। इन चीज़ों के बारे में सोचकर ही मुझे उबकाई आने लगी। क्या अन्य यात्री मेरे बारे में जानते हैं? क्या वे सब मेरी ओर देख रहे हैं? नहीं। १४ घंटे की यात्रा बेहद उबाऊ थी। मेरी बग़ल की सीट पर बैठा बंगाली डॉक्टर अपने बीमार पिता को इलाज के लिए इंग्लैण्ड ले जा रहा था। उसने मुझसे मेरी भारत-यात्रा के बारे में पूछना शुरू किया। मैं भारत में कितने दिनों तक रही? कहाँ रही? क्या कर रही थी? मैंने कहा कि यदि मैं उससे सारी बातें सही-सही बता दूँ तो वह हैरान हो जायेगा। क्या मैं मिस टाइलर हूँ? उसने यहाँ तक अनुमान लगा लिया। अखबारों में उसने मेरे बारे में पढ़ रखा था।

परिचारिकाएँ लगातार हमें संतरे का रस, यूरोपीय उपाहार, कॉफ़ी आदि देती रहीं। मैं इन सारी चीज़ों का आधा हिस्सा भी नहीं खा सकी। मेरे साथ के यात्री लगातार इन चीज़ों को चबाते जा रहे थे। इसके अलावा और किया भी क्या जा सकता था। एक परिचारिका ने करमुक्त पेय और सिगरेट आदि बेचना शुरू किया। मेरे पास वाणिज्य दूत के दिए पाँच पौण्ड थे। मैं इनसे कुछ खरीद सकती थी। मैं इसमें से कुछ पैसे हीथ्रो हवाई अड्डे से अपने घर तक के किराये के लिए बचा सकती थी। सम्भव है कि मुझे लेने कोई हवाई अड्डे पर न आया हो तब इन पैसों की ज़रूरत पड़ेगी। घबराहट में मैंने दो सौ सिगरेटों और आधी बोतल ह्विस्की की माँग की। पाँच वर्षों से भी अधिक समय से मैंने सीधे कोई खरीदारी नहीं की थी।

अमलेन्दु क्या कर रहा था? क्या उसे यह सब पता होगा? क्या लंदन के लोग जान रहे होंगे कि मैं आ रही हूँ?

हीथ्रो हवाई अड्डा। परिचारिका ने मुझसे तब तक जहाज़ में रुकने का अनुरोध किया जब तक अन्य यात्री न चले जायें। दस मिनट बाद मैं अपने पिता के सामने थी और वे मुझे ज़ोर से दबाये सुबकियाँ ले रहे थे। मेरी बहन की गोद में दो साल की बच्ची थी जिसे मैं पहली बार देख रही थी। हम लोग पासपोर्ट जाँच करने वाले कक्ष की ओर बढ़े। अखबारों के फोटोग्राफरों ने हमें चारों ओर से घेर लिया था और उनके कैमरे हमारी तस्वीरें लेने में जुटे थे। मैं केवल यही सोच पाती थी कि वे कितनी फ़िल्में बर्बाद कर रहे हैं। वे तरह-तरह से तस्वीरें लेना चाहते थे। 'प्लीज़, मुस्कराइये। बच्चे का हाथ पकड़ लें। ज़रा अपने पिता से लिपट जाइये। अपनी बहन के कंधे पर हाथ रखिये।' आदि-आदि।

सबको यह देखकर हैरानी हुई कि मेरा पासपोर्ट अभी भी ठीक-ठाक था। क्या मुझे टीके लगाये गये? हाँ, कई बार लेकिन मेरे पास कोई प्रमाण पत्र नहीं था। एक और टीका लगा। इसके बाद नीचे एक कमरे में हम लोग गये जहाँ

संवाददाता-सम्मेलन की तैयारी थी। चारों तरफ़ बत्तियाँ जल रही थीं। मेरी दोस्त जिल अपनी चार-वर्षीय बच्ची के साथ जिसके बारे में मैंने उसके पत्रों में पढ़ा था, और रुथ मुझसे लिपट गयी थी। मेरी चचेरी बहन और उसके पति मौजूद थे। किसी ने मेरे गले के गिर्द एक माइक्रोफ़ोन लटका दिया था और फिर सवालों का सिलसिला शुरू हो गया। मेरे पिता ने मुझे बुलाकर कहा कि विदेश विभाग के एक अधिकारी ने सलाह दी है कि मैं संक्षेप में ही अपनी बातें कहूँ।

अन्त में हम रवाना हुए। मेरे पिता मुझे अपनी कार की तरफ़ लेकर बढ़े। शीघ्र ही हम कार्नवल जाने वाली सड़क पर बढ़ रहे थे। सेब, केले और पनीर—जो भी मैं चाहूँ यहाँ उपलब्ध थे। लेकिन खिड़की के रास्ते इंगलैण्ड के उन हरे खेतों को देखते समय, जिनके बारे में मैं अक्सर याद किया करती थी, मुझे ऐसा लगता था जैसे यह पीलेपन और उदासी से भरे हों।

अपनी रिहाई के आठ महीने बाद आज जब मैं यह लिखने बैठी हूँ, उस समय भी वह मुक़दमा खिंचता जा रहा है जो २३ जून १९७५ को शुरू हुआ था और जिसमें मेरे बाद के सह-प्रतिवादियों को भाग लेना पड़ा। अमलेन्दु, कल्पना, वीना और हज़ारों तथाकथित नक्सलवादियों को आज भी जेलों में बन्द रखा गया है और उनकी हालत निरपवाद रूप से मुझसे बुरी है। कुछ को पिछले सात वर्षों से बिना मुक़दमा चलाये बन्द रखा गया है। २६ जून १९७५ को आपात-स्थिति की घोषणा के बाद हज़ारों की संख्या में अन्य लोगों को गिरफ़्तार किया गया है या नज़रबंद रखा गया है। जेल में जिन ग़रीब किसानों और मज़दूरों के साथ मैंने अपना समय बिताया, उस तरह के असंख्य मज़दूर-किसान आज भी अनिश्चित काल के लिए जेलों में पड़े हुए हैं और इस इंतज़ार में हैं कि उनका मामला हल हो। बच्चे जेलों में बड़े हो रहे हैं।

अमलेन्दु का अपराध, कल्पना का अपराध, उन सब लोगों का अपराध है जो भारत की उन असह्य स्थितियों को देखकर अविचलित और खामोश नहीं रह सकते जिनमें भीख का बर्तन लेकर कोई बच्चा धूल में रेंगता रहा हो, जहाँ किसी ग़रीब लड़की को किसी अमीर की रँगरेलियों के लिए बेचा जा रहा हो, जहाँ किसी बूढ़ी औरत को अपने गाँव के गणमान्य लोगों की सामाजिक स्वीकृति ख़रीदने के लिए आधा पेट खाकर ज़िन्दगी गुज़ारनी पड़ रही हो, जहाँ असंख्य लोग मात्र उपेक्षा के कारण मौत के शिकार हो जाते हों, जहाँ एक तरफ़ तो मुनाफ़े के लिए अनाज की ज़खीरेबाज़ी हो रही हो और दूसरी तरफ़ लोग भूख से मर रहे हों, जहाँ मेहनतकशों की मेहनत का फल लुटेरे और सूदखोर हड़प कर जाते हों जहाँ ईमानदार आदमी कष्ट उठा रहा हो और दुष्ट निरन्तर समृद्ध हो रहा हो, जहाँ नियमतः अन्याय और अपवाद के रूप में न्याय मिलता हो और जहाँ लाखों लोग अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्ति खर्च करके अपने को किसी तरह बस ज़िन्दा रख पाने में समर्थ हो रहे हों। यह उन लोगों का अपराध है जो यह महसूस करते हैं कि इस व्यवस्था में आमूल परिवर्तन ज़रूरी है ताकि भारतीय जनता की कुशलता, रचनात्मकता, निपुणता और अध्यवसाय को पूरा विस्तार दिया जा सके ताकि वे एक नये ढंग के भारत का, सही अर्थों में आज़ाद और एक बेहतर भारत का निर्माण कर सकें।

वर्तमान सरकार या किसी भी दूसरी सरकार द्वारा वर्तमान अन्याय और अमानवीयता के खिलाफ़ सक्रिय रहने वालों या आवाज़ उठाने वालों को चुप

कराने के लिए अनिश्चित काल तक हिरासत में रखना, नागरिक अधिकारों से वंचित कर देना, डराना, धमकाना और तरह-तरह की यंत्रणा देना या इस तरह का कोई भी नकारात्मक क़दम उठाना भारत की समस्याओं के समाधान में कभी मददगार नहीं साबित होगा। जब तक कोई सरकार समूची जनता के प्रति तिरस्कार का रवैया अख्तियार करती रहेगी, जब तक वह दमन और इस तरह की निर्दयता के सहारे शासन करती रहेगी, जिसमें उसे ऐसी बहसों में समय लगाना पड़े कि अमुक व्यक्ति भुखमरी से मरा है या अपोषण से और इन दोनों के बीच उसे फ़र्क़ करना पड़े, तब तक भारत की यंत्रणा जारी रहेगी।

◆◆◆